हिन्दी
2

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

संवैधानिक सुधार एवं आर्थिक समस्याएं

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड–2

संवैधानिक सुधार एवं आर्थिक समस्याएं

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल, 1891 परिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाड्.मय

खंड 2

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय
खंड 2
संवैधानिक सुधार एवं आर्थिक समस्याएं

पहला संस्करण : 1993
दूसरा संस्करण : 1998
तीसरा संस्करण : 2011
चौथा संस्करण : 2013 (जनवरी)
पांचवां संस्करण : 2013 (फरवरी)
छठा संस्करण : 2013 (अप्रैल)
सातवां संस्करण : 2013 (जुलाई)
आठवां संस्करण : 2013 (अक्टूबर)
नौवां संस्करण : 2014 (फरवरी)
दसवां संस्करण : 2016
ग्यारवां संस्करण : 2019 (जून)
वारहवां संस्करण 2019 (जून)
तेरहवां संस्करण : 2020 (अगस्त)

ISBN :978-93-5109-151-6

© सर्वाधिकार सुरक्षित

आवरण परिकल्पना : डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.

पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

ISBN (सेट) : **978-93-5109-149-3**

रियायत नीति के अनुसार सामान्य (पेपरबैक) 1 सेट (खंड 1–40) का मूल्यः रू 1073/-
रियायत नीति (Discount Policy) संलग्न है।

प्रकाशकः
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार
15 जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट :http://drambedkarwritings.gov.in
Email-Id :cwbadaf17@gmail.com

मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा. लिमि., W-30 ओखला, फेज–2, नई दिल्ली–20

परामर्श सहयोग

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री रामदास अठावले
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री कृष्णपाल गुर्जर
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री रतनलाल कटारिया
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री आर. सुब्रह्मण्यम
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार

सुश्री उपमा श्रीवास्तव
अतिरिक्त सचिव एवं सदस्य सचिव,
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

डॉ. बृजेश कुमार
संयोजक, सी.डब्ल्यू.बी.ए.
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सकंलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

प्रधान संपादक
डॉ. श्यामसिंह शशि (पी.एच.डी.)

अनुवादक तथा पुनरीक्षक
श्री रघुनाथसिंह
श्री पूरनपाल
श्री कन्हैयाला चंचरीक
श्री कृष्ण गोपाल
श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल
डॉ. मस्तराम कपूर
श्री अशोक
श्री हरीशचन्द्र पाठक
श्री नूररबी अब्बासी
श्री राजेन्द्र धस्माना

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
DR. THAAWARCHAND GEHLOT
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA

कार्यालयः 202, सी विंग, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली–110115
Office : 202, 'C' Wing, Shastri Bhawan,
New Delhi-110115
Tel. : 011-23381001, 23381390, Fax : 011-23381902
E-mail : min-sje@nic.in
दूरभाषः 011-23381001, 23381390, फैक्सः 011-23381902
ई-मेलः min-sje@nic.in

संदेश

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माता बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी, प्रकाण्ड विद्वान, सफल राजनीतिज्ञ, कानूनविद, अर्थशास्त्री और जनप्रिय नायक थे । वे शोषितों, महिलाओं और गरीबों के मुक्तिदाता थे। बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी सामाजिक न्याय के लिये संघर्ष के प्रतीक हैं । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लोकतंत्र की वकालत की । एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी का योगदान अतुलनीय है ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन-सूत्र हैं। भारतीय समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिये डॉ. अम्बेडकर जी का दृष्टिकोण और जीवन-संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है । समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिये बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने देश की जनता का आह्वान किया था ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने अस्पृश्यों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्वपूर्ण संदेश दिये, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिये अनिवार्य दस्तावेज हैं । तत्कालीन विभिन्न विषयों पर डॉ. अम्बेडकर जी का चिंतन-मनन और निष्कर्ष जितना उस समय महत्वपूर्ण था, उससे कहीं अधिक आज प्रासंगिक हो गया है। बाबासाहेब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं। समता, बंधुता और न्याय पर आधारित बाबासाहेब डॉ; भीमराव अम्बेडकर जी के स्वप्न का समाज-**"सबका साथ सबका विकास"** की अवधारणा को स्वीकार करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है, कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान द्वारा, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, **"बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांग्मय"** के खण्ड 1 से 21 तक के संस्करणों को, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के अनुयायियों और देश के आम जन-मानस की मांग को देखते हुये पुनर्मुद्रण किया जा रहा है ।

विद्वान पाठकगण इन खंडों के बारे में हमें अपने अमूल्य सुझाव से अवगत करायेंगे तो हिंदी में अनुदित इन खण्डों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

9/7/19

(डॉ. थावरचन्द गेहलोत)

बाबासाहेब अम्बेडकर के सम्पूर्ण वाङ्मय (Complete CWBA Vols.) का विमोचन
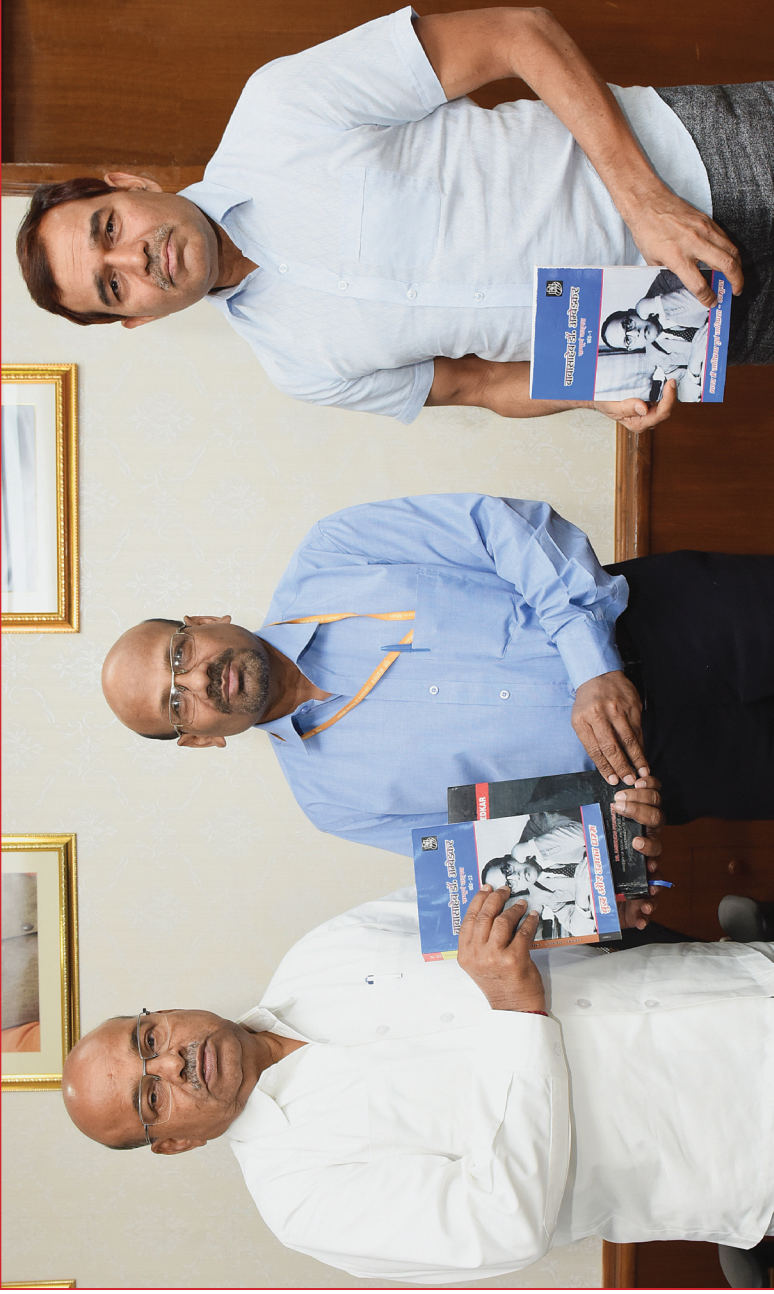
हिंदी और अंग्रेजी में CWBA / सम्पूर्ण वाङ्मय, (Complete Volumes) बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के संग्रहित कार्यों के संपूर्ण खण्ड, डॉ. थावरचंद गेहलोत, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, और अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा जारी किया गया है। साथ ही डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान और श्री सुरेन्द्र सिंह, सदस्य सचिव भी इस अवसर पर उपस्थित थे। हिंदी के खंड 22 से खंड 40 तक 2019 में पहली बार प्रकाशित हुए है।

उपमा श्रीवास्तव, आई.ए.एस.
अपर सचिव
UPMA SRIVASTAVA, IAS
Additional Secretary

भारत सरकार
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001
Government of India
Ministry of Social Justice & Empowerment
Shastri Bhawan, New Delhi-110001
Tel. : 011-23383077 Fax : 011-23383956
E-mail : as-sje@nic.in

प्राक्कथन

भारतरत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यंत समाज के आख़िरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया।

समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

मैं प्रतिष्ठान की ओर से माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सद्परामर्श एवं प्रेरणा से प्रतिष्ठान के कार्यों में अपूर्व प्रगति आई है।

उपमा श्रीवास्तव

(उपमा श्रीवास्तव)
अतिरिक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार, एवं
सदस्य सचिव

प्रस्तावना

बाबासाहेब डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर एक प्रखर व्यक्तित्व, ज्ञान के प्रतीक और भारत के सुपुत्र थे। वह एक सार्वजनिक बौद्धिक, सामाजिक क्रांतिकारी और एक विशाल क्षमता संपन्न विचारक थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के व्यावहारिक विश्लेषण के साथ–साथ अंतःविषयक दृष्टिकोणों को अपने लेखन और भाषणों के माध्य से प्रभावित किया जो बौद्धिक विषयों और भावनाओं को अभिव्यक्त एवं आंदोलित किया। उनके लेखन में वंचित वर्ग के लोगों के लिए प्रकट न्याय और मुक्ति की गहरी भावना है। उन्होंने न केवल समाज के वंचित वर्गों की स्थितियों को सुधारने के लिए अपना जीवन समर्पित किया, बल्कि समन्वय और 'सामाजिक समरसता' पर उनके विचार राष्ट्रीय प्रयास को प्रेरित करते रहे। उम्मीद है कि ये खंड उनके विचारों को समकालीन प्रासंगिकता प्रदान कर सकते हैं और वर्तमान समय के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर के पुनःपाठ की संभावनाओं को उपस्थित कर सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत के साथ–साथ विदेशों में भी जनता के बीच बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर की विचारधारा और संदेश के प्रचार–प्रसार हेतु स्थापित किया गया है। यह बहुत ख़ुशी की बात है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री के नेतृत्व में प्रतिष्ठान के शासी निकाय के एक निर्णय के परिणामस्वरूप, तथा पाठकों की लोकप्रिय माँग पर डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब अम्बेडकर के हिंदी में संपूर्ण वांग्मय (Complete CWBA Volumes) का दूसरा संस्करण पुनर्मुद्रित कर रहा है।

मैं संयोजक, अनुवादकों, पुनरीक्षकों, आदि सभी सहयोगियों, एवं डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान में अपनी सहायक, कुमारी रेनू और लेखापाल, श्री नन्दू शॉ के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी निष्ठा एवं सतत् प्रयत्न से यह कार्य संपन्न किया जा सका है।

विद्वान एवं पाठकगण इन खंडों के बारे में सुझाव से डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान को उसकी वैधानिक ई–मेल आई.डी. **cwbadaf17@gmail.com** पर अवगत कराएं ताकि, अनुदित इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान हमेशा पाठकों को रियायती कीमत पर खंड उपलब्ध कराने के लिए प्रयास करता रहा है, तदनुसार आगामी संस्करण का भी रियायत नीति (Discount Policy) के साथ बिक्री जारी रखने का निर्णय लिया गया है। अतः प्रत्येक खंड के साथ प्रतिष्ठान की छूट नीति को संलग्न कर दिया गया है। आशा है कि ये खंड पाठकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने रहेंगे।

(डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार,

15, जनपथ,
नई दिल्ली

संपादकीय

हमें हर्ष है कि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड्;मय के खंड 1 का हिन्दी तथा भारतीय भाषा जगत में व्यापक स्तर स्वागत हुआ था। इस कार्य में अनुवादकों, पुनरीक्षकों तथा संपादकों को अनेक संपादकीय एवं अन्य बाधाओं से गुजरना पड़ा। किन्तु हम समय–समय पर प्रखण्ड खंड देनें में सफल हुए।

प्रस्तुत खंड 2 (अंग्रेजी खंड 1 का उत्तरार्ध) आपके समक्ष प्रस्तुत है, जिसके विषय हैः साउथवरों कमेटी के समक्ष दिया गया साक्ष्य, संघ वनाम स्वतंत्रता, सांप्रदायिक गतिरोध और उसके समाधान के उपाय, राज्य और अल्पसंख्यक, भारत में छोटी जोतों की समस्या और उसका निवारण, श्री रसल की दृष्टि में सामाजिक निर्माण।

अनुवाद कार्य की कठिनाइयां भुक्तभोगी भली भांति जानते है। यदि एक पुस्तक के अनुवादकों की संख्या एक से अधिक हो तो पुनरीक्षक तथा संपादक को भाषाई एकरूपता लाने में और भी अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

हम कल्याण मंत्रालय तथा डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान के सभी संबंधित सहयागियों के आभारी हैं, जिन्होनें इस कार्य को यथासमय पूरा करने में हमारी सहायता की।

डॉ. श्यामसिंह शशि
प्रधान संपादक

बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व दान कर सकता है। किसी भी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण और अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का संपूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतंत्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आपमें कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है, जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है, लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथ भ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर
जातिप्रथा–उन्मूलन

विषय सूची

1

मताधिकार के बारे में साउथबरो कमेटी के समक्ष दिया गया साक्ष्य

बयान लिया गया : 27 जनवरी, 1919

सुधार कमेटी (मताधिकार) की रिपोर्ट से
*खंड **II**, 1919*

साउथबरो कमेटी के समक्ष दिया गया साक्ष्य

द राइट आनरेबिल लार्ड साउथबरो, जी.सी.बी., जी.सी.वी.ओ., जी.सी.एम.जी. की अध्यक्षता में गठित कमेटी के सदस्य :

सर फ्रैंक जी. स्लाई, के.सी.एसआई., आई.सी.एस.,

साहिबजादा आफताब अहमद खान,

द आनरेबिल बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी,

द आनरेबिल श्री एम.एन. होग,

डब्ल्यू. एम. हैली, एस्क्वायर, सी.एस.आई., सी.आई.ई., आई.सी.एस.,

द आनरेबिल श्री श्रीनिवास शास्त्री (25.1.1919 और 27.1.1919 को अनुपस्थित थे),

अन्य शामिल किए गए सदस्य :

एल.सी. क्रम्प, एस्क्वायर, आई.सी.एस.,

के. नटराजन, एस्क्वायर,
पी.सी. टैलेन्ट्स, एस्क्वायर, आई.सी.एस. (सचिव)।

साउथबरो कमेटी के समक्ष दिया गया साक्ष्य

लिखित बयान

प्रो. ए.बी. हार्ट ने कहा है, ''सरकार के सामने सबसे कठिन और बड़ा सवाल यह होता है कि व्यक्तिगत राय और पसंद की ताकत को लोक-कर्म में किस प्रकार लगाया जाए। लोक संस्थाओं की भी यही समस्या है।'' लेकिन लोकप्रिय सरकार की यह केवल आधी परिभाषा है। अतः दूसरे आधे भाग पर जोर देना भी जरूरी है। महत्व की दृष्टि से वह पहले आधे भाग से बढ़कर नहीं है, उसके बराबर तो है ही। चूंकि व्यक्तिगत क्षमताओं के प्रयोग के लिए सरकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र है, यह लोक-हित में होगा कि किसी भी व्यक्ति को सरकार की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने के अवसर से वंचित न किया जाए। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि लोकप्रिय सरकार का अर्थ केवल जनता के लिए सरकार से नहीं है, बल्कि जनता की सरकार से भी है। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मात्र विचारों को प्रतिनिधित्व देना लोकप्रिय सरकार के गठन के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको सही अर्थ में चरितार्थ करने के लिए उसमें व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व का होना भी आवश्यक है। सरकार में प्रायः विचारों का प्रतिनिधित्व तो होता है, पर व्यक्तियों का नहीं। अतः भारत में लोकप्रिय सरकार के लिए मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था करते समय मताधिकार समिति को यह ध्यान रखना है कि वह दोनों; अर्थात् विचारों के प्रतिनिधित्व और व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करे। मताधिकार तथा निर्वाचन-क्षेत्रों की जो योजना यह व्यवस्था नहीं कर पाती, वह लोकप्रिय सरकार का गठन भी नहीं कर सकती।

2. इस कार्य में अंततः तभी सफलता मिल सकेगी, जब उस समाज का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए, जिसे लोकप्रिय सरकार का रूप दिया जाना है। वास्तविक भारत का चित्रण लार्ड डफरिन ने इस प्रकार किया है:

> वह एक ऐसा जनसमूह है...जिसमें अलग-अलग प्रकार की अनेक जातियां हैं। उनके धर्म, अनुष्ठान तथा भाषाएं अलग-अलग हैं। उनमें से अनेक के बीच और भी गहरा अलगाव है। उनके पूर्वग्रह, आचार-व्यवहार के स्रोत और यहां तक कि भौतिक हित भी

अलग-अलग हैं। लेकिन संभवतः हमारे अति विशाल भारत की सर्वाधिक सुस्पष्ट विशेषता यह है कि वह दो शक्तिशाली राजनीतिक समुदायों में बंटा हुआ है और उनमें आकाश-पाताल का अंतर है। एक ओर हिन्दू हैं, जिनमें व्यापक जातिभेद हैं। दूसरी ओर मुसलमान हैं, जिनमें सामाजिक समता है। छोटी-छोटी जातियां भी हैं। उनमें से अधिकांश की संख्या लाखों में है। उनमें भी आपस में नृजातीय अथवा राजनीतिक आधार पर वैसा ही भारी अलगाव है, जैसा कि हिन्दुओं का मुसलमानों से है। उदाहरण के लिए सिखों की वृत्तियां और परंपराएं जुझारू होती हैं और उनमें धार्मिक जोश होता है। रोहिल्ले, पठान, असमी, बलूच, वनवासी योद्धा जातियां हैं, जो हमारी सीमाओं पर रहती हैं। हिमालय की गोद में पहाड़ी लोग रहते हैं। बर्मा के हमारे प्रजाजन मंगोल जाति के हैं और बौद्ध धर्म को मानते हैं। मध्य तथा दक्षिण भारत में गोंड, महार, भील तथा अन्य अनार्य लोग हैं। पारसी लोग भी हैं, जो उद्यमी होते हैं। उनके उत्पादन और वाणिज्यिक हितों में तेजी से विकास हो रहा है। लेकिन इन बहुसंख्य जातियों के मध्य हमें एक साथ सभ्यता की उन सभी विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन हो सकते हैं, जिनमें होकर मानव जाति प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक गुजरी है।

3. अंग्रेज सदा ही इस बात पर जोर देते रहे हैं कि भारत, प्रतिनिधि सरकार के योग्य नहीं है, क्योंकि इसके लोग जातियों तथा संप्रदायों में बंटे हुए हैं। पर यह बात भारतीय राजनीतिज्ञों के उन्नत वर्ग को स्वीकार नहीं है। वे कहते हैं कि यूरोप में भारत जैसे सामाजिक विभाजन हैं और उसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त तथ्य हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश में सामाजिक विभाजन यदि भारत से अधिक नहीं है, तो उसके बराबर तो है ही। भारत की भांति ही अमरीका में भी आपराधिक षड्यंत्र और विश्वास के सूत्र में बंधे लोग अथवा समूह हैं, जो जनता का शोषण करते हैं। वहां न केवल राजनीतिक उप-विभाजन हैं, अपितु औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा धार्मिक संघ भी हैं जिनके लक्ष्य तथा अभिवृत्तियां एक-दूसरे से भिन्न हैं। अलग-अलग लक्ष्यों वाली राजनीतिक पार्टियों, सामाजिक समूहों, गुटों और दलों के अलावा हम देखते हैं कि अमरीका में लोगों का स्थायी विभाजन भी है, जैसे पोल, डच, स्वीड, जर्मन, रूसी आदि। उनमें से प्रत्येक की अपनी भाषा, धार्मिक तथा नैतिक आचार संहिता और परंपराएं हैं। यदि सामाजिक विभाजन किसी देश को प्रतिनिधि सरकार के लिए आयोग्य ठहराते हैं, तो भारत की भांति वह पैमाना अमरीका पर भी लागू होना चाहिए। अतः यदि समस्त सामाजिक विभाजन के होते हुए अमरीका प्रतिनिधि सरकार की योग्यता रखता है, तो भारत क्यों नहीं रखता? अत्यंत हठी एवं दुराग्रही भारतीय राजनीतिज्ञों से पूछिए और उन्हें बताइए कि भारत के सामाजिक विभाजन भिन्न प्रकार के हैं, या फिर उनका दावा स्वीकार कर लीजिए। इन दो के अलावा तीसरा विकल्प नहीं हो सकता।

4. मेरे विचार में उनके तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि भारत के सामाजिक विभाजन राजनीतिक के लिए आवश्यक हैं। वे किस प्रकार आवश्यक होते हैं,

इस बात को समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि पहले यह समझा जाए कि वे कब आवश्यक नहीं होते। लोग सामान बातों के आधार पर समुदाय में रहते हैं। समुदाय का रूप धारण करने के लिए जो बातें अति आवश्यक हैं, वे हैं-लक्ष्य, आस्थाएं, आकांक्षाएं, ज्ञान और आपसी सद्भाव; या यदि समाजशास्त्रियों की भाषा में कहा जाए तो उनमें विचारों की समानता अवश्य होनी चाहिए। लेकिन प्रश्न यह है कि उनमें विचारों की समानता कैसे उत्पन्न हो? निश्चय ही यह एक केक के टुकड़े को बांटकर खाने वाली समानता नहीं है। दूसरों जैसी प्रवृत्ति अथवा दूसरों जैसी विचार-समता पैदा करने का अर्थ है कि उनसे संपर्क हो अथवा उनकी गतिविधि में हिस्सा लिया जाए। केवल शारीरिक निकटता से लोगों में वैचारिक समानता नहीं आ जाती और न ही एक-दूसरे से दूर हो जाने पर उनकी वैचारिक समानता समाप्त होती है। किसी समूह के साथ विचार-समता के लिए एक ही उपाय है कि समूह में रहा जाए। प्रत्येक समूह चाहता है कि वह अपनी अलग प्रकार की विचार-समता पैदा करे, लेकिन जहां राजनीतिक संघ में लाए जाने के लिए एक से अधिक समूह हों, वहां अलग-अलग विचार-समता रखने वालों के बीच संघर्ष पैदा होगा। और जब तक समूह अलग-अलग रहेंगे, संघर्ष बना ही रहेगा और वह कार्य के सामंजस्य में बाधक होगा। समूहों का यह अलगाव ही मुख्य दोष है। जहां समूहों के बीच अंतःप्रसरण होता रहता है, वहां दोष नहीं रहता, क्योंकि समूहों के बीच अंतःप्रसरण से एक बार समाजीकृत प्रवृत्तियों का पुनः समाजीकरण हो सकता है। पुराने के स्थान पर एक नई वैचारिक समानता जन्म ले लेती है और वह विभिन्न समूहों के हितों, लक्ष्यों तथा आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। सामंजस्यपूर्ण जीवन चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक, उनके लिए विचार-समता अति आवश्यक है। जैसा कि अभी-अभी बताया गया है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि कितना संपर्क, भागीदारी अथवा अंतःप्रसरण हुआ है। भारत में विभाजनों के लिए यह कसौटी अपनाकर हमें उनके बारे में कहना होगा कि वे सामंजस्यपूर्ण राजनीतिक जीवन की प्राप्ति के पथ के कांटे हैं।

5. अपनी निश्चित वैचारिक समानता के कारण जिन जनसमूहों या वर्गों में विरोध है, वे इस प्रकार हैं :

(1) हिन्दू, (2) मुसलमान, (3) ईसाई, (4) पारसी, (5) यहूदी, आदि।

हिन्दुओं को छोड़कर शेष वर्गों या विभाजनों की यह विशेषता है कि उनमें अपने भीतर से संपर्क की ऐसी पूर्ण और आजादी है कि हम उनके सदस्यों से एक-दूसरे से साथ पूर्ण विचार-साम्य बनाए रखने की आशा कर सकते हैं। लेकिन जहां तक हिन्दुओं का संबंध है, कुछ और अधिक विश्लेषण करना होगा। हिन्दुओं के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हिन्दू होने से पूर्व वे किसी जाति के सदस्य हैं। जातियां इतनी एकांतिक तथा अलग-अलग हैं कि हिन्दू गैर-हिन्दू के प्रति मुख्यतः हिन्दूपन की भावना से व्यवहार करेगा। लेकिन वह दूसरी जाति के हिन्दू के प्रति मुख्यतः जाति भावना के आधार पर व्यवहार करेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां तक दो हिन्दुओं का संबंध है, उनके बीच जातीय

विचार-समता उन दोनों के हिन्दू होने से पैदा हुई विचार-समता से अधिक बलवती है। इस प्रकार, वैचाारिक समानता वाले व्यक्तियों के बीच बाहर से तो है ही, भीतर से भी विरोध होने की संभावना रहती है। कुछ लोग तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यह विरोध तो वर्ण-व्यवस्था के समूचे ताने-बाने में व्याप्त है। लेकिन इसका अत्यधिक प्रतिवाद किया जा रहा है। संपर्क की दृष्टि से हिन्दू, जातियों के बावजूद दो प्रमुख वर्गों में बंटे हुए हैं-स्पृश्य और अस्पृश्य। स्पृश्यों के बीच पर्याप्त संपर्क है, जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जहां तक उनका संबंध है, उनकी वैचारिक समानता में विरोध होने की आशंका नहीं है। लेकिन स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों की विचार-समता में वास्तविक अंतर और विरोध है। उनके बीच अंतःसंपर्क में अस्पृश्यता सबसे बड़ी बाधा है। उनका पूर्णतः अलग-थलग होना इस बात का प्रमाण है कि उनकी वैचारिक समता के बीच गहरी खाई है।

अतः भारत के वास्तविक सामाजिक विभाजन इस प्रकार हैं :(1) स्पृश्य हिन्दू, (2) अस्पृश्य हिन्दू, (3) मुसलमान, (4) ईसाई, (5) पारसी, और (6) यहूदी।

6. अतः यदि नीति को लोकप्रिय सरकार का रूप देना है, तो नीति तंत्र तैयार करते समय इन वास्तविक विभाजनों की अनदेखी करना उचित नहीं होगा। लेकिन यदि लोकप्रिय सरकार की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि निर्वाचन-क्षेत्र तथा मताधिकार सामाजिक शक्तियों को कितने सुचारु रूप से संचारित करते हैं और कितने सुचारु रूप से वे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करते हैं, तो हमें सबसे पहले इस बात पर विचार करना होगा कि चुनाव के समय इन समूहों के बीच विद्यमान विरोध कैसा रूप धारण करेगा।

7. मतदाताओं के उपुर्यक्त वर्गों वाले किसी प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र में वही उम्मीदवार संबंधित निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि घोषित किया जाएगा, जो बहुमत प्राप्त करेगा। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसा उम्मीदवार प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं का सच्चा प्रतिनिधि है? क्या वह निर्वाचन-क्षेत्र की विचारधारा का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है? क्या वह निर्वाचन-क्षेत्र के समस्त हितों का प्रतिनिधि है? क्या यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू उम्मीदवार मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व करेगा? यहां यह याद रखना ही होगा कि उपर्युक्त विभिन्न विभाजन ऐसे हित समूह से जुड़े हुए हैं, जो गैर-धर्मनिरपेक्ष हैं या पूर्णतया धार्मिक हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि प्रत्येक विभाजन ऐसे हित समूहों से जुड़ा है, जो धर्मनिरपेक्ष अथवा भौतिक हैं। यदि ऐसा है तो धर्मनिरपेक्षता के लिए समूहों को तोड़ना होगा। भौतिक हितों की दृष्टि से मुसलमान, पारसी, हिन्दू, आदि जैसा कोई समूह नहीं है। इन समूहों में से प्रत्येक में जमींदार, श्रमिक, पूंजीपति, स्वतंत्र व्यापारी, संरक्षणवादी, आदि होंगे। हर समूह में भौतिक हित वाले समुदाय हिन्दू, मुसलमान, पारसी, आदि होंगे। अतः हिन्दू उम्मीदवार मुसलमानों के भौतिक हितों का तथा मुस्लिम उम्मीदवार हिन्दुओं के भौतिक हितों की भली-भांति प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस दृष्टि से

इन समुदायों के बीच भौतिक हित का कोई खास विरोध नहीं है। यदि मान लें कि भविष्य में मनुष्य के कार्यों में धार्मिक हितों का स्थान गौण रहेगा, तो किसी समूह के धर्मनिरपेक्ष हितों का प्रतिनिधित्व किसी अन्य समूह का प्रतिनिधि कर सकता है।

8. इस दृष्टि से लोकप्रिय सरकार के लिए प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र पर्याप्त होगा। लेकिन कुछ और गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि वह लोकप्रिय सरकार की परिभाषा के केवल आधे अंश के लिए पर्याप्त होगा। यह कहां तक सच है, इसी पर हम विचार करेंगे। किसी प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र में जब विभिन्न वर्गों के बीच चुनाव लड़ा जाएगा तो मतदाता उस उम्मीदवार का पक्ष लेंगे, जिसके साथ उनकी सहानुभूति होगी। लेकिन किसके साथ सहानुभूति होगी, यह उनके लिए पहले से ही तय कर लिया जाता है। यदि वे अलग-अलग समूहों के दो उम्मीदवार हों और वे दोनों एक ही हित का प्रतिनिधित्व करते हों, तो मतदाता अपनी ही जाति के उम्मीदवार को वोट देंगे। जिस वर्ग के मतदाताओं की संख्या अधिक होगी, उसी का उम्मीदवार चुन लिया जाएगा। मतदाताओं के इस पक्षपात के कारण अल्पसंख्यक वर्गों के सदस्यों को व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता, हालांकि उनके हितों का प्रतिनिधित्व तो होता है।

9. जो लोग हितों तथा विचारों के समुचित तथा पर्याप्त प्रतिनिधित्व की योजनाएं तैयार करने में जुटे हुए हैं, उनकी दृष्टि में व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के महत्व पर विस्तृत विवेचन करना व्यर्थ हो सकता है। लेकिन इसके कारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व महत्वहीन तो नहीं हो जाता। हाल ही में 'जनता द्वारा सरकार' की अपेक्षा 'जनता के लिए सरकार' ने अधिक ध्यान आकर्षित किया है। वस्तुतः इस बात के उदाहरण मौजूद हैं कि 'जनता द्वारा सरकार' के बिना भी 'जनता के लिए सरकार' अपने सही अर्थ में बनी रह सकती है। फिर भी राजनीति के सभी सिद्धांतवादी सर्वसम्मति से इस प्रकार की सरकार की निंदा करेंगे। ऐसा क्यों है, इसकी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। यह तो स्वीकार करना होगा कि हर प्रकार की संस्था सीख देती है और वह अपने सदस्यों की क्रियाशील मनोवृत्ति पर रचनात्मक प्रभाव डालती है। अतः व्यक्ति का जो रूप होता है, उसी रूप में वह दूसरों से जुड़ता है। 'जनता के लिए सरकार', न कि 'जनता की सरकार' निश्चित ही कुछ लोगों को स्वामी तथा दूसरों को परतंत्र बनने की शिक्षा देगी। कारण यह है कि संस्था के प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से कोई व्यक्ति व्यक्तित्व के विकास का अनुभव और अंकन कर सकता है। व्यक्तित्व-विकास समाज का सर्वोच्च लक्ष्य होता है। सामाजिक व्यवस्था द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा कार्य करने के लिए जिसे करने में वह समर्थ है, निर्बाध पहलकदमी तथा अवसर उपलब्ध कराया जाना है, बशर्तें यह कार्य सामाजिक दृष्टि से वांछनीय हो। नई भूमिका व्यक्तित्व का पुनः नवीनीकरण तथा विकास करती है। लेकिन जब संस्था, सरकार भी एक संस्था ही है, ऐसी होती है कि उसमें सभी लोग प्रत्येक भूमिका अदा नहीं कर सकते, तो होता यह है कि वह बहुजन के व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध करके चंद लोगों के व्यक्तित्व का विकास करने लगती है।

इसके परिणाम से सावधानी से बचना लोकतंत्र के हित में होगा। विशेष रूप से कहा जाए तो केवल निर्वाचक होना ही काफी नहीं है। विधि-निर्माता होना भी आवश्यक है। अन्यथा विधि-निर्माता उन लोगों के स्वामी बन जाएंगे, जो केवल निर्वाचक होंगे।

10. अतः प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों पर इस आधार पर आपत्ति करना उचित है कि वे इस बेतुके परिणाम से बचने के लिए कुछ नहीं करते। वे यह मान लेने की गलती कर बैठते हैं कि निर्वाचक उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का परवाह न करते हुए उनके कार्यक्रमों के आधार पर वोट देंगे। लेकिन वास्तविक बात यह है कि निर्वाचक, निर्वाचक होने के पूर्व मुख्यतः किसी समूह के सदस्य होते हैं। उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का उनके लिए महत्व होता है। अतः यह स्वाभाविक है कि वर्ग के सदस्य होने के नाते वे उस उम्मीदवार को पसंद करते हैं, जो उनके वर्ग का होता है। वे उस उम्मीदवार को पसंद नहीं करते, जो उनके समूह का नहीं होता, भले ही ये दोनों समान हित का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हों। इस पसंद के कारण निश्चित है कि बड़े समूह के निर्वाचक अंततः विधि-निर्माता की उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेंगे, जब कि छोटे समूह के निर्वाचक बिना किसी कुसूर के केवल निर्वाचक की निम्न स्थिति में बने रहने के लिए बाध्य होंगे। लोकप्रिय सरकार का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह होता है कि उसमें हितों और विचारों का प्रतिनिधित्व होता है। दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उसमें व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व भी होता है। प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र लोकप्रिय सरकार नहीं बना सकते हैं, क्योंकि वे छोटे समूहों के सदस्यों को व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व नहीं दिला सकते।

11. यदि यह सही विश्लेषण है कि किस प्रकार कुछ समुदायों के राजनीतिक जीवन के प्रतिकूल सामाजिक विभाजन कार्य करते हैं, तो इस स्थिति से निपटने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व का जो उपाय सुझाया गया था, उससे बढ़कर और कोई अनुचित उपाय नहीं हो सकता। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का उद्देश्य विचारों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व देना है। उसके अनुसार यह पहले से ही मान लिया जाता है कि निर्वाचक उम्मीदवार को उसके विचारों के आधार पर वोट देते हैं, न कि उसके व्यक्तित्व के आधार पर। अतः इस प्रस्तुत कार्य के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व उपयुक्त नहीं है।

12. अतः इस स्थिति से निपटने के लिए हमारे पास संभावित दो तरीके हैं। या तो बहुसंख्यक निर्वाचन-क्षेत्रों में उन अल्पसंख्यकों के लिए सीटें रिवर्ज कर दें जो अन्यथा प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर सकते, अथवा संप्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडल बना दें। दोनों की अपनी उपयोगिता है। जहां तक मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का संबंध है, यह अत्यंत वांछनीय है कि आम चुनावों में बहुसंख्यक निर्वाचन-क्षेत्रों में उनके लिए सीटें रिजर्व कर दी जाएं। हिन्दू तथा मुसलमान के विभाजन का कोण पहले ही बहुत तीक्ष्ण है और साग्रह निवेदन है कि संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व उसे और भी तीक्ष्ण बना देता है। जहां तक मुसलमानों का संबंध है, संप्रदाय आधारित निर्वाचन एक तयशुदा तथ्य प्रतीत होता है और उसमें परिवर्तन की कोई संभावना नहीं है, भले ही परिवर्तन लाभप्रद हो।

13. लेकिन इस तर्क का मुख्य आशय यह है कि सामान्यतः हिन्दुओं तथा विशेषतः अस्पृश्य हिन्दुओं के प्रतिनिधित्व पर विचार किया जाए। यह अच्छा होगा, यदि हिन्दुओं के प्रतिनिधित्व पर चर्चा एक उद्धरंण से प्रारंभ की जाए जिसमें उस नई चेतना की बात कही गई है, जो विभिन्न हिन्दू वर्गों में उत्पन्न हुई है। इसमें कहा गया हैः

> संरक्षण की अपेक्षा रखने वाले अलग हितों के आधार पर ही कोई समुदाय प्रतिनिधित्व की मांग कर सकता है। भारत में ऐसे हित केवल तीन प्रकार के हैं : या तो वे धार्मिक विद्वेष से उत्पन्न होते हैं जो भारत में काफी फैला हुआ है, या शिक्षा के क्षेत्र में किसी समुदाय की पिछड़ी स्थिति से, या किसी समुदाय की सामाजिक-धार्मिक अशक्तताओं से उत्पन्न होते हैं। हम स्वयं को हिन्दू समुदायों तक सीमित रखेंगे। कतिपय ऐसे समुदाय हैं जो बहुत पिछड़े हुए तो हैं ही, साथ ही वे घोर सामाजिक अत्याचार की चक्की में भी पिस रहे हैं। निश्चय ही परिषद हॉल में अस्पृश्य वर्गों के अपने ऐसे आदमी होने चाहिएं, जो उनकी शिकायतों को दूर कराने के लिए संघर्ष कर सकें। समूचा ब्राह्मणेत्तर वर्ग ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के सामाजिक तथा बौद्धिक प्रभुत्व के अधीन दासता भोग रहा है। अतः उसका पृथक प्रतिनिधित्व की मांग करना उचित है।

14. इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दुओं की नवचेतना जहां अस्पृश्यों के अलग हितों को स्वीकार करती है, वहां वह इस स्थिति को स्वीकार नहीं करती कि स्पृश्य हिन्दू स्वयं एक समूह का निर्माण करते हैं। नवचेतना का आग्रह है कि स्पृश्य समूह का विभाजन ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेत्तर वर्गों के रूप में किया जाए और प्रत्येक के अलग-अलग हित हों जिन तीन समूहों में हिन्दू बंटे हुए हैं, उनके लिए मिश्रित निर्वाचक-मंडलों में पृथक निर्वाचक-मंडलों अथवा आरक्षित सीटों की मांग की गई है। अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की समस्याओं पर विचार करने से पहले मैं ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेत्तर वर्गों के बारे में कुछ कहना चाहूंगा।

15. ब्राह्मणेत्तर वर्ग 'शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा है', इसे किसी भी प्रकार से उसका विशेष हित नहीं किया जा सकता। यह तो सभी का, यहां तक कि उन ब्राह्मणों का भी सामान्य हित है, जो शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े हैं। 'ब्राह्मणों के बौद्धिक तथा सामाजिक प्रभुत्व' का प्रभाव केवल ब्राह्मणेत्तर वर्ग पर ही नहीं पड़ता, बल्कि सभी पर पड़ता है। अतः यह सबका हित है। फिर ब्राह्मणेत्तर वर्ग का वह कौन-सा विशेष हित है, जिसका संरक्षण अपेक्षित है?

ब्राह्मणेत्तर वर्ग के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का औचित्य नहीं बनता, क्योंकि वे सिद्ध नहीं कर सकते कि उनका कोई सर्वसाझा हित है।

16. लेकिन क्या उन्हें व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है? इसका विवरण आंकड़ों सहित अगले पृष्ठ पर दिया गया है :

	वर्ग I		वर्ग II	
स्थानीय बोर्ड के मतदाताओं की जाती	बेलगांव, बीजापुर और धारवाड़ जिलों और स्थानीय बोर्डों के मतदाताओं की संख्या	तीनों जिलों की कुल जनसंख्या	रत्नागिरी और कोलाबा जिलों के स्थानीय बोर्डों के मतदाताओं की संख्या	दोनों जिलों की कुल जनसंख्या
ब्राह्मण	4,600	85,739	4,477	89,786
लिंगायत	12,730	933,123	...	...
मराठे	1,074	255,526	3,667	446,077
महार	22	196,751	33	138,738
मुसलमान	661	295,838	1,169	106,273
अन्य	4,241	1,065,821	2,837	1,016,930
योग	**23,328**	**2,832,798**	**12,183**	**1,797,804**

उपर्युक्त आंकड़ों का आकलन प्रति हजार के आधार पर करने से हमें निम्नलिखित उपयोगी विवरण प्राप्त हुआ है।

	वर्ग I			वर्ग II		
जातियों के नाम	आंकलित जनसंख्या के प्रति हजार के लिए जाति की जनसंख्या का अनुपात	जाति की जनसंख्या के प्रति हजार के लिए उसी जाति के मतदाताओं का अनुपात	मतदाताओं के प्रति हजार के लिए जाति के मतदाताओं का अनुपात	आंकलित जनसंख्या के प्रति हजार के लिए जाति की जनसंख्या का अनुपात	जाति की जनसंख्या के प्रति हजार के लिए उसी जाति के मतदाताओं का अनुपात	मतदाताओं के प्रति हजार के लिए जाति के मतदाताओं का अनुपात
1	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**
ब्राह्मण	30.2	53.7	197.2	50.8	49.8	367.4
लिंगायत	329.4	13.6	545.7	...	...	...
मराठे	90.2	4.2	46.0	248.8	8.2	300.9
महार	69.5	0.1	0.9	74.5	0.2	2.7
मुसमान	104.4	2.2	28.3	59.2	10.9	95.9
अन्य	376.2	3.9	181.3	562.2	2.8	232.8

इस तरह वर्गीकृत किए गए आंकड़ों के आधार पर निकाले जाने वाले निष्कर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण हैं :

(1) यदि सभी को समान मताधिकार दिया जाए तो ब्राह्मण, जहां तक उनकी संख्या का संबंध है, भले ही उनकी संख्या थोड़ी-सी हो, पर जहां तक मतदाताओं की कुल संख्या का संबंध है, वे बहुसंख्यक हो जाते हैं, जैसी कि वर्ग II में स्थिति दी गई है।

(2) यद्यपि लिंगायत तथा मराठी जैसे ब्राह्मणेत्तर समुदाय समान मताधिकार के आधार पर मतदाता सूची में स्थान पाते हैं, फिर भी उनकी जनसंख्या की तुलना में उनके मतदाताओं का अनुपात उस अनुपात के मुकाबले नगण्य है, जो ब्राह्मण मतदाताओं का ब्राह्मण जनसंख्या की तुलना में है।

17. अपने मतदाताओं की तुलना में ब्राह्मणों का अनुपात वास्तव में अत्यधिक है। यह न तो उनके प्रति विश्वास और न ही उनकी अपनी संख्या के आधार पर उचित है। भले ही लिंगायतों की यह शिकायत उचित हो सकती है कि उनके मतदाताओं का अनुपात कम है, लेकिन वे व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में सफल होंगे। भले ही मराठों की संख्या ब्राह्मणों से अधिक हो, पर इसके बावजूद उनके मतदाताओं का अति अल्प अनुपात मतदाता सूची से वंचित रहता है और इस बात की पूरी संभावना है कि वे अपने लिए व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में असमर्थ रहेंगे।

इस तर्क के आधार पर मराठों के लिए विशेष व्यवस्था को उचित ठहराया जा सकता है और उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

18. प्रश्न यह है कि व्यवस्था का रूप क्या हो। मेरे विचार में वह आरक्षित सीटों या पृथक निर्वाचक-मंडलों का रूप न ले, बल्कि कम योग्यता वाले मताधिकार का रूप ले। मताधिकार ब्राह्मण की अपेक्षा ब्राह्मणेत्तर को सहज सुलभ होना चाहिए। इस व्यवस्था से मतदाता सूची में मराठों की स्थिति सुधर जाएगी और ब्राह्मण की नितांत अनुकूल स्थिति के बराबर हो जाएगी। इसमें सभी का हित है कि ब्राह्मण इस समय राजनीति में जैसी प्रभुत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, वैसी वह न करे। उसने देश के सामाजिक जीवन पर घातक प्रभाव प्रभाव डाला है और यह सभी के लिए हितकर होगा कि राजनीतिक पर उसके घातक प्रभाव को कम से कम रखा जाए। वह निहायत गैर-मिलनसार है और अत्यंत समाज-विरोधी है।

19. संविधान-सुधार संबंधी रिपोर्ट को तैयार करने वाले भी सीमित तथा एकरूप मताधिकार के पक्ष में नहीं है। उनका कहना है, 'हमारा विचार है कि मताधिकार को यथासंभव व्यापक बनाया जाना वांछनीय है। उसकी सीमाओं का निर्धारण व्यावहारिक कठिनाइयों के आधार पर किया जना चाहिए, न कि किन्हीं पूर्व निश्चित कसौटियों के आधार पर; कि योग्यता निश्चित करने के लिए कितनी शिखा अथवा कितनी आमदनी हो। यह संभव है कि जनसंख्या तथा धन के असमान वितरण के कारण न केवल प्रांतों के बीच, बल्कि एक ही प्रांत के अलग-अलग हिस्सों के बीच भी वोट संबंधी योग्यताओं में अंतर करना जरूरी हो सकता है' (पृ. 147)। इसमें मैं यह जोड़ना चाहूंगा कि हमें न केवल प्रांतों अथवा उन हिस्सों के बीच वोट संबंधी योग्यताओं में अंतर करना चाहिए,

बल्कि एक ही प्रांत के समुदायों के बीच भी करना चाहिए। यदि यह अंतर नहीं होगा तो अल्प संख्या में धनवान और पढ़े-लिखे लोगों वाले चंद समुदाय अधिक वोट प्राप्त कर लेंगे और गरीब तथा अनपढ़ लोगों वाला बहुसंख्य समुदाय कम वोट प्राप्त करेगा। मताधिकार संबंधी एकरूपता समाप्त कर दी जानी चाहिए। इसका महत्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि कुछ ब्रह्मणेत्तर समुदाय आजकल सीटों के लिए जिस सांप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व अथवा आरक्षण की मांग कर रहे हैं, वह समाप्त हो जाएगी।

20. आमतौर पर अस्पृश्य लोग दया के पात्र समझे जाते हैं, लेकिन किसी राजनीतिक योजना में उनकी इस आधार पर उपेक्षा कर दी जाती है कि उनका ऐसा कोई हित नहीं है, जिसकी रक्षा की जाए। लेकिन फिर भी उनके हित सबसे महान हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी कोई बहुत बड़ी संपत्ति है, जिसे जब्त होने से बचाया जाए। उनका तो व्यक्तित्व ही जब्त कर लिया गया है। सामाजिक-धार्मिक अशक्ताओं ने अस्पृश्यों को मानव के स्तर से गिरा दिया है। अतः दांव पर लगे उनके हित मानव मात्र के हित हैं। ऐसे महत्वपूर्ण हितों की तुलना में संपत्ति संबंधी हित तो तुच्छ हैं।

21. दास को परिभाषित करते हुए प्लेटो ने कहा कि दास वह है, जो दूसरों के कार्य करता है, जो उसके आचरण को नियंत्रित करते हैं। यदि हम इस परिभाषा को मान लें तो अस्पृश्य सचमुच ही दास हैं। अस्पृश्यों को ऐसे सामाजिक ढांचे में ढाला गया है कि वे अपनी दयनीय दशा पर उफ! तक न करें। इससे भी घटिया बात यह है कि वे सपने में भी कभी नहीं सोचते कि वे अपनी दशा सुधारें और अन्य वर्गों को उस सामान्य सम्मानजनक व्यवहार के लिए विवश करें, जिसकी एक व्यक्ति दूसरे से अपेक्षा करता है। उनका जन्म तो उनके भाग्य के अनुसार हुआ है, यह धारणा उनके मन में इतना घर कर गई है कि वे कभी यह विचार करते ही नहीं हैं कि भाग्य ही सब कुछ नहीं है। कोई भी कभी भी उन्हें यह बात नहीं समझा सकेगा कि सभी मानव एक ही मिट्टी के बने हुए हैं, अथवा उनके साथ जो बर्ताव किया जा रहा है वे उससे बढ़िया बर्ताव के हकदार हैं।

22. बर्ताव का वास्तविक वर्णन नहीं किया जा सकता। अस्पृश्य शब्द में उनकी विपत्तियों और कष्टों का निचोड़ आ जाता है। अस्पृश्यता ने न केवल उनके व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध कर दिया है, बल्कि उनकी आर्थिक उन्नति के रास्ते में भी कांटे बोए हैं। उसने उनके कतिपय नागरिक अधिकारों को भी हड़प लिया है। यथा, कोंकण में अस्पृश्य आम रास्ते पर नहीं चल सकते। यदि कोई सवर्ण जाति का व्यक्ति उसके सामने आ जाता है तो उसे मार्ग से हटना पड़ता है और इतनी दूरी पर खड़ा होना पड़ता है कि उनकी परछाई सवर्ण व्यक्ति पर पड़े। अस्पृश्य नागरिक भी नहीं है। नागरिकता तो अधिकारों का पुंज है, यथा (1) व्यक्तिगत स्वतंत्रता, (2) व्यक्तिगत सुरक्षा, (3) निजी संपत्ति रखने के अधिकार, (4) विधि के समक्ष समता, (5) अंतःकरण की स्वतंत्रता, (6) वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य, (7) सम्मेलन का अधिकार, (8) देश की सरकार में प्रतिनिधित्व का अधिकार, और (9) राज्य के अधीन पद धारण

करने का अधिकार। कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे ये अधिकार सिद्धांत रूप में अपने भारतीय प्रजाजनों को दे दिए हैं। नागरिकता की सार्थकता के लिए दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकार हैं-पहला, प्रतिनिधित्व का अधिकार और दूसरा राज्य के अधीन पद धारण करने का अधिकार। लेकिन अस्पृश्यों की अस्पृश्यता उन्हें इन अधिकारों की पहुंच से कोसों दूर रखती है। कुछ स्थानों पर तो उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत सुरक्षा जैसे मामूली अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। विधि के समक्ष समता का भी उन्हें सदा आश्वासन नहीं मिलता। ये सब अस्पृश्यों के हित हैं। जैसा कि स्वतः स्पष्ट है, उनका प्रतिनिधित्व केवल अस्पृश्य ही कर सकते हैं। वे उनके वास्तविक हित हैं और वास्तव में कोई अन्य उनके लिए आवाज नहीं उठा सकता। मुक्त व्यापार हित की आवाज एक ब्राह्मण, एक मुसलमान अथवा मराठा समान रूप से उठा सकता है। लेकिन उनमें से कोई भी अस्पृश्यों के हितों की आवाज नहीं उठा सकता, क्योंकि वे अस्पृश्य नहीं हैं। अस्पृश्यता के अधीन एक निश्चित हित समूह आता है और उसके लिए केवल अस्पृश्य ही आवाज उठा सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि हमें ऐसे अस्पृश्यों को खोजना ही होगा, जो अपनी शिकायतों और हितों को प्रस्तुत कर सकें। दूसरे, हमें उन्हें इतनी संख्या में खोजना होगा कि वे ऐसी शक्ति बन सकें कि अपने दुख-दर्द के बारे में मांग प्रस्तुत कर सकें।

23. अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सामान्य प्रादेशिक निर्वाचक-मंडल कानून बनाने वाले निकाय में पर्याप्त संख्या में अस्पृश्यों को चुनकर भेज सकेंगे? पिछले आंकड़ों से हमें पता चलता है कि (सारणी में महार के प्रतिनिधित्व वाले) अस्पृश्य हालांकि जनसंख्या के प्रति हजार संख्या की दृष्टि से 69.5 प्रतिशत थे, पर उन्हें अपने वर्ग से एक भी मत नहीं मिला। ऐसी परिस्थितियों में सामान्य निर्वाचक-मंडल में उनके लिए अपने उम्मीदवार को चुनना असंभव है। दूसरी ओर उन्हें अस्पृश्य उम्मीदवार के लिए स्पृश्य हिन्दुओं के वोटों से भी हाथ धोना पड़ेगा। जातियों का वर्गीकरण एक ऐसा निश्चित धर्मसम्मत आधार प्रस्तुत करता है, जो अस्पृश्यों पर दुहरी मार करता है। यह निम्न वर्ग के मन में उच्च वर्ग के प्रति सम्मान पैदा करता है, जब कि उच्च वर्ग के मन में निम्न वर्ग के प्रति अपमान। इस प्रकार सम्मान का पलड़ा भारी और घृणा एवं अपमान का पलड़ा हल्का हो जाता है और अस्पृश्यों का दोनों तरफ से तिरस्कार किया जाता है। स्पृश्य अस्पृश्यों को एक भी वोट दिए बगैर उनके मतों की पहले से ही अत्यल्प संख्या के आधार पर निश्चित रूप से काफी संख्या में चुने जाएंगे।

24. ऐसी स्थिति में सामान्य प्रादेशिक निर्वाचक-मंडल में अस्पृश्यों को अपने सबसे प्रमुख हितों को दांव पर लगाना पड़ेगा और उन्हें सबसे अधिक घाटा उठाना पड़ेगा। शुरू में उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिलाने की विशेष व्यवस्था करनी होगी। लेकिन इससे पहले कि कोई योजना तैयार की जा सके, यह देखना जरूरी है कि बंबई प्रेसिडेंसी में कितने लोग अस्पृश्य हैं। वर्ष 1911 के लिए बंबई प्रेसिडेंसी की जनगणना रिपोर्ट में उन जातियों के अगले पृष्ठ पर आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं, जो अपवित्रता पैदा करती है :

भंगी	93,691
चमार, मोची, माचीगर	306,478
सोची, महार, होलिया, ढेढ़	1,470,992
मांग, मादिग	274,037
योग	2,145,198
इसमें ढोरों की यह संख्या जोड़ी जानी चाहिए	13,506
कुल अस्पृश्य	**2,158,704**

अस्पृश्यों के जिलावार आंकड़ें इस प्रकार हैं :

जिला	कुल जनसंख्या 1911	हिन्दुओं की कुल जनसंख्या	अस्पृश्यों की कुल जनसंख्या	कुल जनसंख्या में अस्पृश्यों का प्रतिशत	हिन्दुओं की जनसंख्या में अस्पृश्यों का प्रतिशत
1	2	3	4	5	6
ब्रिटिश जिले (अदन को छोड़कर)	19,628,477	14,920,267	1,627,980	8	10.9
1. बंबई नगर	979,445	664,042	89,052	9	11.6
उत्तरी डिवीजन	3,685,383	3,117,263	245,050	6.6	7.8
2. अहमदाबाद	827,809	693,155	78,869	10	11.4
3. भड़ोच	306,717	192,935	22,390	7	11.6
4. खेड़ा	691,744	598,164	41,497	5.9	6.9
5. पंचमहाल	332,695	274,339	14,410	4	5
6. सूरत	654,109	571,745	36,509	5.6	6
7. थाना	882,309	786,925	50,010	5.6	6
मध्य डिवीजन	6,387,064	5,998,828	773,184	12	13
8. अहमदनगर	945,305	855,676	116,929	12	13.6
9. खानदेश (पूर्व)	1,034,886	902,131	112,391	10.8	12
10. खानदेश (पश्चिम)	580,723	474,200	36,809	6	7.7
11. नासिक	905,030	843,705	97,740	10.7	11

1	2	3	4	5	6
12. पूना	1,071,512	991,725	113,118	12.4	13.3
13. सतारा	1,081,278	1,028,176	144,688	13	14
14. शोलापुर	768,330	703,215	129,063	16.7	18
दक्षिणी डिवीजन	5,061,150	4,502,708	385,470	7.6	8.5
15. बेलगांव	943,820	817,797	83,199	8.8	10.1
16. बीजापुर	862,973	757,542	80,501	9	10.6
17. धारवाड़	1,026,005	872,885	52,540	5	6
18. कनारा	430,548	383,624	10,767	2.4	2.9
19. कोलाबा	594,156	560,266	51,108	8.5	9.1
20. रत्नागिरी	1,203,638	1,110,594	107,354	8.9	9.7
सिंध (ब्रिटिश जिले)	3,513,435	837,426	135,224	3.8	16

25. 1911 की जनगणना के अनुसार बंबई प्रेसिडेंसी की कुल जनसंख्या (केवल ब्रिटिश जिलों की) 19,628,477 है। इसमें से अस्पृश्यों की जनसंख्या 1,627,980 है, जो कुल जनसंख्या का आठ प्रतिशत है। मान लें कि फिलहाल बंबई विधान परिषद में 100 निर्वाचित सदस्य होंगे। उसमें अस्पृश्यों के प्रतिनिधि के रूप में आठ प्रतिनिधि होने चाहिए। यदि प्रत्येक दो लाख की जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि आबंटित कर दें (जो दो करोड़ की जनसंख्या के लिए 100 प्रतिनिधियों का अनुपात भर है), तो अस्पृश्य अधिकार के रूप में अपने लिए आठ प्रतिनिधियों की मांग कर सकते हैं। लेकिन बंबई प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों को कुल मिलाकर नौ सदस्य चुनने की अनुमति दी जा सकती है। एक अतिरिक्त सदस्य के निर्वाचन का औचित्य बाद में दिया जाएगा।

26. यदि उन्हें नौ सदस्य चुनने की अनुमति दी जाए तो उन्हें चुनने वाले निर्वाचन-क्षेत्र इस प्रकार होंगे :

1. बंबई नगर और सिंध प्रांत को छोड़कर प्रेसिडेंसी के विभिन्न जिलों का भाषायी आधार पर एक साथ समूहीकरण आगे दिए गए आकंड़ों के अनुसार किया जाना चाहिए :

1-गुजराती भाषी जिले			2-मराठी भाषी जिले			3-कन्नड़ भाषी जिले		
1-अहमदाबाद	--	78,969	1-थाणे	--	50,010	1-धारवाड़	--	52,540
2-भड़ोच	--	22,390	2-कोलाबा	--	51,108	2-बीजापुर	--	80,503
3-खेड़ा	--	41,497	3-रत्नागिरी	--	107,354	3-बेलगांव	--	83,199
4-पंचमहाल	--	14,410	4-अहमदनगर	--	116,929	4-कनारा	--	10,758
5-सूरत	--	36,509	5-खानदेश					
			(पश्चिम)	--	36,809			
			6-खानदेश					
			(पूर्व)	--	112,391			
			7-सतारा	--	144,738			
			8-पूना	--	148,118			
			9-नासिक	--	96,740			

10-शोलापुर -- 129,063

27. अस्पृश्यों के निर्वाचन-क्षेत्र तथा प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र द्वारा चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या इस प्रकार होनी चाहिए :

भाषा	जिला	जिलों की जनसंख्या	निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या	निर्वाचन-क्षेत्रों की क्रम संख्या	निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या
1	2	3	4	5	6
	बंबई नगर	89,052	89,052	1	1
	1-अहमदाबाद	78,869			
	2- भड़ोच	22,390			
1. गुजराती	3-खेड़ा	41,497	193,675	2	1
	4-पंचमहाल	14,410			
	5-सूरत	36,509			
	1-थाणे,	50,010			
	2-कोलाबा	51,108	208,472	3	1
	3-रत्नगिरी	107,354			
	4-अहमदनगर	116,929			
	5-खानदेश (पूर्व)	112,391			
2. मराठी	6-खानदेश (पश्चिम)	36,809	363,869	4	2
	7-नासिक	97,740			
	8-सतारा	144,688			
	9-पूना	133,118	406,869	5	2
	10-शोलापुर	129,063			
	1-बेलगांव	83,199			
	2-बीजापुर	80,501			
3. कन्नड़	3-धारवाड़	52,540	227,007	6	
	4-कनारा	10,767			
	सिंध	135,224	135,224	7	1

प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों द्वारा चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की कुल संख्या।

इन नौ निर्वाचित सदस्यों को एक निर्वाचक-मंडल बनाना चाहिए, ताकि वे अपने बीच से एक सदस्य चुन सकें जो इंपीरियल विधान परिषद में इस प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों का प्रतिनधित्व कर सके।

28. यह आपत्ति की जा सकती है कि भले ही आठ प्रतिनिधियों की संख्या अस्पृश्यों की जनसंख्या की तुलना में अधिक नहीं है, लेकिन वह अस्पृश्यों की मतदाता संख्या की तुलना में अधिक हो सकती है। यह सही है कि अस्पृश्य एक गरीब समुदाय है और उसी मताधिकार के अधीन वह प्रति हजार पर अन्य समुदायों की तुलना में मतदाताओं का कम अनुपात प्राप्त करते हैं। लेकिन यदि अस्पृश्यों की इस गंभीर स्थिति को स्वीकार किया जाए तो हमें उनके प्रतिनिधियों की संख्या को घटाना नहीं चाहिए, बल्कि उनके मतदाताओं की संख्या में वृद्धि करने का लक्ष्य बनाना चाहिए, अर्थात् हमारा यह लक्ष्य होना चाहिए कि जहां तक अस्पृश्यों का संबंध है, मताधिकार संबंधी उनकी योग्यता को कम कर दिया जाना चाहिए।

29. मताधिकार क्या है, यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है। एक तर्क के अनुसार यह आग्रह किया जाता है कि मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया जाना चाहिए, जिनसे आशा की जा सके कि वे उसका विवेकपूर्ण उपयोग करेंगे। इसके विपरीत प्रो. एल.टी. हाबहाउस ने कहा है, 'यह सच है कि लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि मतदाताओं को दिए गए अवसर पर उनकी प्रतिक्रिया क्या है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष यह है कि वोटरों की प्रतिक्रिया जानने के लिए उनको अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। लोकप्रिय सरकार का प्रयोग स्वयं में एक संपूर्ण शिक्षा है। ...मताधिकार को अपने आपमें स्पष्टतः एक ऐसी प्रेरणा कहा जा सकता हैं जो रुचि पैदा करने के लिए आवश्यक होती है। मात्र मतदान का अधिकार एक शांतिप्रिय नागरिक को नारेबाजों तथा कुचक्रियों के अत्याचारों से मुक्त करता है। वर्तमान निष्क्रियता की धारणा इस बात का पर्याप्त कारण नहीं है कि उसे उत्तरदायी सरकार से वंचित किया जाए अथवा मतदान के क्षेत्र को सीमित किया जाए।' इस बात को ध्यान में रखते हुए कि मताधिकार एक प्रकार की शिक्षा है और ऐसे समूह हैं जिनके बीच धन अैर शिक्षा का समान वितरण नहीं है तथा इन समूहों के विचार भी एक जैसे नहीं हैं, रिपोर्ट तैयार करने वालों ने ठीक ही कहा है कि मताधिकार की एकरूपता को कायम नहीं रखा जा सकता।

30. लेकिन अस्पृश्यों के मामले में जहां उनके प्रतिनिधियों की संख्या कम करने के संबंध में कुछ कारण हैं, वहीं उनके निर्वाचक-मंडलों का विस्तार करने के लिए भी अनेक कारण हैं। यदि वर्तमान मताधिकार की छाया में अस्पृश्य बड़ी संख्या में निर्वाचक नहीं बन सकते, तो यह उनका दोष नहीं है। अस्पृश्यता ही उनकी नैतिक तथा भौतिक प्रगति में बाधक है। धन प्राप्ति के तीन स्रोत हैं-व्यापार, उद्योग और नौकरी। अस्पृश्यता के कारण इन तीनों में वे प्रवेश नहीं कर सकते हैं। अस्पृश्य व्यापारी से कोई भी हिन्दू समान नहीं खरीदेगा। अस्पृश्य लाभप्रद नौकरी नहीं पा सकता। लेकिन सेना-सेवा पर अस्पृश्यों का

एकाधिकार ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने से रहा है। वे सेना में इतनी विशाल संख्या में भर्ती हो गए थे कि भारतीय सेना आयोग, 1859 को प्रस्तुत की गई अपनी टिप्पणी में मारकस ट्वीडलडेल ने लिखा थाः 'इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि निम्न जाति के लोगों की मदद से ही भारत पर विजय प्राप्त की गई।' लेकिन गदर के बाद जब अंग्रेजों को मराठे सैनिक मिलने लगे तो निम्न जाति के जो सैनिक बंबई सेना के आधार थे, उनकी स्थिति डांवाडोल हो गई। इसका कारण यह नहीं था कि मराठे बेहतर सैनिक थे, बल्कि यह था कि उनके धार्मिक पूर्वग्रह ने उन्हें निम्न जाति के अफसरों के अधीन सेवा करने से रोका। पूर्वग्रह इतना प्रबल था कि जाति-भेद से परे अंग्रेजों को भी अस्पृश्य वर्गों से भर्ती रोकनी पड़ी। इसी प्रकार अस्पृश्यों को पुलिस बल में नौकरी नहीं दी जाती। अनेकानेक सरकारी कार्यालयों में अस्पृश्यों के लिए नौकरी पाना संभव नहीं है। मिलों में भी भेदभाव बरता जाता है। सूती कपड़ा मिलों के बुनकर विभागों में अस्पृश्यों को भर्ती नहीं किया जाता, जबकि उमनें से अनेक पेशेवर बुनकर हैं। प्रस्तुत है, बंबई नगरपालिका की स्कूल-प्रणाली का एक उदाहरण। बंबई, निगम द्वारा शासित सर्वप्रदेशीय महानगर है। भारत के किसी भी निगम की तुलना में वहां अधिक आजादी है, पर वहां दो तरह के स्कूल हैं-एक स्पृश्यों के बच्चों के लिए और दूसरा अस्पृश्यों के बच्चों के लिए। यह स्वयं में एक नोट करने योग्य बात है। इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य कुछ और बातें भी हैं। निगम ने स्कूलों के अनुसार उनके अध्यापकों को भी स्पृश्यों और अस्पृश्यों में विभाजित कर दिया है। चूंकि अस्पृश्य अध्यापकों की कमी है, अतः अस्पृश्यों के कुछ स्कूलों में स्पृश्य अध्यापक काम कर रहे हैं। एक अत्यंत कटु मजाक यह है कि यदि अस्पृश्य स्कूल सेवा में कोई उच्च वेतनमान है वहां होगा भी, क्योंकि वहां प्रशिक्षण प्राप्त चंद अस्पृश्य अध्यापक होते हैं, तो स्पृश्य अध्यापक को उस वेतनमान में नियुक्त किया जा सकता है। लेकिन किसी स्पृश्य स्कूल में यदि कोई उच्च वेतनमान उपलब्ध होगा तो उस वेतनमान में अस्पृश्य अध्यापक को नियुक्त नहीं किया जा सकता। उसे तब तक इंतजार की घड़ियां गिननी होंगी, जब तक कि अस्पृश्यों के लिए सेवा में स्थान खाली नहीं हो जाता। यह है हिन्दू समाज के जीवन का आचार-शास्त्र। इसके साए में यदि अस्पृश्य गरीब हैं, तो आशा की जाती है कि समिति उन्हें प्रतिनिधित्व से इस आधार पर वंचित नहीं करेगी कि उनका निर्वाचन-क्षेत्र छोटा है, बल्कि यह देखेगी और उपाय करेगी कि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, ताकि वे (अस्पृश्य) उन प्रतिकूल परिस्थितियों को दूर कर सकें जो उनकी गरीबी को जन्म देती है। इस समय जब उनके लिए धन प्राप्ति के सभी रास्ते बंद हैं तो यह ठीक नहीं होगा कि अस्पृश्यों से संपत्ति संबंधी उच्च योग्यता की अपेक्षा की जाए। पहले उन्हें धन प्राप्ति के अवसरों से वंचित करना और फिर उनसे संपत्ति संबंधी उच्च योग्यता की अपेक्षा करना तो 'जले पर नमक छिड़कने' जैसा ही है। अस्पृश्यों में पर्याप्त मतदान शक्ति पैदा करने के लिए कैसा मताधिकार और क्या योग्यता-स्तर अपेक्षित है? आंकड़ों के अभाव में इसका निर्णय मैं समिति पर छोड़ता हूं। बेहतर होगा कि मताधिकार के योग्यता-स्तर को कम किया जाए, ताकि राजनीतिक जीवन में

यथासंभव अधिक से अधिक अस्पृश्य प्रवेश कर सकें। उनका दर्जा इतना घटा दिया गया है कि वे आत्मबोध ही खो बैठे हैं। मैं केवल इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के बारे में निर्णय करते समय समिति अस्पृश्यों के हितों का ध्यान रखेगी और यह निर्णय देगी कि प्रतिनिधियों की संख्या निर्वाचक-मंडल के विस्तार के अनुसार न हो, बल्कि निर्वाचक-मंडल का विस्तार प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार हो।

31. इस संबंध में लार्ड मौर्ले समिति का स्मरण कराना अनुचित नहीं होगा, जिसने कहा है, 'सरकार का उद्देश्य यह है कि विधान परिषदों में संबंधित समुदायों की वास्तविक सामाजिक शक्तियों, आशाओं तथा आकांक्षाओं का संतुलित, यथार्थ तथा प्रभावशाली प्रतिनिधित्व हो। इसे बीजगणित, गणित, रेखागणित अथवा तर्क के आधार पर नहीं, बल्कि व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है।' उन्होंने इस बात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं की है कि प्रतिनिधित्व की सीमा निर्धारित करते समय मुख्यतः प्रतिनिधियों की संख्या पर ध्यान देना चाहिए, लेकिन तरमीनें प्रतिनिधियों की संख्या पर प्रभाव डाल सकती हैं। अतः प्रस्ताव है कि बंबई प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों को उपर्युक्त निर्वाचन-क्षेत्रों से नौ सदस्यों को चुनने की अनुमति दी जाए। ये नौ सदस्य एक और निर्वाचक-मंडल का गठन करेंगे। वे अपने बीच से एक सदस्य का निर्वाचन करेंगे और वह सदस्य इंपीरियल विधान परिषद में अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करेगा। शेष आठ सदस्य बंबई विधान परिषद में अस्पृश्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे।

32. साम्प्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडलों के अलावा अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के लिए अन्य योजनाएं भी हैं। यह उचित नहीं होगा कि उन योजनाओं के विषय में कुछ कहे बिना इस बयान को समाप्त किया जाए।

33. कांग्रेस ने केवल मुसलमानों के मामले में साम्प्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व देना स्वीकार किया है और वह नामांकन के अंधाधुंध इस्तेमाल को भी स्वीकार नहीं करती। अतः अस्पृश्यों के लिए सिर्फ एक ही रास्ता बचा है कि वे आम निर्वाचन-क्षेत्र में चुनाव लड़ें। यह उचित होता यदि चुनाव लड़ने के लिए सभी को बराबर की आजादी मिली होती। शास्त्रों के जरिए अस्पृश्यों को स्पृश्य-समर्थक बनने की और स्पृश्यों को अस्पृश्य-विरोधी बनने की शिक्षा दी जाती है और फिर कहा जाता है कि दोनों खुला चुनाव लड़ें। यह तो मतिभ्रम अथवा चालबाजी के लक्षण हैं। लेकिन इस बात को तो याद रखना ही होगा कि कांग्रेस में अधिकतर ऐसे लोग हैं, जिनका मुखौटा तो राजनीतिक आमूल परिवर्तनवादियों का है, पर हैं वे सामाजिक रूढ़िवादी। उनका सिद्धांत है कि सामाजिक तथा राजनीतिक दो अलग-अलग क्षेत्र हैं। उनका आपस में कोई संबंध नहीं है। उनकी दृष्टि में समाज तथा राजनीति के दो अलग-अलग सूट हैं और उन्हें मौसम के अनुसार अदल-बदल कर ही पहना जा सकता है। ऐसी मनोवृत्ति तो केवल हास्यास्पद है, क्योंकि यह इतनी स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति है कि उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए गंभीरता से विचार करने की भी जरूरत नहीं। चूंकि ऐसी मनोवृत्ति में दृढ़ विश्वास के अपने फायदे होते हैं, अतः वह सहज ही समाप्त भी नहीं होगी। कांग्रेस की गतिविधियों की शुरूआत ही इस अस्वाभाविक

आधार वाक्य से हुई है, अतः उनमें यह वृत्ति रच गई है। जो लोग कांग्रेस के सम्मेलनों में भाग लेते हैं, वे उसी पंडाल में हो रही नेशनल सोशल कांफ्रेंस की उपेक्षा करते हैं। तथ्य तो यह है कि कांग्रेस सम्मेलनों में भाग लेने वालों ने एक बार यह अभियान छेड़ा था कि उस कांफ्रेंस को पंडाल के इस्तेमाल की अनुमति न दी जाए, जिसे उनकी प्रेसिडेंसी के बुद्धिजीवियों के केन्द्र पूना में पंडाल के उपयोग की अनुमति नहीं दी गई थी। कांग्रेस गैर-राष्ट्रीय अथवा राष्ट्र-विरोधी संगठन है। अतः सांप्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडलों के बारे में उसके विचार गंभीरता से विचार योग्य नहीं हैं।

34. उदारवादियों ने अपनी बैठक में न्याय की अपेक्षा उदारता का प्रदर्शन अधिक किया है। उनका प्रस्ताव था कि बहुसंख्यक निर्वाचन-क्षेत्रों में पिछड़े समुदायों के लिए सीटों का आरक्षण कर दिया जाए। उन्होंने अस्पृश्यों के लिए सीटों की संख्या नहीं बताई है। लेकिन अनेक प्रबुद्ध उदारवादियों तथा अन्य लोगों की उदार भावना यह है कि इतना पर्याप्त होगा कि विधान परिषद में अस्पृश्यों के एक या दो प्रतिनिधि चुन लिए जाएं। इन महानुभावों से सहमत होने की कोई गुंजाइश नहीं है, भले ही इस सहानुभूति के लिए उनका आभार व्यक्त किया जा सकता है। अस्पृश्यों के एक या दो प्रतिनिधियों का होना, न होने के बराबर है। विधान परिषद कोई अजायब घर तो है नहीं। उसके पास तो शक्तियां होंगी और वह समाज के भविष्य को बना अथवा बिगाड़ सकेगी। एक या दो अस्पृश्य प्रतिनिधि क्या कर सकते हैं? न तो वे अपनी दशा सुधारने के लिए किसी बिल को पास करा सकते हैं और न ही वे अपनी दशा को दयनीय बनाने वाले किसी बिल को रोक सकते हैं। साफ बात तो यह है कि उच्च जाति के सवर्ण हिन्दुओं को दी जाने वाली राजनीतिक सत्ता से अस्पृश्य अधिक कल्याण की आशा नहीं कर सकते। भले ही सत्ता का उपयोग अस्पृश्यों के विरुद्ध न किया जाए, पर इस बारे में हम पूर्णतया आश्वस्त नहीं हो सकते। यह भी तो हो सकता है कि उसका उपयोग उनकी भलाई के लिए न किया जाए। विधान परिषद पूर्ण सत्तासंपन्न हो सकती है। वह जो चाहे करे, पर वह क्या करना चाहेगी, यह उसके स्वरूप पर निर्भर करेगा। हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि भले ही ब्रिटिश संसद कुछ भी करने के लिए पूर्णतः समर्थ है, पर वह अपने चहेतों के अनुचित परिक्षण को अवैध नहीं ठहराएगी। भले ही सुल्तान समर्थ है पर वह मुहम्मद के धर्म में परिवर्तन नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि भले ही पोप समर्थ है, पर वह ईसा मसीह के धर्म को पलट नहीं सकता। उसी प्रकार जिस विधान-मंडल में अधिकांश उच्च जाति के लोग होंगे, वह ऐसा कानून पास नहीं करेगा जो अस्पृश्यता को मिटाए, अंतर्जातीय विवाहों की अनुमति दे, सार्वजनिक मंदिरों, स्कूलों तथा सड़कों के इस्तेमाल पर लगी रोक को दूर करे और संक्षेप में कहा जाए तो जो अस्पृश्यों के व्यक्तित्व को शुद्ध करे। इसका कारण यह नहीं है कि वे ऐसा कर नहीं सकते, बल्कि वे करेंगे नहीं। विधान-मंडल सामाजिक स्थिति की उपज है और जो समाज की स्थिति का निर्धारण करता है, वही उसकी शक्ति का भी निर्धारण करता है। यह बात इतनी साफ है कि उसका खंडन नहीं किया जा सकता। भविष्य में क्या घटना घट सकती है, उसका

अनुमान अतीत की घटना से लगाया जा सकता है। कांउसिल में उच्च जाति के लोग नहीं चाहते कि विधान-मंडल के सामने कोई सामाजिक समस्या लाई जाए। इंपीरियल विधान परिषद में 1916 में माननीय श्री दादाभाई नौरोजी ने जो संकल्प प्रस्तुत किया था, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह सबको पता है और उसे दुहराने की जरूरत नहीं है कि जो अनेक लोग अस्पृश्यों के प्रति कुछ सहानुभूति रखते हैं, उन्होंने इसकी कटु आलोचना की। लेकिन इस बात का किसी को पता नहीं है कि यद्यपि संकल्प पास नहीं हुआ था, प्रस्तावक को माफ नहीं किया गया, क्योंकि ऐसे अप्रिय संकल्प को लाना ही पाप माना गया। बाद के चुनाव में प्रस्तावक को हटना पड़ा और उनके स्थान पर माननीय श्री खापरडे आए, जिन्होंने एक बार एक लेख में कहा था : 'जो अस्पृश्यों के उत्थान के लिए कार्य करते हैं, स्वयं निम्नकोटि के हैं।'

अस्पृश्यों के प्रति उच्च जाति के सवर्णों की यह सहानुभूति क्या प्रतिशोधपूर्ण सहानुभूति नहीं है?

35. जो यह फरमाते हैं कि अस्पृश्यों के लिए एक या दो सदस्य काफी होंगे, वे राजनीतिक हक के सही आशय को नहीं समझते। भले ही सारांश रूप में तकनीकी दृष्टि से यह कहा जाता है कि राजनीतिक हक का मुख्य आशय वोट देने का अधिकार है, पर न तो वह कानूनों के अथवा कानून बनाने वालों के पक्ष में वोट देने का अधिकार है। न तो वह किसी बिल के पक्ष या विपक्ष में बोलने का अधिकार है और न ही नाम पुकारे जाने पर हां अथवा ना कहने की योग्यता है। अनेक लिखित नामों वाले कागज के टुकड़े को मतदान पेटी में डालने की योग्यता ऐसा कार्य है जो उक्त कार्यों की भांति स्वयं कोई महत्व नहीं रखता, भले ही उस पर दिनचर्या के अनेक सर्वाधिक सामान्य कार्यों से स्वतः बेहतर होने का ठप्पा लगा दिया जाए। वे किसी अन्य कार्य की भांति शिक्षाप्रद हैं। मताधिकार अथवा राजनीतिक अधिकार का महत्व यह है कि उन शर्तों के विनियमन में सक्रिय तथा सीधी भागीदारी का अवसर दिया जाए, जिन पर सामाजिक जीवन आधारित होगा। जिन शर्तों पर आज स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों का सामाजिक जीवन निर्भर है, वे स्पृश्यों के लिए अति अपयशकारी तथा अस्पृश्यों के लिए अति घातक है। यदि लोगों की क्षमताओं को कारगर बनाना है तो उनके प्रयोग की सामाजिक शर्तों को निश्चित करने की शक्ति होनी ही चाहिए। यदि शर्तें अत्यंत कठोर हों तो यह स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों, दोनों के हित में होगा कि शर्तों में संशोधन किया जाए। अस्पृश्यों की ऐसी स्थिति होनी ही चाहिए कि वे संशोधन को अपने अनुकूल करा सकें। उनके हितों के महत्व को देखते हुए यथा प्रस्तावित उन्हें उनका प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में मिलना चाहिए। एक या दो प्रतिनिधि का होना यह प्रदर्शित करता है कि उन्हें अनुकंपा के आधार पर लिया गया है। यह न तो न्यायोचित है और न ही पर्याप्त। जैसा कि लार्ड मौर्ले के पिछले उद्धरण में कहा गया है, प्रतिनिधित्व जरूरतों के अनुसार होना चाहिए, न कि संख्या के अनुसार।

36. हाल ही में दलित वर्ग मिशन द्वारा अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व के बारे में एक विरोधी योजना कार्यान्वित की गई है। उसे सहयोजन की योजना कहा जाता है। योजना

में प्रस्ताव रखा गया है कि अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों को कांउसिल के निर्वाचित सदस्यों के सहयोजन से नामित किया जाए। यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अस्पृश्यों के लिए मिशन के प्रयोजन को हास्यास्पद माना जाए या उस पर खेद प्रकट किया जाए। खेद इस बात का है कि इस प्रकार की बेतुकी योजना प्रायः स्वीकार की जाएगी। अतः उसका उपहास करना ही ठीक है। इस योजना से आसानी से पता लगाया जा सकता है कि जिसे कभी-कभी परोपकारी हित कहा जाता है, उसका दूसरा रूप भी हो सकता है, जिसके अनुसार अस्पृश्यों को यह बताया जाता है कि उनका भला किस बात में होगा। इस संबंध में अस्पृश्यों के विचारों से सहमत होने का प्रयास नहीं किया जाता, ताकि वे अपनी भलाई की खोज कर सकें तथा उसे प्राप्त कर सकें। यह कहना होगा कि मिशन की स्थापना इस उद्देश्य से ही गई थी कि दलितों की दशा सुधारी जाए और उन्हें उच्च जाति के लोगों के सामाजिक अत्याचारों से मुक्त कराया जाए। यह मिशन इतना असफल सिद्ध हुआ कि उसे ऐसी योजना का समर्थन करना पड़ा, जिससे उसके आश्रित या उनके प्रतिनिधियों को अपने विगत आकाओं का दास बनना पड़ेगा। इस प्रकार आकाओं तथा मिशन से मिलकर एक योजना तैयार की है, जिसके अधीन दलित वर्ग सदैव पद-दलित रहेंगे और उनकी मुक्ति की कोई आशा नहीं रहेगी। ऐसे हथकंडे अस्पृश्यों को धोखा नहीं देते, जबकि वे अनभिज्ञ हैं; मताधिकार समिति को तो वे क्या धोखा दे सकेंगे। एक अन्य दृष्टि से भी मिशन की योजना स्वीकार नहीं की जा सकती। यह देखकर खेद होता है कि मिशन एक ओर तो अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की योजना प्रस्तुत कर रहा है, और दूसरी ओर अपनी प्रशासी परिषद में अस्पृश्य को लेने से बराबर मना कर रहा है। चूंकि यह मिशन निहित स्वार्थों वाला एवं अनौपचारिक है, अतः उसकी योजना को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।

37. भले ही सरकार द्वारा नामित का रूप पहले नामित के रूप से बेहतर हो, पर अस्पृश्यों की दृष्टि से इस पर आपत्ति की जा सकती है। वह प्रतिनिधियों की आजादी पर तो पाबंदी लगाता ही है, उसके साथ-साथ वह ऐसी राजनीतिक शिक्षा देने में असमर्थ है, जिसकी सभी समुदायों, विशेषकर अस्पृश्यों को तत्काल जरूरत है।

38. इस अवस्था में हमें साम्प्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के विरूद्ध दिए गए तर्क पर विचार करना ही चाहिए। रिपोर्ट तैयार करने वालों ने जो प्रथम तर्क प्रस्तुत किया है, उसका आशय है कि 'जिन राष्ट्रों ने स्वशासन का विकास किया है, उनका इतिहास निश्चय ही संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के विरुद्ध है।' लेकिन पिछले पृष्ठ पर रिपोर्ट तैयार करने वालों ने कहा है कि भारतीय समाज का सही चित्र उपस्थित करते समय जाति और वर्णों के अंतर को 'ध्यान में रखना होगा, क्योंकि भारतीय समाज के विचार उन विचारों से मेल नहीं खाते, जिन पर विश्व में अन्यत्र प्रतिनिधि संस्थाएं आधारित हैं' (पृ. 97)। पहली बात को लिखते समय स्थिति का बाद का विश्लेषण उनके दिमाग में नहीं रहा होगा, अन्यथा हमें कहना होगा कि संभवतः रिपोर्ट तैयार करने वालों के दिमाग में एक साथ दो परस्पर विरोधी विचार रहे होंगे। दोनों को पास-पास रखकर देखा जाए तो रिपोर्ट तैयार करने

वालों से यह आशा करनी ही होगी कि वे एक असाधारण स्थिति का सामना करने के लिए एक असाधारण उपाय के रूप में संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के प्रति सहमत हैं।

39. एक अन्य तथा खास तर्क संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के विरुद्ध यह है कि उसके आधार पर सामाजिक विभाजन जारी रहेगा। कैसा मजाक है कि जो लोग सामाजिक विभाजनों के पक्षधर हैं, वे ही इस प्रतिकूल तर्क के सबसे बड़े समर्थ हैं। समिति को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जो लोग इस आधार पर संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व का विरोध करते हैं, वे ही श्री पटेल के अंतर्जातीय विवाह विधेयक के सबसे कट्टर विरोधी हैं और इसे जाति-तोड़क विधेयक मानते हैं। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले महानुभावों की ईमानदारी पर संदेह किया जा सकता है। लेकिन चूंकि रिपोर्ट तैयार करने वालों ने भी इसे संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के विरोध में गौण रूप में प्रस्तुत किया है, अतः यदि संभव हो तो इस तर्क का सामाधान किया जाना चाहिए।

क्या संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व सामाजिक विभाजन बनाए रखेंगे? यदि आप संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व को इस दृष्टि से देखें कि वह सामाजिक विभाजनों को निर्वाचक-मंडलों का रूप देता है, तो आलोचना को उचित कहा जा सकता है। यह तभी सही होगा, जब पहले से यह मान लिया जाए कि ये विभाजन कोई वास्तविक विभाजन नहीं है और उनका कोई महत्व नहीं है। यह तो वैसा ही मिथ्यापूर्ण धारणा है जैसी कि भारत को प्रलोभन देने के लिए की जाती है और कहा जाता है कि अंग्रेज तो असामाजिक हैं। संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के इस लाभ-विशेष को तो मानते हैं और उसका विरोध इस आधार पर करते हैं कि उसके कारण सामाजिक विभाजन बना रहेगा, उन्हें यह बताया जा सकता है कि एक अन्य दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व सामाजिक विभाजनों को जारी नहीं रखता, बल्कि वह तो उन्हें समाप्त करने का एक उपाय है।

40. जब संप्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडलों और सामाजिक विभाजनों का एक ही लक्ष्य होगा, तब उनका प्रमुख प्रभाव यह होगा कि अलग-अलग जातियों के जो लोग वैसे आपस में नहीं घुलते-मिलते, उन्हें वे एकजुट करके विधान परिषद में लाएंगे। इस प्रकार विधान परिषद भागीदारी का एक नया क्षेत्र बन जाएगी। उसमें विभिन्न जातियों के वे प्रतिनिधि आपस में जुड़े जाएंगे, जो अभी तक अलग-थलग थे और उसके कारण असामाजिक थे। सामुदायिक एवं सामूहिक जीवन में सक्रिय भागीदारी, भागीदारों की मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति पर अवश्य ही प्रभाव डालेगी। आज जाति अथवा धर्म की एक निश्चित प्रवृत्ति है। लेकिन जब तक जाति या वर्ग अलग-थलग रहेंगे, तब तक उनकी प्रवृत्ति जड़ अवस्था में रहती है। जैसे ही अनेक जातियां अथवा समूह आपस में संपर्क एवं सहयोग करने लगते हैं तो उसके फलस्वरूप जड़ प्रवृत्ति का निश्चित रूप से पुनः समाजीकरण होने लगता है। यदि मुसलमानों, ईसाइयों आदि के प्रति हिन्दुओं की प्रवृत्ति का और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों, ईसाइयों, आदि की प्रवृत्ति का तथा अस्पृश्यों के प्रति स्पृश्य हिन्दुओं की प्रवृत्ति का पुनः समाजीकरण हो जाए, तो जातियां और विभाजन समाप्त हो जाएंगे। यदि जाति एक प्रवृत्ति है और उसके अलावा और कुछ नहीं है तो उसे तब समाप्त हुआ माना जाएगा,

जब जाति की प्रतीक प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाएगी। लेकिन विभिन्न जातियों तथा समूहों की वर्तमान रूढ़िवादी प्रवृत्ति तभी समाप्त होगी, जब विभिन्न समूह आपस में मिल-जुलकर सामूहिक गतिविधियों में हिस्सा लें। मनोवृत्ति के ये परिवर्तन क्षणभंगुर नहीं होंगे, बल्कि उनके फलस्वरूप परिषद भवन से बाहर का सामूहिक जीवन प्रभावित होगा। जितनी संख्या में ऐसी सामूहिक गतिविधियों के लिए अवसर पैदा किए जाएंगे, उतना ही अधिक अच्छा होगा। तब बड़े पैमाने पर पुनः समाजीकरण होगा और उसके फलस्वरूप और भी तेजी से जातियां और समूह समाप्त हो जाएंगे। इस प्रकार जो लोग वर्तमान विभाजन को अक्षुण्ण रखने के आधार पर संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व की निंदा करते हैं, वे यदि विचार करें तो उसका स्वागत करेंगे और उसे उनके उन्मूलन के लिए एक सशक्त साधन मानेंगे।

41. इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि अस्पृश्यों के लिए पर्याप्त संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व जरूरी भी है और महत्वपूर्ण भी। इस संबंध में व्यक्त अस्पृश्यों की भावनाएं कितनी प्रबल होती हैं, उसका अंदाजा सहज ही उस समय लग गया होगा, जब मद्रास प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों ने श्री मोंटेग्यू से कहा था कि यदि भारत के लिए स्वशासन के साथ संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व को नहीं जोड़ा गया तो रक्तपात होगा। लेकिन रिपोर्ट तैयार करने वालों ने बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति अपने मन में यह आस्था बना ली है कि वे अस्पृश्यों को स्थायी सामाजिक अधोगति तथा बहिष्कार से उबारने के लिए सभी प्रकार के सुधार लागू करवा देंगे। वे कहते हैं, 'हमारे विचार में शिक्षित भारतीय राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही नहीं, बल्कि विभिन्न प्रकार की लोक तथा समाज सेवा के भी प्रयास कर रहे हैं।' चूंकि रिपोर्टकर्ताओं ने अस्पृश्यों की मांगों की अनदेखी की है, अतः यह पता लगाना उचित है कि क्या वे प्रमाणित निष्ठा वाले लोग थे। शिक्षा तथा उसके सामाजिक महत्व के बारे में जोसफ एडीसन के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है। उन्होंने कहा है : 'मानव समाज के लिए इससे अधिक अहितकर बात और कोई नहीं होगी, जब प्रतिभाशाली व्यक्तियों का मान-सम्मान उनकी प्रतिभाओं के लिए इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना किया जाए कि उनका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। प्राकृतिक देन तथा कला प्रवीणता मूल्यवान होती है, लेकिन चूंकि उन्हें गुणों के लिए काम में लाया जाता है अथवा उन पर मान-सम्मान के नियम लागू होते हैं, अतः हमें चाहिए कि निरपेक्ष भाव से देखें और अपने संपर्क में आने वाले लोगों में प्रतिभा के दर्शन इस आधार पर ही करें कि हमें उनकी मनोवृत्ति के बारे में कोई खास बात दिखी है या उसके बारे में कोई अच्छी जानकारी मिली है, अन्यथा वे हमें उन लोगों का भक्त बना देंगे, जिनके बारे में हमारा ज्ञान और विवेक कहेगा कि हमें तो उनसे घृणा करनी चाहिए थी।'

42. आंकड़े प्रमाण हैं कि बुद्धिजीवी वर्ग और ब्राह्मण एक-दूसरे के पर्याय हैं। बुद्धिजीवी मनोवृत्ति ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति है। उसका दृष्टिकोण ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण है। हालांकि वह वाणी से सर्वहित की बात करता है, पर ब्राह्मण नेता किसी प्रकार जन-नेता नहीं होता। अधिक से अधिक वह अपनी जाति का नेता होता है, क्योंकि जितनी सहानुभूति उसकी उनके लिए होती है, उतनी अन्य किसी के लिए नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं

है कि ऐसे ब्राह्मण हैं ही नहीं, जो अस्पृश्यों से सहानुभूति रखते हों। ठीक-ठीक कहा जाए तो कुछ ब्राह्मण काफी उदार तथा विचारवान हैं। वे स्वीकार करते हैं कि अमूर्त रूप में अस्पृश्यता की प्रथा एक राक्षसी प्रवृत्ति है और समाज को उससे गंभीर खतरा है। लेकिन अधिसंख्य हठधर्मी ब्राह्मण ऐसा नहीं सोचते। वे बड़ी अभूतपूर्व मात्रा में उपलब्ध कराए गए प्रमाण और प्रतिदिन का प्रचुर अनुभव होते हुए भी इस प्रथा के भंयकर रूप को अस्वीकार करते हैं। वे जब आजादी की बात करते हैं तो उसका अर्थ होता है कि उन्हें आजादी है कि वे अपने मानवों का दमन करें और उनके प्रति बर्बर, निर्दयी तथा क्रूर बनें। उनके मनमाने अधिकार का विकास केवल अस्पृश्यों के अहित में ही हो सकता है। उनकी भावना न तो यह सहन करेगी कि अंग्रेज लोग उनसे ऊंचे हैं और न ही यह सहन करेगी कि एक अस्पृश्य का दर्जा उनके बराबर है, और उनसे जो नीचा है उसे उनकी छाया से भी दूर रहना चाहिए। यह है उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक मनोवृत्ति का सही सार। जो लोग ब्राह्मण नेताओं की समाज-विरोधी भावना की आलोचना करते हैं, उन्हें यह चेतावनी दी जाती है कि अपनी आलोचना में ब्राह्मण नेताओं की प्रथम श्रेणी के अस्तित्व की ओर समुचित ध्यान नहीं देते। निस्संदेह ऐसा है। उनमें व्यक्तिगत तथा आर्थिक त्याग के बहुत कम उदाहरण पाए जा सकते हैं। उसी प्रकार उनकी अस्वाभाविक शक्ति के प्रयोग में नरमी दिख सकती है। फिर भी, आंशका है कि इस अन्याय को उस स्थिति से जुदा नहीं किया जा सकता, जिससे कि मानवता तथा सच्चाई का वास्ता पड़ता है। अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति इसलिए कुछ अधिक सहनीय नहीं हो जाती कि कुछ उदार लोग सहानुभूति दिखाएंगे ही। न ही सच्चे व न्यायोचित क्रोध की प्रतिकूल बाढ़ रुक सकती है, क्योंकि अपने प्रबल वेग में वह उन चंद लोगों को भी निगल जाएगी, जो दोषियों की भीड़ में अपेक्षाकृत निर्दोष हैं।

43. भारत में राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति हमें यह विश्वास नहीं दिलाती कि जो चंद लोग सहानुभूति रखते हैं, उनकी संख्या बढ़ेगी। दूसरी ओर निश्चय ही समय के साथ-साथ दोषियों की भीड़ बढ़ती जाएगी। राजनीतिक संघर्ष में तेजी आने से सामाजिक सुधार का संघर्ष न केवल मंद, बल्कि ठंडा ही पड़ गया है। प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज का उत्थानकारी प्रभाव अब अतीत का हिस्सा बन गया है। भविष्य में भी इनकी अधिक संभावना नहीं है। यदि शिक्षा का प्रचार-प्रसार केवल एक ही वर्ग तक सीमित रहा तो जरूरी नहीं कि उससे उदारवाद पनपेगा ही। इससे वर्ग हित का औचित्य तथा संरक्षण सिद्ध हो सकता है। हो सकता है कि इससे दलितों के उद्धारक एवं सुधारक पैदा न हों, बल्कि अतीत और यथास्थिति के पक्षधर एवं समर्थक पैदा हो जाएं। अब तक की शिक्षा का क्या यह प्रभाव नहीं देखा गया है? यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि अन्य बातें समान होते हुए भी यह भविष्य में एक नया मार्ग अपनाएगी। अतः अस्पृश्यों को उच्च जातियों के रहमो-करम पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि बुद्धिमानीपूर्ण नीति तो यह होगी कि स्वयं अस्पृश्यों को शक्ति दी जाए। वे औरों की तरह सत्ता के भूखे नहीं हैं। वे तो समाज में केवल अपने सहज-स्वाभाविक स्थान के लिए आग्रह करना चाहते हैं।

44. इस व्यापक विश्वयुद्ध का उद्देश्य जो भी रहा हो, पर उसने आत्म-निर्णय के सिद्धांत को जन्म दिया है और वही भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का आधार होगा। यह प्रसन्नता की बात है कि 20 अगस्त, 1917 की घोषणा में कहा गया है कि इस सिद्धांत को भारत पर लागू किया जाएगा। उसमें इस नियम का प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्येक देशवासी को यह निर्णय करने का अधिकार होगा कि वे किन परिस्थितियों में रहें। यह इस सिद्धांत के महत्व की अधूरी अनुभूति का लक्षण होगा, यदि इसकी प्रयुक्ति को केवल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों तक सीमित रखा गया, क्योंकि मतभेद केवल राष्ट्रों के बीच ही नहीं होते हैं, बल्कि किसी देश के वर्गों के बीच भी होते हैं। हमारे भारतीय राजनेता अपने राजनीतिक तथा जोशीले भाषणों में जान-बूझकर भारत के लोगों की कानूनी संकल्पना का राग अलापते हैं। कानूनी संकल्पना में भारत के लोगों का ऐसा चित्र खींचते हैं मानो भारत के लोगों का स्वभाव एक-सा है। वे इन गुणों पर बल देते हैं, यथा प्रयोजन और कल्याण का प्रशंसनीय समुदाय, लोकहित के प्रति निष्ठा, इस एकता से जुड़ी परस्पर सहानुभूति। आशा है कि समिति इस बात का अनुभव अवश्य करेगी कि कानूनी तथा वास्तविक संकल्पनाएं किस प्रकार टकराती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पर ध्यान दिया जा सकता है। अंग्रेजों ने भारत के लोगों पर विजय प्राप्त करके उन्हें गुलाम बनाया, यह अनैतिक बुराई ब्राह्मण राजनेताओं के लिए अतिप्रिय विषय है। वे कभी उससे लाभ उठाने से नहीं चूकते। इन अनैतिकताओं का चित्रण जान शोर ने एक बार अपने 1832 में लिखे नोट्स आन इंडियन अफेयर्स (भारतीय मामलों संबंधी टिप्पण) में किया था। स्वर्गीय माननीय श्री गोखले ने भी एक बार इसी भावना को व्यक्त किया था। तब वह 'विदेशी एजेंसी बड़ी महंगी है' विषय पर बोल रहे थे। उन्होंने कहा था :

> अनैतिक बुराई सबसे बढ़कर होती है। वर्तमान पद्धति के अधीन भारतीयों को एक प्रकार से बौना बनाया जा रहा है। हमें जीवन-भर सदैव हीनता के वातावरण में जीना होगा। हममें से सर्वोच्च व्यक्ति को घुटने टेकने ही पड़ेंगे और वर्तमान पद्धति की अपेक्षाओं को पूरा करना होगा। यह तो अवश्य कहूंगा कि ऊंचा उठने की हमारी सहज भावना को कुचला जाता है। ईटन तथा हैरो में पढ़ने वाला हर छात्र इसे अनुभव कर सकता है। वह सोच सकता है कि एक दिन वह ग्लैडस्टन अथवा नैपोलियन अथवा वेलिंग्टन बन सकता है। उसके लिए वह अपनी योग्यतानुसार भरसक प्रयास कर सकता है। वर्तमान पद्धति के अधीन हमारा पौरुष उस पूरी बुलंदी को कभी नहीं छू सकता, जिस तक कि वह पहुंच सकता है। प्रत्येक स्वाशासी व्यक्ति जिस नैतिक उत्थान को अनुभव कर सकता है, उसे हम अनुभव नहीं कर सकते। हमारी प्रशासनिक तथा सैनिक प्रतिभाएं धीरे-धीरे समाप्त हो जाएंगी। उनका उपयोग होता ही नहीं और अंत में हम अपने ही देश में लकड़हारे और कहार बनकर ही रह जाएंगे।

45. मैं समिति का ध्यान इस ओर दिलाना चाहता हूं कि ब्रिटिश नौकरशाही की निंदा करने के लिए एक ब्राह्मण ने (निश्चित रूप से एक उदार ब्राह्मण ने) जो ये भावनाएं व्यक्त की हैं, क्या उन्हें और भी मुंहतोड़ तरीके से ब्राह्मण कुल तंत्र की निंदा करने के लिए

अस्पृश्य व्यक्त नहीं कर सकते? नौकरशाही की प्रशंसा में कहा जा सकता है कि उसने संगदिल होने के आरोप को झुठला दिया है और अस्पृश्य की भावना के प्रति संवेदना प्रकट की है तथा उस शासन-पद्धति में परिवर्तनों का प्रस्ताव किया है, जिसने उन लोगों के व्यक्तित्व को बौना बना दिया है, जिनके लिए वह तैयार की गई थी। लेकिन क्या ब्राह्मण इससे आधी उदारता का भी दावा कर सकता है? उसका विश्वास है कि हिन्दू समाज-व्यवस्था तो सर्वांगपूर्ण और सनातन है, उसे उसके पूर्वजों ने ऐसा बनाया है। वे तो अतिमानव और त्रिकालदर्शी थे और उन्हें भावी युगों की सनातन-व्यवस्था बनाने की अलौकिक शक्ति प्राप्त थी। जाति श्रेष्ठता की इस कट्टर रूढ़िवादिता ने हिन्दू समाज के पुनर्निर्माण को रोका है और सर्वहित के लिए निहित स्वार्थ वाले अधिकारों के संशोधन में बाधा डाली है। बंबई में मार्च 1918 में अस्पृश्यता को मिटाने के लिए एक सम्मेलन का स्वांग रचा गया था। यद्यपि कार्विर के शंकराचार्य डाक्टर कुर्तकोटि ने सम्मेलन में भाग लेने का वचन दिया था, पर सम्मेलन से ठीक एक-दो दिन पूर्व कुछ अपरिहार्य कार्य से वह उत्तर भारत के लिए रवाना हो गए। श्री तिलक को सम्मेलन में एक संक्षिप्त भाषण देने का गौरव प्राप्त है, लेकिन उनका सौभाग्य है कि उसे समाचार-पत्रों में प्रकाशित ही नहीं किया गया। लेकिन वह अस्पृश्यों की आंखों में धूल झोंकने के लिए दिखावटी सहानुभूति थी, क्योंकि जब अस्पृश्यता निवारण के घोषणापत्र का प्रारूप श्री तिलक के सामने रखा गया, तो विश्वसनीय प्रमाण से पता चला है कि उन्होंने उस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।

46. यहां एक राष्ट्र के भीतर प्रत्यक्ष असमरसता को उजागर किया गया है। अतः यह आत्मनिर्णय के सिद्धांत को लागू करने के लिए समुचित क्षेत्र है। यदि उन्नत वर्ग भारत पर उसे लागू करने के लिए शोर मचा रहे हैं और भले ही सत्तारूढ़ शक्तियों ने उसे अंशतः स्वीकार कर लिया है ताकि भविष्य में भारत के लोगों को बौना न बनाया जा सके, तो क्या न्याय की दृष्टि से अस्पृश्य अपने हित में उसके लाभ की मांग नहीं कर सकते? यदि अस्पृश्यों के लिए आत्म-निर्णय की जरूरत को स्वीकार किया जाता है, तो उन्हें संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व तथा आत्म-निर्णय दो अलग-अलग शब्द हैं, पर उनका भाव एक ही है।

श्री भीमराव अम्बेडकर
का
लिखित अनुपूरक बयान

1. इस अनुपूरक बयान का प्रमुख उद्देश्य यह दिखाना है कि अपने पिछले बयान में बंबई प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों के लिए प्रतिनिधित्व की जिस योजना की सिफारिश मैंने की हैं, उसे किस प्रकार प्रतिनिधित्व की उस योजना के चौखटे में फिट किया जा सकता है, जिसका प्रस्ताव विधान परिषद के गठन के लिए बंबई सरकार ने किया है।

2. विभिन्न प्रमुख निर्वाचन-क्षेत्रों में सरकार ने जो सीटें निर्धारित की हैं, सर्वप्रथम तो मैं उनकी संख्या में कुछ परिवर्तनों का प्रस्ताव करना चाहूंगा। प्रस्तावित अनेक परिवर्तनों को नीचे दी गई सारणी में दर्शाया गया है।

निम्न के लिए सीटों का बंटवारा	**सरकार द्वारा**	**मेरे द्वारा**	
1-सिंध के जमींदार और जागीरदार	1	1	
2-गुजरात के सरदार	1	1	
3-दक्षिण के सरदार	1	1	
4-बंबई विश्वविद्यालय	2	2	
5-यूरोपीय	4	4	
6-सिंध के हिन्दू	3	4	
7-मुसलमान		18	10
8-छह नगर	18	17	
9-प्रेसिडेंसी के 26 जिले	52	60	
कुल योग	100	100	

3. जहां तक उक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में 1, 2, 3, 4, और 5 के लिए प्रस्तावित निर्वाचन-प्रणाली का संबंध है, मैं सरकार से सहमत हूं।

4. सरकार ने सिंध के हिन्दुओं के लिए तीन सीटें रिजर्व की हैं। मैंने उनके लिए चार का प्रस्ताव किया है। उनमें से एक सिंध के अस्पृश्यों के लिए अलग से निर्धारित की जाए और उसे संप्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडल द्वारा भरा जाए।

5. छह नगरों के लिए मैंने 17 सीटें रिजर्व की हैं। मेरा प्रस्ताव है कि इनमें से दस बंबई को दी जाएं। दस में से एक सीट नगर के अस्पृश्यों को दी जाए और उसे संप्रदाय आधारित निर्वाचक-मंडल द्वारा भरा जाए।

6. अभी तक यह दर्शाया गया है कि सिंध के अस्पृश्यों तथा बंबई में उनके भाइयों के लिए कैसे व्यवस्था की जा सकती है। इन दो सीटों के अलावा प्रेसिडेंसी खास (बंबई नगर को छोड़कर) के अस्पृश्यों को सात सीटें आबंटित की जाएंगी। यह मैंने अपने पिछले बयान के पृष्ठ 32 पर बता दिया है। इस प्रकार प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों के लिए नौ सीटों की व्यवस्था की जाए। दलित वर्गों की परिभाषा करने में बंबई सरकार कठिनाई अनुभव कर रही है।

कठिनाई कोई वास्तविक कठिनाई नहीं है, क्योंकि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए अस्पृश्य तथा दलित वर्ग में कोई भेद नहीं है। अस्पृश्यों की अधोगति के बारे में बंबई सरकार को पूरी जानकारी है। अतः उसकी कठोरता खेदजनक है। बंबई सरकार ने

दलित वर्गों के लिए प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करने से मना कर दिया है। ऐसा करके उसने जान-बूझकर महानतम हितों को खतरों की सबसे गहरी खाई में फेंक दिया है। मुझे पूरा विश्वास है कि समिति ऐसा नहीं होने देगी।

7. साठ में से सात सीटों को निकाल कर शेष 53 के बारे में मेरा प्रस्ताव है कि उन्हें 26 जिलों की स्पृश्य जनसंख्या में इस प्रकार बांट दिया जाए :

भले ही मैं सरकार से पूरी तरह सहमत नहीं हो सकता, फिर भी मैं अपनी स्वीकृति देता हूं कि जिलावर दो के हिसाब से सिंध के सात जिले 14 सदस्य चुनें। लेकिन जो 19 जिले सिंध के बाहर हैं, उनके लिए मेरा विचार है कि दो सदस्यों वाला निर्वाचन-क्षेत्र पर्याप्त नहीं होगा। मुख्यतः उसका कारण यह है कि स्पृश्य हिन्दू जनसंख्या सजातीय नहीं है। स्पृश्य हिन्दुओं के उप-विभाजनों की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हमें कम से कम कुछ मामलों में तो दो-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र के सिद्धांत को छोड़ना होगा। [91(2)] विचाराधीन 19 जिलों के बीच उन 39 सीटों को बांटने के लिए मैं पहले भाषा के आधार पर जिलों के समूह इस प्रकार बनाना चाहूंगा :

जिले	**स्पृश्य हिन्दू जनसंख्या**
1. गुजराती	
(1) अहमदाबाद	614,286
(2) भड़ोंच	170,545
(3) खेड़ा	556,667
(4) पंचमहाल	259,929
(5) सूरत	535,236
कुल योग	21,36,663
2. मराठी	
(1) थाणे	736,915
(2) कोलाबा	509,158
(3) रत्नागिरी	1,003,240
(4) अहमदनगर	738,747
(5) खानदेश पूर्व	789,740
(6) खानदेश पश्चिम	437,391
(7) नासिक	745,965
(8) सतारा	883,488
(9) पूना	858,607
(10) शोलापुर	574,152
कुल योग	**72,77,403**

जिले	स्पृश्य हिन्दू जनसंख्या
3. कन्नड़	
(1) बेलगांव	734,598
(2) बीजापुर	677,041
(3) धारवाड़	820,345
(4) कनारा	372,857
कुल योग	**26,04,841**

संबंधित 19 जिलों में स्पृश्य हिन्दुओं की कुल संख्या 12,018,907 है।

बंटवारे के लिए 39 सीटों में से आठ सीटें गुजराती जिलों को, 23 मराठी जिलों को और आठ कन्नड़ जिलों को देना चाहूंगा।

वास्तविक निर्वाचन-क्षेत्र इस प्रकार होंगे :

भाषायी जिले	प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या	निर्वाचन-क्षेत्र की संख्या	निर्वाचन-क्षेत्र द्वारा चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या
1	2	3	4
	1. गुजराती		
(1) अहमदाबाद	614,286	1	2
(2) भड़ोंच (3) खेड़ा	727,212	2	3
(4) पंचमहाल (5) सूरत	795,165	3	3
	2. मराठी		
(1) थाणा (2) कोलाबा	1,246,073	4	4
(3) रत्नागिरी	1,003,240	5	2
(4) अहमदनगर (5) नासिक	1,484,712	6	3
(6) खानदेश पूरब (7) खानदेश पश्चिम	1,227,131	7	3

1	2	3	4
(8) सतारा	883,488	8	*
(9) पूना	858,607	9	3
(10) शोलापुर	574,152	10	3
	3. कन्नड़		
(1) बेलगांव (2) बीजापुर	1,411,639	11	4
(3) धारवाड़ (4) कनारा	1,193,202	12	4
19 जिलों के प्रतिनिधियों की कुल संख्या 39 है।			

*मूल में सतारा जिले के लिए कोई आंकड़ा नहीं दिया गया है।

ऐसे समूह बनाने के मुख्य लाभ यह है कि संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के बिना ही मराठों तथा लिंगायतों की मांग पूरी हो सकती है। कोई जिला इस बात की पवित्रता का दावा नहीं कर सकता कि राजनीतिक प्रयोजनों के लिए उसकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, जबकि ऐसा अतिक्रमण हमें संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व के क्षेत्र को न्यूनतम रखने में समर्थ बनाता है।

8. मुसलमानों को कितने प्रतिनिधि दिए जाएं, इस बारे में बंबई सरकार से मेरा मतभेद है। जनसंख्या और कांग्रेस योजना के दो आधारों में से बंबई सरकार ने कांग्रेस योजना को तरजीह दी है और तर्क को ताक पर रख दिया है। ऐसा करते समय उसने सुधार योजना के निर्माताओं की सुनिश्चित राय की उपेक्षा की है। उन्होंने कहा है कि कांग्रेस-लीग योजना में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के अनुपात के बारे में वार्ता के अलावा और कोई आधार नहीं हो सकता। इस बात पर आग्रह करना ही होगा कि कांग्रेस के गठन को देखा जाए तो वह एक ऐसी संस्था है कि प्रतिनिधि के तौर पर उसके वायदे उस विशाल जनसमूह पर लादे नहीं जा सकते, जिसने विचार-विमर्श में हिस्सा ही नहीं लिया है।

9. इस प्रेसिडेंसी में मुसलमानों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत है। अतः जनसंख्या के आधार पर वे निर्वाचन की 100 सीटों में से सिर्फ 20 सीटों के हकदार हैं। लेकिन यदि जनसंख्या में आवश्यकता को जोड़ दिया जाए तो मेरे विचार में उन्हें 24 सीटों से संतुष्ट हो जाना चाहिए। यह लक्ष्मण रेखा है और इसके उल्लंघन को सहन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके उल्लंघन से अन्य समुदाय घाटे में रहेंगे। इन 24 सीटों में से सिंध के सात जिले प्रति जिला दो के हिसाब से 14 मुसलमान चुनकर भेजेंगे। अन्य 10 सीटों का बंटवारा आगे दी गई सारणी के अनुसार हो सकता है :

	जनसंख्या	प्रतिनिधि-संख्या
(1) बंबई नगर	179,246	2
(2) उत्तरी डिवीजन	342,696	2
(3) मध्यवर्ती डिवीजन	367,509	3
(4) दक्षिणी डिवीजन	457,997	3
	कुल	**10**

मुसलमानों के मामले में भी मैं डिवीजनवार समूहों की अपेक्षा भाषाई समूहों को बेहतर मानूंगा। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि थाणे के किसी मुसलमान का संबंध सूरत के मुसलमान से हो सकता है, भले ही दोनों जिले एक ही डिवीजन के अंतर्गत हों। जाति की दृष्टि से जो लोग अलग-अलग हों, उनका समूह बनाने की कोई तुक नहीं होगी।

श्री भीमराम अम्बेडकर को बुलाकर लिया गया बयान

सर फ्रैंक स्लाई : वह सीडेन्हम कालिज आफ कॉमर्स में प्रोफेसर थे। उन्होंने एल्फिस्टन कालिज, बंबई से बी.ए. की डिग्री ली। कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क से उन्होंने एम.ए. किया। वह महार जाति के हैं और उनका बयान प्रायः दलित वर्गों से संबंध रखता है।

जहां तक हिन्दू समुदाय का संबंध है, श्री अम्बेडकर ने उन्हें स्पृश्य और अस्पृश्य के दो वर्गों में विभाजित किया। वह विभेद व्यवहार की दृष्टि से अकाट्य है और जातीय आधार के विभाजन से अधिक सुविधाजनक है। उन्होंने ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेत्तर के अंतर को भी माना है, लेकिन यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। जहां तक उम्मीदवार के प्रति मतदाता के रवैये का संबंध है, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेत्तर के बीच अंतर से अधिक फर्क नहीं पड़ेगा। लेकिन स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच विभाजन का इस पर काफी बड़ा फर्क पड़ेगा।

उनका विचार है कि ब्राह्मणेत्तरों के लिए संप्रदाय आधारित निर्वाचन-क्षेत्रों की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि यदि उनके अनुपूरक बयान के अनुसार तीन सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों की स्वीकृति दी गई तो ब्राह्मणेत्तरों को कुछ सीटें मिल जाएंगी। अपने लिखित बयान के पैरा 16 में दिए गए आंकड़ों से वह दिखाना चाहते हैं कि एक समान संपत्त-अर्हता के आधार पर जो समुदाय जनसंख्या के हिसाब से अल्पसंख्या में हो सकता है, वह मतदाता संख्या के हिसाब से बहुसंख्या में हो सकता है। जिन कतिपय समुदायों का उल्लेख उन्होंने किया है, वे समूचे प्रांत में अल्पसंख्या में हो सकते है। खास-खास जिलों में वे बहुसंख्या में हैं। उन्हें यथासंभव संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व संबंधी गुहार, पुकार एवं आतुरता को कम करने का प्रयास करना चाहिए। अतः उन्होंने तीन सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों की सिफारिश की है।

वह अस्पृश्यों के लिए मताधिकार में परिवर्तन चाहते हैं, लेकिन यदि दो से अधिक सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों की स्वीकृति दी जाती है तो मताधिकार के अर्हता-स्तर को कम करने की बात का महत्व गौण हो जाता है। छोटे निर्वाचन-क्षेत्र की दशा में, यथा मराठों की दशा में यह वांछनीय होगा कि उनका समूह बनाया जाए।

यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में किसी समुदाय विशेष का बहुमत है तो उस समुदाय के लिए अलग से संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व की जरूरत नहीं है। यदि किसी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र में अस्पृश्यों का बहुमत हो तो वे संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व की मांग नहीं करेंगे। उन्होंने अलग प्रतिनिधित्व की मांग केवल इस कारण की कि वे अल्पसंख्या में हैं और एक समान मताधिकार के आधार पर वे सदैव अल्पसंख्या में ही रहेंगे। मताधिकार के अर्हता-स्तर को नीचा करने के बारे में उनका तर्क यह है कि अस्पृश्य होने के कारण उनके पास संपत्ति है ही नहीं। वे व्यापार नहीं कर सकते, क्योंकि ग्राहक उनके पास आएंगे ही नहीं। उन्होंने एक घटना का हवाला दिया। एक महार औरत तरबूज बेच रही थी। उसे पकड़कर थाने में ले जाया गया। उन्हें बंबई प्रेसिडेंसी से बाहर की स्थिति की जानकारी नहीं है। बंबई प्रेसिडेंसी की मिलों में अब भी अस्पृश्यों को बुनकर विभाग में काम करने की अनुमति नहीं दी जाती। एक अस्पृश्य एक मिल के बुनकर विभाग में अपने को मुसलमान बताकर काम करने लगा, लेकिन पता चल जाने पर उसकी जमकर पिटाई की गई।

चुनाव के सिलसिले में अस्पृश्य की यह परिभाषा संतोषजनक है कि अस्पृश्य वह व्यक्ति है, जो अपने स्पर्श से भ्रष्ट कर दे। ऐसा नहीं है कि कुछ जिलों में कुछ जातियां अस्पृश्य हैं और अन्य जिलों में वे स्पृश्य हों।

उनके वर्गीकरण के अनुसार जनसंख्या का कोई आठ प्रतिशत अंश अस्पृश्य है, लेकिन उन्होंने नौ सीटों का प्रस्ताव किया है। वह कोई नौ प्रतिशत होगा। ये सीटें पृथक संप्रदाय आधारित चुनाव के जरिए भरी जाएंगी।

उन्हें मालूम है कि विकास की वर्तमान स्थिति में अस्पृश्य उत्तरदायी वोट देने के लिए किसी भी प्रकार योग्यता नहीं रखता। समूची बंबई प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों के बीच केवल एक बी.ए. है और छह-सात मैट्रीकुलेट हैं। अंग्रेजी जानने वालों का अनुपात नगण्य है, लेकिन पिछड़े वर्गों की तुलना में कम नहीं है। दलित वर्ग, खासकर महार और चमार वोट दे सकते हैं। वह चाहते हैं कि शिक्षा के रूप में उन्हें वोट दिए जाएं। वह उनके बीच कम से कम 25 या उससे अधिक लोगों का पता लगा सकते हैं, जिन्होंने हाई स्कूल की छठी या सातवीं कक्षा पास कर ली है। भले ही यह संख्या अधिक नहीं है, फिर भी दलित वर्गों के लिए उन्होंने जिन नौ सीटों का सुझाव दिया है, उन्हें उनमें से भरा जा सकता है। ऐसा उम्मीदवार व्यावहारिक मामलों में ग्रेजुएट के बराबर होगा, भले ही उत्तरवर्ती स्वयं को बेहतर तरीके से अभिव्यक्त कर सके।

वह ऐसी किसी प्रणाली का विरोध करते हैं, जिसके अधीन अन्य वर्गों से दलित वर्गों के प्रतिनिधि लिए जाएं। यथा, मिशनरियों द्वारा प्रतिनिधित्व सही अर्थ में प्रतिनिधित्व नहीं होगा।

उन्होंने दलित वर्गों के लिए बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों का सुझाव दिया है। उनका विचवार है कि यदि मुसलमानों के लिए ऐसे बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों को स्वीकार किया गया है तो क्या कारण है कि वे दलित वर्गों के लिए व्यावहारिक सिद्ध नहीं हो सकते।

दलित वर्गों को पर्याप्त संख्या में सीटें मिल सकें, इसके लिए उनका सुझाव है कि मुसलमानों के लिए सरकार द्वारा प्रस्तावित 18 सीटों को घटाकर दस कर दिया जाए। उन्हें घटाने का औचित्य है, क्योंकि जनसंख्या के आधार पर मुसलमान केवल 20 प्रतिशत सीटों के हकदार हैं। उनका विचार है कि कांग्रेस-लीग समझौता सबके लिए बाध्यकारी नहीं है।

श्री हेली : अस्पृश्य वे लोग हैं, जिन्हें नागरिकता के कतिपय अधिकारों से वंचित किया गया है। जैसे, सड़क पर चलने का अधिकार तो हर नागरिक को है और यदि किसी व्यक्ति को ऐसा करने से रोका जाता है तो भले ही अस्थायी रूप से हो, यह उसके अधिकार का उल्लंघन है। उसके लिए इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता कि उसके अधिकार के प्रयोग में कानून द्वरा बाधा डाला गई या सामाजिक प्रथा द्वारा। सरकार ने इस कुरीति को पहचान लिया था और अस्पृश्य वर्गों के लोगों को सरकारी नौकरी में लिया था।

उनका सुझाव है कि दलित वर्गों के लिए मताधिकार संबंधी अर्हता के स्तर को कम किया जाए, क्योंकि सरकार का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह इस समुदाय की दशा सुधारे।

जनगणना रिपोर्ट को देखकर उन्होंने कहा है कि स्पृश्य और अस्पृश्य की समस्या सिंध में है, भले ही वहां की जनसंख्या में मुसलमानों का अनुपात अधिक है, पर वहां हिन्दू भी हैं। यदि सिंध के हिन्दुओं के लिए विशेष व्यवस्था की जा रही है, तो उनका विचार है कि दलित वर्गों के लिए भी विशेष व्यवस्था क्यों न की जाए।

श्री बेनर्जी : दलित वर्ग ऐसे नौ व्यक्तियों का पता कर सकेंगे, जो अंग्रेजी बोल सकते हों और काउसिंल में उनके हित का प्रतिनिधित्व कर सकें। मैट्रीकुलेशन से नीचे का स्तर छठी जमात का है और जो छठी जमात पास कर लेगा, वह काउसिंल में वाद-विवाद को समझ सकेगा। उनके बीच कोई 25 ऐसे लोग हैं, जिन्होंने छठी जमात पास कर ली है।

राजनीतिक प्रयोजनों के लिए दलित वर्गों की परिभाषा करने में कोई मुश्किल नहीं आएगी। दलित और अस्पृश्य में कोई भेद नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो दलित वर्ग का सदस्य नहीं है, ऐसी बात मन में नहीं लाएगा कि वह स्वयं को दलित या अस्पृश्य जताने का प्रयास करे, जब कि पिछड़े वर्गों के मामले में ऐसा हो सकता है।

उन्हें स्वीकार है कि दलित वर्गों के लिए कम से कम आठ प्रतिनिधि हों और उन्हें चुना जाए। नामजद प्रतिनिधि उनके हितों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा।

श्री क्रम्प : सिंध में अस्पृश्य वर्गों की समस्या और दशा के बारे में उन्हें कोई अनुभव नहीं है और वह इस कथन के बारे में कुछ नहीं कह सकते कि वहां केवल एक ही ऐसा वर्ग है, अर्थात् भंगियों का। उनकी सूचना है कि सिंध में हिन्दुओं की कुल जनसंख्या 837,426 है और अस्पृश्य वर्गों की कुल जनसंख्या 135,224 है।

श्री नटराजन : उनका विचार था कि भारत में ब्रिटिश शासन का उद्देश्य है कि सभी को समान अवसर दिए जाएं। लोकप्रिय विधान सभाओं को सत्ता का अधिकांश भाग सौंपते समय ऐसी व्यवस्था की जाए कि राजनीतिक संस्थाओं में सामाजिक प्रणाली से जुड़ी कठिनाइयां और असुविधाएं न तो दुहराई जाएं और न ही सनातन बनाई जाएं। जहां तक वर्तमान यथार्थ स्थिति का संबंध है, उन्होंने स्वीकार किया और मिसाल दी कि जैसे परेल स्कूल में, जो दलित वर्गों के लिए है, वहां अनेक उच्च जाति के छात्र हैं। वह एक अच्छा स्कूल है, अतः वे गए। उसी प्रकार स्वयं डॉ. अम्बेडकर प्रोफेसर हैं और दलित वर्ग के हैं। सभी वर्गों के छात्र उनके शिष्य हैं और उन्हें उच्च जाति के शिष्यों को पढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि सीटें देकर सरकार अस्पृश्य वर्गों को मान्यता दे तो उनका दर्जा ऊंजा हो जाएगा और उनकी शक्तियां जागृत होंगी। उनकी सीटों की संख्या के बारे में उनका कोई विशेष आग्रह नहीं है। वह तो बस इतना ही चाहते हैं कि जो व्यवस्था हो, वह पर्याप्त हो।

24 जनवरी, 1919 और 31 जनवरी, 1919 के बीच बंबई में निम्न व्यक्तियों को बुलाया गया और उनके बयान लिए गएः

(1) एल.सी. क्रम्प, एस्क्वायर, आई.सी.एस., बंबई सरकार के प्रतिनिधि (24 जनवरी, 1919),

(2) आनरेबिल मेजरसी. फर्नान्डेज, एम.डी.आई.एम.एस. (अस्थायी) (24 जनवरी, 1919),

(3) द रेवरेन्ड केनन डी.एल. जोशी, बाम्बे इंडियन क्रिश्चियन (प्रोटेस्टेन्ट) एसोसियेशन, के प्रतिनिधि (24 जनवरी, 1919),

(4) लेफ्टिनेंट कर्नल एच.ए.जे. गिड्ने, आई.एम.एस. (अवकाश प्राप्त), एंग्लो इंडियन एंपायर लीग (बंबई शाखा) (25 जनवरी, 1919),

(5) सर जमशेदजी जीजीभोय, बी.ए.आर.टी. (25 जनवरी, 1919),

(6) डब्ल्यू.ए. हेग ब्राउन, एस्क्वायर, यूरोपियन एसोसियेशन की बंबई शाखा के प्रतिनिधि (25 जनवरी, 1919),

(7) श्री डी.डी. सथाये, बाम्बे नेशनल यूनियन के प्रतिनिधि (25 जनवरी, 1919),

(8) द आनरेबिल श्री एम.ए. जिन्ना (25 जनवरी, 1919),

(9) श्री सी.एन. वाडिया, बंबई मिल मालिक संघ के प्रतिनिधि (27 जनवरी, 1919),

(10) श्री वी.आर. शिन्दे (27 जनवरी, 1919),

(11) श्री के.आर. कोरेगावकर, मराठा आईक्येचू सभा के प्रतिनिधि (27 जनवरी, 1919),

(12) द आनरेबिल श्री एम.ए. जिन्ना (27 जनवरी, 1919),

(13) मिर्जा अली मोहम्मद खान (27 जनवरी, 1919),

(14) श्री भीमराव आर. अम्बेडकर, एस्क्वायर (27 जनवरी, 1919),

(15) द आनरेबिल श्री वी.जे. पटेल (28 जनवरी, 1919),

(16) द आनरेबिल साहिब हीरालाल देसाई भाई देसाई (28 जनवरी, 1919),

(17) द आनरेबिल श्री चुन्नीलाल वी. मेहता (28 जनवरी, 1919),

(18) ए.बी. लाट्ठे, एस्क्वायर (28 जनवरी, 1919),

(19) द आनरेबिल श्री आर.पी. परांजपे (28 जनवरी, 1919),

(20) श्री वी.आर. कोठारी, डक्कन रैयत एसोसिएशन के प्रतिनिधि (28 जनवरी, 1919),

(21) सर्वश्री उमर सोभानी तथा एस.जी. बैंकर, बंबई होम रूल लीग के प्रतिनिधि (29 जनवरी, 1919),

(22) एच.एन. आप्टे, एस्क्वायर, डक्कन सभा, पूना के प्रतिनिधि (23 जनवरी, 1919),

(23) एन.सी. केलकर, एस्क्वायर (29 जनवरी, 1919),

(24) द आनरेबिल श्री डी.वी. बेल्ली (29 जनवरी, 1919),

(25) राव बहादुर थाकोराम कपिलराम (29 जनवरी, 1919),

(26) एन.एम. जोशी, एस्क्वायर, भारत सेवक संघ के प्रतिनिधि (30 जनवरी, 1919),

(27) द आनरेबिल राव बहादुर वेंकटेश श्रीनिवास नाइक (30 जनवरी, 1919),

(28) पंडित आर. चिकोडी (30 जनवरी, 1919),

(29) द आनरेबिल श्री एस.जे. गिल्लम तथा सर थामस बिर्केट, नाइट, बंबई वाणिज्यि मंडल के प्रतिनिधि (30 जनवरी, 1919),

(30) श्री अम्बालाल साराभाई, श्री कस्तूरभाई लाल भाई, दलपतभाई के साथ, अहमदाबाद मिल मालिक संघ के प्रतिनिधि (30 जनवरी, 1919),

(31) देवीदास माधवजी थाकर्से, एस्क्वायर, बाम्बे नेटिव पीस गुड्स मर्चेन्ट्स एसोसिएशन के प्रतिनिधि (30 जनवरी, 1919),

(32) द आनरेबिल श्री गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला (31 जनवरी, 1919),

(33) श्री बी.वी. जाधव (31 जनवरी, 1919),

(34) द आनरेबिल सर पाजुलभाय करीमभाय, नाइट, सी.आई.ई. (31 जनवरी, 1919),

(35) एच.पी. मोदी, एस्क्वायर (31 जनवरी 1919), और

(36) सरदार वी. एन. मुतालिक, इनामदास सेन्ट्रल एसोसिएशन, सतारा के प्रतिनिधि (31 जनवरी, 1919)।

2

संघ बनाम स्वतंत्रता

(काले स्मारक व्याख्यान)

गोखले हॉल, पूना
में संपन्न
द गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पालिटिक्स
एंड इकोनोमिक्स
के वार्षिक उत्सव पर
29 जनवरी, 1939 को
दिया गया व्याख्यान

आज जिस दिशा में आप जा रहे हैं उसकी तुलना में आपके द्वारा तय की गई दूरी कम महत्वपूर्ण है

टालस्टाय

प्रथम प्रकाशन : 1939
प्रथम संस्करण से पुनर्मुद्रित

प्रस्तावना

मैं समझता हूं कि इस पत्रक* के स्रोत तथा इसके प्रयोजन के संबंध में कुछ कहना असंगत नहीं होगा जिसकी वजह से मुझे यह पत्रक इस समय प्रकाशित करना पड़ा है।

इस देश में अनेक लोगों को यह मालूम होगा कि पूना में द गोखले इंस्टीट्यूट आफ पॉलिटिक्स एंड इकोनोमिक्स नामक संस्थान है, जो डॉ. डी.आर. गाडगिल के निर्देशन में कार्य कर रहा है। यह संसीान अपना स्थापना दिवस मनाने के लिए प्रतिवर्ष एक समारोह आयोजित करता है और इस अवसर पर राजनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र से संबंधित किसी विषय पर व्याख्यान देने के लिए किसी को आमंत्रित करता है। इस वर्ष डॉ. गाडगिल ने मुझसे व्याख्यान देने के लिए कहा। मैंने यह आमंत्रण स्वीकार किया और अपने व्याख्यान के विषय के रूप में संघीय योजना को चुना। इस व्याख्यान में संघ की संरचना तथा उसकी मीमांसा, दोनों ही शामिल थे। यह व्याख्यान 29 जनवरी, 1939 को पूना के गोखले हॉल में दिया गया था। तैयार किया गया यह व्याख्यान मुझे दिए गए समय के हिसाब से बहुत अधिक लंबा हो गया था, फिर भी मैंने श्रोताओं को दो घंटे तक टिकाए रखा, जबकि सामान्यतः ऐसे व्याख्यान के लिए निर्धारित समय एक घंटा होता है, मुझे इस व्याख्यान के संघीय स्वरूप से संबंधित पूरे भाग को तथा इसकी संरचना से संबंधित कुछ भाग को छोड़ना पड़ा। लेकिन इस पत्रक में इस अवसर पर मेरा स्वतंत्र रूप से तैयार किया गया संपूर्ण व्याख्यान दिया गया है।

इस पत्रक के स्रोत के बारे में इतना कहना ही काफी है। अब, जहां तक इसके प्रकाशन के कारणों का संबंध है, गोखले संस्थान में दिए गए सभी व्याख्यान प्रकाशित किए जाते हैं, अतः इस प्रक्रिया के अनुसार इसे भी प्रकाशित होना चाहिए था। लेकिन कुछ अन्य कारणों से भी मैं इसे प्रकाशित नहीं करवा सका। जहां तक संघ का संबंध है, ज्यादातर भारतीय आम जनता इससे अनभिज्ञ प्रतीत होती है। इस तथ्य के बावजूद कि संघ होना चाहिए और यह भी कि संघ बुरी चीज है, आम जनता यह स्पष्ट रूप से नहीं जानती कि इस संघ की प्रकृति तथा संकल्पना क्या है, और इसलिए वह इसके बारे में कोई बौद्धिक राय बनाने में असमर्थ है। यह आवश्यक है कि आम जनता के हाथ में एक ऐसा पत्रक हो, जिसमें संघ की रूपरेखा तथा उसकी मीमांसा संक्षिप्त रूप में उपलब्ध हो, जो उस योजना की कामचलाऊ समझ प्रदान करने में पर्याप्त हो। मुझे आशा है कि यह पत्रक इस आवश्यकता को पूरा करेगा।

---

* युग पत्रक : संख्या 3

मैं यह भी अनुभव करता हूं कि इस पत्रक का प्रकाशन सामयिक माना जाएगा। संघ एक बहुत ही जीवंत मुद्दा है और बहुत ही आवश्यक भी। बहुत जल्दी ही यह निर्णय लेने के लिए ब्रिटिश भारत के लोगों का आह्वान किया जाएगा कि क्या वे संघीय योजना को स्वीकार करेंगे अथवा नहीं। इस देश में कांग्रेस एक प्रमुख राजनीतिक संगठन है और वह इस संघ को स्वीकार करने के लिए इच्छुक है, जिस तरह उसने प्रांतीय स्वायत्तता को स्वीकार कर लिया है। मुस्लिम लीग के साथ की जा रही बातचीत और देशी राज्यों के साथ की जा रही सौदेबाजी से हर तरह मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि कांग्रेस संघ को स्वीकार करने के लिए तैयार है और यह बातचीत तथा सौदेबाजी अन्य दलों के साथ कामचलाऊ व्यवस्था बनाए रखने के लिए की जा रही है, ताकि उनकी सहायता से कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में आ सके, जैसा कि वह प्रांतों में है। श्री सुभाष चन्द्र बोस ने तो यहां तक संकेत दिया है कि कांग्रेस का दक्षिण पंथ संघ के प्रति इतना वचनबद्ध है कि उसने पहले ही अपने मंत्रिमंडल का चयन कर लिया है। यह कोई महत्व नहीं रखता कि यह सब कुछ सही है या नहीं। मुझे आशा है कि यह सब कुछ गलत है। चाहे जो कुछ भी हो, मामला गंभीर तथा नितांत आवश्यक है। और मैं समझता हूं कि उन सभी लोगों को, जो इस विषय पर कुछ कहना चाहते हैं, कहना चाहिए। वास्तव में, मेरा अनुभव है कि इस समय चुप रहना अपराध होगा। यही कारण है कि मैंने अपने व्याख्यान को प्रकाशित कराने में जल्दी की है। मेरा विश्वास है कि संघ जैसे विषय पर मेरे विचार यदि दूसरों को यकीन नहीं दिला सकेंगे, तो कम से कम उन्हें सोचने के लिए प्रेरित तो करेंगे ही।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर

1-3-39, राजगृह
दादर, बंबई-14

आमुख

डॉ. गाडगिल तथा गोखले संस्थान के विद्यार्थियों,

आज शाम आपको संबोधित करने के लिए आपके निमंत्रण को पाकर मैं बहुत ही सम्मानित अनुभव कर रहा हूं। आज आप ऐसे दिन उत्सव मनाने के लिए एकत्रित हुए हैं, जिसे आपका स्थापना दिवस घोषित किया गया है। मुझे आपके संस्थान के संस्थापक स्वर्गीय राव बहादुर आर.आर. काले को व्यक्तिगत रूप से जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ बंबई की पूर्व विधान परिषद में वह मेरे साथी थे। मुझे मालूम है कि जिस विषय पर भी वह कार्य करते थे, उस कार्य को करने में कितनी सावधानी बरतते तथा कितना अध्ययन करते थे। मुझे विश्वास है कि वह ऐसे सभी लोगों के आभार के अधिकारी हैं, जो इस संस्थान की स्थापना के सहायतर्थ ज्ञान तथा अध्ययन के प्रति सजग हैं और जिनका कार्य ज्ञान की खोज करना तथा उसे उन लोगों के लिए उपलब्ध कराना है, जो उसके उपयोग के प्रति सचेत हैं। चूंकि प्रथमतः ज्ञान अनुपम शक्ति है, तथा द्वितीय, वे सभी जो ज्ञान की इच्छा रखते हैं और उसके प्रति सजग हैं, उनके पास ज्ञान की खोज के लिए समय और धैर्य नहीं है। ऐसा व्यक्तित्व जो ज्ञान को आवश्यक मानता है तथा उसके अर्जन में आने वाली कठिनाइयों को समझता है, मुझे उसके साथ तथा उस संस्थान के साथ इस तरह जुड़ने में प्रसन्नता हो रही है, जिसकी उसने स्थापना की है।

अपने व्याख्यान के लिए मैंने जिस विषय को चुना है, वह भारत सरकार अधिनियम, 1935 में विहित संघीय योजना है। विषय का शीर्षक आपको यह आभास दे सकता है कि मैं संघीय संविधान की व्याख्या करने जा रहा हूं। ऐसा करना स्वयं में एक असंभव कार्य होगा। संघीय योजना बहुत विशाल योजना है। इसके उपबंध प्रथमतः भारत सरकार अधिनियम, 1935 की 322 धाराओं, दूसरे, नौ अनुसूचियों में जो इस अधिनियम की ही अंग हैं, तीसरे, इस अधिनियम के अंतर्गत जारी किए गए 31 परिषद आदेशों तथा चौथे, देशी राज्यों द्वारा पारित किए जाने वाले सैकड़ों विलय-पत्रों में दिए गए हैं। कोई भी इतने विशाल विषय पर अपने अधिकार का दावा नहीं कर सकता और यदि कोई ऐसा करता भी है तो उसे इसके सभी पक्षों को प्रतिपादित करने में वर्षों लगेंगे। मैंने अपने लिए बहुत ही सीमित-सा काम निर्धारित किया है। इस कार्य के अंतर्गत इस योजना की कुछ स्वीकृत परीक्षणों के अनुसार जांच करना तथा इस जांच के परिणामों को आपके समक्ष रखना है, ताकि आप इस योजना के संबंध में अपनी राय बना सकें। यह सही है कि मैं इस योजना की रूपरेखा तैयार करने से एकदम नहीं बच सकता। वास्तव में, मैं इस योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करने जा रहा हूं। मैं महसूस करता हूं कि यह एक आवश्यक प्रारंभिक चीज है, जिसके बिना मेरी मीमांसा उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकेगी। लेकिन अपने इस उद्देश्य के लिए मैं जो रूपरेखा तैयार

करने जा रहा हूं, वह संक्षिप्तम तथा पर्याप्त होगी और आपको यह बात समझाने में सहायक होगी, जो मैं इस योजना के गुणावगुण के बारे में कहूंगा।

2
भारतीय संघ की उत्पत्ति तथा विकास

ऐसे पांच देश हैं, जिन्हें आधुनिक समय में सरकार के संघीय ढांचे को अपनाने के लिए जाना जाता है, वे हैं 1-संयुक्त राज्य अमरीका, 2-स्विट्जरलैंड, 3-जर्मन साम्राज्य, 4-कनाडा, और 5-आस्ट्रेलिया। इन पांचों के साथ-साथ अब छठे राज्य को भी जोड़े जाने का प्रस्ताव है, जो अखिल भारतीय संघ है।

भारतीय संघ की घोषणा

इस संघ की घटक इकाइयां क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए धारा 5 का अवलोकन करें। इसके अनुसार :

(1) महामहिम के लिए यह वैधानिक होगा यदि संसद के प्रत्येक सदन द्वारा उनको इस आशय का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है और यदि इसके बाद उल्लिखित शर्त को यह उद्घोषणा करके पूरा कर दिया जाता है कि एतद्पश्चात् नियुक्त दिन से भारतीय संघ के नाम से सम्राट के अधीन संघ का गठन किया जाएगा–

(क) प्रांतों को इसके बाद गवर्नर के प्रांत के नाम से जाना जाएगा, तथा

(ख) वे देशी राज्य, जो संघ में सम्मिलित हो चुके हैं या इसके बाद संघ में सम्मिलित हो सकते हैं, और इस तरह स्थापित किए गए संघ में उन प्रांतों को भी सम्मिलित किया जाएगा, जिन्हें इसके बाद प्रमुख कमिश्नर के प्रांतों के नाम से जाना जाएगा।

(2) इसके बारे में शर्त यह है कि, राज्य-

(क) इस अधिनियम की प्रथम सूची के भाग 2 में विहित उपबंध के अनुसार शासक राज्य परिषद के कम से कम 52 सदस्य चुनेंगे, तथा

(ख) जैसा कि उक्त उपबंध के अनुसार निश्चित किया गया है, उनकी कुल जनसंख्या राज्यों की कुल जनसंख्या की कम से कम आधे के बराबर होगी, जैसा कि निर्धारित किया गया है और उन्होंने संघ को स्वीकार कर लिया है।

इस संघ के उद्घाटन के लिए इस धारा द्वारा विहित शर्तों के अलावा, यह स्पष्ट है कि संघ की इकाइयां इस प्रकार हैं : 1-गवर्नर के प्रांत, 2-मुख्य कमिश्नर के प्रांत, तथा 3-देशी राज्य।

इस भारतीय संघ का आकार क्या है?

बहुत से लोग जब भारतीय संघ के बारे में बातचीत करते हैं तो वे यह महसूस नहीं करते कि इसका स्वरूप कितना विराट होने जा रहा है:

	जनसंख्या	**क्षेत्र**	**इकाइयां**
संयुक्त राज्य-अमरीका	122,775,040	2,973,773	48 राज्य+ 1 संघीय जिला
जर्मनी	67,000,000	208,780	25
स्विट्जरलैंड	466,400	15,976	22
कनाडा	10,376,786	3,729,665	9
आस्ट्रेलिया	6,629,839	2,974,581	6
भारत	352,837,778	1,808,679	162

क्षेत्र के मामले में भारतीय संघ, संयुक्त राज्य अमरीका तथा आस्ट्रेलिया का 3/5वां व कनाडा का आधा हिस्सा है। यह जर्मनी से नौ गुणा तथा स्विट्जरलैंड ने 120 गुणा बड़ा है। जनसंख्या की दृष्टि से यह संयुक्त राज्य अमेरीका से तीन गुणा, जर्मनी से पांच गुणा, कनाडा से 35 गुणा, आस्ट्रेलिया से 58 गुणा तथा स्विट्जरलैंड से 88 गुणा बड़ा है। उन इकाइयों द्वारा माप करने पर जिनसे यह बना हुआ है, यह संयुक्त राज्य अमरीका से तीन गुणा, जर्मनी से 6½ गुणा, स्विट्जरलैंड से आठ गुणा, कनाडा से 18 गुणा तथा आस्ट्रेलिया से 27 गुणा बड़ा है। इस प्रकार भारतीय संघ केवल एक बड़ा संघ ही नहीं है, बल्कि यह संघों में सबसे विराट है।

वह कौन-सा स्रोत है, जिससे संघ अपनी सरकारी शक्तियां तथा प्राधिकार प्राप्त करता है?

धारा 7 के अनुसार गवर्नर-जनरल द्वारा महामहिम की ओर से संघ के कार्यकारी प्राधिकार का उपयोग किया जाएगा। इसका तात्पर्य यह है कि संघ का प्राधिकार सम्राट से प्राप्त होता है। इस संबंध में भारतीय संघ संयुक्त राज्य अमरीका के संघ से भिन्न है। संयुक्त राज्य अमरीका में संघ की शक्तियां लोगों से प्राप्त होती हैं। संयुक्त राज्य के लोग वे स्रोत हैं, जिनसे प्राधिकार प्राप्त होता है। यह संयुक्त राज्य अमरीका के संघ से भिन्न है। भारतीय संघ आस्ट्रेलिया तथा कनाडा के संघों के अनुरूप है। आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में संघीय राज्य के प्राधिकार का स्रोत भी सम्राट है और भारत सरकार अधिनियम की धारा 7, आस्ट्रेलियाई अधिनियम की धारा 61 तथा कनाडा के अधिनियम की धारा 9 के समतुल्य है। यह भी कि भारतीय संघ इस संबंध में अमरीकी संघ से भिन्न है और कन्नाडा तथा आस्ट्रेलिया के संघ के अनुरूप हैं। संयुक्त राज्य एक गणतंत्र है, जब कि कनाडा तथा भारत सम्राट के अधीन हैं। संयुक्त राज्य में सभी प्रकार के प्राधिकार का स्रोत जनता है। कनाडा तथा भारत में सभी प्राधिकार का स्रोत सम्राट है।

सम्राट अपने प्राधिकार कहां से प्राप्त करता है?

इस प्रकार का प्रश्न कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के संबंध में अनावश्यक है, क्योंकि सम्राट ही सभी प्राधिकार का अंतिम स्रोत है और उसके आगे या पीछे कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जिसके प्रति उसका प्राधिकार उत्तरदायी हो। क्या ऐसा भारतीय संघ के बारे में कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संघ के प्राधिकार के एक भाग के लिए सम्राट अंतिम स्रोत है और शेष भाग के लिए सम्राट अंतिम स्रोत नहीं है।

यह वास्तविक स्थिति है, जैसा कि विलय के कानूनी दस्तावेजों की शर्तों से स्पष्ट होता है। मैं मसौदा-प्रपत्र से निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करता हूं :

> जब कि ऐसे देशी राज्यों से, जो संघ में सम्मिलित हो सकते हैं और स्वशासी प्रांतों के रूप में गठित ब्रिटिश भारत के प्रांतों से बनाए जाने वाले भारतीय संघ की स्थापना के प्रस्तावों पर यूनाइटेड किंगडम की संसद के महामहिम की सरकार, ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के शासकों के प्रतिनिधियों के बीच चर्चा हो चुकी है।
>
> और जब कि इन प्रस्तावों पर विचार करने के बाद पाया गया कि भारतीय संघ यूनाइटेड किंगडम की संसद के अधिनियम तथा देशी राज्यों के विलय द्वारा गठित किया जाना चाहिए।
>
> और यह कि भारतीय संघ के गठन के उपबंध का प्रावधान भारत सरकार अधिनियम, 1935 में किया गया है।
>
> और यह कि अधिनियम यह प्रावधान करता है कि यह संघ उस तारीख तक स्थापित नहीं किया जाएगा, जिस तारीख तक महामहिम उद्घोषणा द्वारा यह घोषित नहीं कर देते और ऐसी घोषणा तब तक नहीं की जा सकती, जब तक कि देशी राज्यों की पर्याप्त संख्या इस संघ में सम्मिलित नहीं की जाती।
>
> और यह कि कथित अधिनियम मेरे किसी राज्य-क्षेत्र पर तब तक लागू नहीं हो सकता, जब तक कि मेरी सहमति तथा अनुमति नहीं दी गई हो और जिसे संघ के प्रति मेरे प्रपत्र द्वारा स्वीकृति प्रदान नहीं की गई हो।

अतः अब मैं (पूरा नाम तथा पदवी लिखें), शासक (राज्य का नाम लिखें), गवर्नर के प्रांत कहे जाने वाले प्रांतों तथा मुख्य कमिश्नर के प्रांत कहे जाने वाले प्रांतों तथा अन्य देशी राज्यों के शासकों सहित भारतीय संघ के नाम से सम्राट के अधीन संघ में संगठित होते हुए भारत के हितों तथा कल्याण की वृद्धि करने के लिए सहयोग के उद्देश्य से गठित राज्य की अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग करते हुए एतद्द्वारा अपने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करता हूं और एतद्द्वारा घोषणा करता हूं कि महामहिम द्वारा इस विलय पत्र के स्वीकार कर लेने पर भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत स्थापित भारतीय संघ में सम्मिलित होता हूं।

भारतीय संघ की यह बहुत ही बड़ी विशेषता है। भारतीय संघ तथा कनाडा व आस्ट्रेलिया के संघों में क्या अंतर है? किस मामले में राज्य अंतिम स्रोत होता है और किस मामले में नहीं? इन प्रश्नों को समझने के लिए आपको दो बातें ध्यान में रखनी होगी। पहली, भारतीय संघ दो विशिष्ट क्षेत्रों से बना हैः ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य। यदि आप धारा 5 को देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। दूसरी, सम्राट के साथ इन दोनों क्षेत्रों के संबंध समान नहीं हैं। ब्रिटिश भारत के नाम से जाना जाने वाला क्षेत्र सम्राट के अधीन है, जब कि देशी राज्य-क्षेत्र सम्राट के अधीन न होकर, शासक के अधीन हैं। यदि आप धारा 2 तथा 311 देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। ब्रिटिश भारत का प्रांत-क्षेत्र सम्राट के अधीन होने के कारण इसकी प्रभुसत्ता सम्राट के पास है और देशी राज्य-क्षेत्र शासक के अधीन होने के कारण राज्य की प्रभुसत्ता राज्य के शासक के पास है।

अब आप समझ जाएंगे कि मैंने यह क्यों कहा है कि भारतीय संघ में शासक इसके प्राधिकार के एक भाग के लिए अंतिम स्रोत होता है तथा जहां तक ब्रिटिश भारत इस संघ का अंग है, शेष भाग के लिए सम्राट भारतीय संघ के प्राधिकार का अंतिम स्रोत होता है। भारतीय शासक प्राधिकार का अंतिम स्रोत केवल वहां तक है, जहां तक उसका राज्य इस संघ का अंग है। अतः जब धारा 7 यह कहती है कि संघ के कार्यकारी प्राधिकार का उपयोग सम्राट की ओर से गवर्नर-जनरल द्वारा किया जाएगा, इस मामले में यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय संघ को मजबूत बनाने के लिए गवर्नर-जनरल को सम्राट द्वारा प्रत्यायोजित किए जाने वाला प्राधिकार आंशिक रूप से स्वयं उसका और आंशिक रूप से देशी राज्यों के शासकों से प्राप्त किया जाता है।

वह कौन-सी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्राट उस प्राधिकार को प्राप्त करता है, जो प्राधिकार देशी राज्य के शासक का है? भारतीय अधिनियम के अंतर्गत इस प्रक्रिया को विलय के रूप में जाना जाता है। विलय-पत्र के माध्यम से विलय लागू किया जाता है, जो राज्य के शासक द्वारा हस्ताक्षरित होता है। विलय-पत्र से संबंधित उपबंध धारा 6(1) में दिए गए हैं। यह धारा इस प्रकार हैं :

6. किसी राज्य को संघ में शामिल किया हुआ तभी माना जाएगा, जब महामहिम, शासक द्वारा स्वयं, अपने वारिसों तथा उत्तराधिकारियों के लिए हस्ताक्षरित विलय-पत्र पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा कर-

(क) घोषणा करता है कि वह इस उद्देश्य के साथ इस अधिनियम के अंतर्गत स्थापित संघ में शामिल होता है कि महामहिम सम्राट, भारत के गवर्नर-जनरल, संघीय विधान-मंडल, संघीय न्यायालय तथा संघ के उद्देश्यों के लिए स्थापित कोई अन्य संघीय प्राधिकरण अपने विलय-पत्र के अनुसार हमेशा उसकी शर्तों के अंतर्गत तथा केवल संघ के उद्देश्यों के लिए अपने राज्य से संबंधित ऐसे कार्यों को करेगा, जो इस अधिनियम द्वारा अथवा इस अधिनियम के अंतर्गत उसे सौंपे जाते हैं, तथा

(ख) यह सुनिश्चित करने का उत्तरदायित्व लेता है कि उसके विलय-पत्र के अनुसार जहां उपबंध अनुप्रयोजक है, इस अधिनियम के उपबंधों को समुचित रूप से अपने राज्य में लागू करेगा।

जहां तक देशी राज्य संघ का अंग है, विलय-पत्र के कारण पहले ही सम्राट को प्राधिकार मिल जाता है तथा यह इस कारण से संघ के ऊपर सम्राट का प्राधिकार आंशिक रूप से प्राप्य अधिकार है।

संघ की उत्पत्ति का यही नियम है। इस संघ के विकास का नियम क्या है? दूसरे शब्दों में परिवर्तन का नियम क्या है? परिवर्तन का नियम धारा 6 (2) (क) अनुसूची 2 तथा धारा 6(5) में दिया गया है।

धारा 6(1) (क) में वह स्पष्ट उल्लेख है कि अपने विलय-पत्र के माध्यम से कोई राजा 'इस अधिनियम द्वारा स्थापित संघ' में सम्मिलित हो सकता है। अनुसूची 2 में संविधान में भविष्य में होने वाले संशोधन का उल्लेख है। यह घोषणा करती है कि भारत सरकार अधिनियम में क्या-क्या उपबंध है, जिनके संशोधन से विलय-पत्र प्रभावित होगा और वे कौन से उपबंध हैं, जिनके संशोधन से राज्यों का विलय-पत्र प्रभावित नहीं होगा।

धारा 6(5) दो बातें कहती हैं। प्रथमतः इसमें प्रावधान है कि विलय-पत्र इन उपबंधों में संशोधन करने के लिए संसद को अधिकार प्रदान करेगा, जिनकी घोषणा अनुसूची 2 द्वारा की गई है और जो विलय-पत्र को प्रभावित किए बिना संशोधन किए जाने के लिए स्वतंत्र है। दूसरी ओर यह भी प्रावधान है कि यद्यपि संसद इस अधिनियम के उपबंध में विलय-पत्र को प्रभावित किए बिना संशोधन कर सकती है, जैसा कि अनुसूची 2 में घोषणा की गई है कि उनमें ऐसा संशोधन राज्यों पर तब तक बाध्यकारी नहीं होगा, जब तक कि उस राज्य द्वारा पूरक विलय-पत्र के माध्यम से उसे बाध्यकारी स्वीकृत नहीं कर लिया जाता।

संक्षेप में, इस संघ की इकाइयां कार्यवाही की सामान्य व्यवस्था का रूप नहीं लेती। ये इकाइयां अलग-अलग हैं। उन्हें साथ-साथ रखा जाता है। कुछ उद्देश्यों के लिए इन इकाइयों की स्थिति बिल्कुल भी नहीं बदली जा सकती। कुछ अन्य उद्देश्यों के लिए परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन यह परिवर्तन सभी इकाइयों को एक तरह नहीं बांध सकता। कुछ इसे मानने के लिए बाध्य होंगी और कुछ इसे तब तक नहीं मानेंगी, जब तक कि वे बाध्य होने की सहमति प्रदान नहीं कर देती। दूसरे शब्दों में, इस संघ में विकास का कोई प्रावधान नहीं है। यह अचल है। यह गतिशील नहीं हो सकता। विकास द्वारा परिवर्तन संभव नहीं है तथा जहां संभव है, वहां वह तब तक बाध्यकारी नहीं है, जब तक उसे स्वीकृत नहीं किया जाता।

3
संघ की संरचना

संघीय विधान-मंडल

संघीय विधान-मंडल द्विसदनीय विधान-मंडल है। इसके अंतर्गत एक निम्न सदन है, जिसे विधान सभा कहा जाता है तथा एक उच्च सदन है, जिसे राज्य परिषद कहा जाता है। इन दोनों सदनों का गठन उल्लेखनीय है। जनसंख्या तथा क्षेत्र की दृष्टि से बहुत ही कम सदन ऐसे हैं, जिनकी अन्य विधान-मण्डलों से तुलना की जा सकती है, क्योंकि संघीय सभा की कुल सदस्यता 375 तथा राज्य परिषद की सदस्य संख्या 260 है। ये सीटें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के बीच एक निश्चित अनुपात में विभाजित हैं। संघीय सभा की 375 सीटों में से 250 सीटें ब्रिटिश भारत के हिस्से में हैं तथा 125 सीटें देशी राज्यों के हिस्से में हैं। राज्य परिषद की 260 सीटों में से 156 सीटें ब्रिटिश भारत की हैं तथा 104 सीटें देशी राज्यों की हैं। यह देखा जा सकता है कि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के बीच का बंटवारा समता सिद्धांत पर आधारित नहीं है। जनसंख्या को प्रतिनिधित्व का आधार माना जा सकता है। राजस्व को भी प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जा सकता है। लेकिन इन दोनों में से किसी को भी सीटों के बंटवारे का आधार नहीं माना गया है। चाहे आप जनसंख्या को आधार मानें या राजस्व को, आप देखेंगे कि दोनों ही सदनों में ब्रिटिश भारत को कम तथा देशी राज्यों को ज्यादा प्रतिनिधित्व मिला है। सीटों को भरने की विधि भी उल्लेखनीय है। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि दोनों ही सदनों में चुने जाएंगे। दूसरी ओर देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को राज्यों के शासकों द्वारा नियुक्त, अर्थात् नामित किया जाना है। शासक इस बात के लिए स्वतंत्र है कि उसके द्वारा नियुक्त उसके राज्यों के प्रतिनिधियों को उसकी प्रजा द्वारा चुना जा सकता है, लेकिन यह मामला ऐसा है, जो उसके स्वविवेक पर निर्भर करता है। वह अपनी प्रजा द्वारा चुने गए व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है या यदि वह चाहे तो दोनों ही कार्य कर सकता है, अर्थात् वह नियुक्त भी कर सकता है और चुन भी सकता है। अंत में राज्य के प्रतिनिधि को शासक द्वारा नियुक्त किया जाता है। ब्रिटिश भारत के मामले में प्रतिनिधि चुने जाते हैं, लेकिन यहां एक विशेष बात उल्लेखनीय है। सभी द्विसदनीय विधान-मंडलों के मामले में निचले सदन के लोकप्रिय सदन होने के कारण इसके प्रतिनिधियों को हमेशा ही जनता द्वारा प्रत्यक्ष मतदान से चुना जाता है, जबकि ऊपरी सदन के पुनरीक्षण सदन होने के कारण इसके प्रतिनिधियों को अप्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से चुना जाता है। भारतीय संघ के मामले में यह प्रक्रिया विपरीत है। ऊपरी सदन को जनता प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से चुनेगी तथा निचले

सदन को प्रांतीय विधान-मंडलों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाएगा। संघीय विधान सभा का कार्यकाल पांच वर्षों की अवधि तक के लिए निश्चित हैं, हालांकि इसे उससे पहले भी भंग किया जा सकता है। दूसरी तरफ राज्य परिषद एक स्थायी निकाय है, जिसे भंग नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसा निकाय है, जिसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक तीन वर्ष के बाद क्रमिक रूप से बदलते रहते हैं।

अब कानून पारित करने तथा व्यय की स्वीकृति देने संबंधी इन दोनों सदनों के प्राधिकारों को देखिए। जहां तक कानून पास करने के प्राधिकार का सवाल है, कुछ संविधान धन-विधेयक तथा अन्य विधेयकों में अंतर करते हैं और उनमें यह प्रावधान है कि ऊपरी सदन को धन-विधेयक प्रस्ताव लाने का कोई अधिकार नहीं होगा और यह भी कि ऊपरी सदन को ऐसे विधेयक को निरस्त करने का भी अधिकार नहीं होगा। इसको केवल इतना अधिकार है कि वह कुछ निश्चित समय के लिए इस विधेयक का पारित करना स्थगित कर सकता है। धन-विधेयक तथा अन्य विधेयक एक जैसे ही माने जाते हैं तथा उनके कानून बनने से पहले उनको दोनों की स्वीकृति मिलना आवश्यक होता है। इनमें अंतर केवल इतना है कि धारा 30 (1) के अनुसार यदि कोई विधेयक धन-विधेयक नहीं है तो वह किसी भी सदन में लाया जा सकता है, लेकिन धारा 37 के अनुसार धन-विधेयक ऊपरी सदन में नहीं लाया जा सकता है। लेकिन धारा 3(2) के अनुसार धन-विधेयक को अन्य किसी विधेयक की तरह ही ऊपरी सदन की स्वीकृति मिलना आवश्यक होता है।

व्यय स्वीकृति का प्राधिकार : जब विधान–मंडल द्विसदनीय होता है, तब एक बार फिर इन दोनों सदनों के बीच प्राधिकार के बंटवारे के स्वीकृत सिद्धांतों में भिन्नता पाई जाती है।

धारा 31(1) के अनुसार प्राप्तियों तथा व्यय का वार्षिक वित्तीय विवरण संघीय विधान-मंडल के दोनों सदनों के सामने रखा जाएगा और इस पर दोनों ही सदनों में बहस की जा सकेगी। न केवल इस मामले में दोनों सदनों में बहस की जा सकती है, बल्कि इन पर दोनों सदनों में मतदान भी किया जा सकता है। धारा 34(2) के अनुसार व्यय को अनुदानों के लिए मांग के रूप में संघीय विधान सभा के सामने रखा जाएगा और उसके पश्चात् राज्य परिषद में रखा जाएगा तथा किसी भी सदन को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वह किसी भी मांग को स्वीकृत या अस्वीकृत करे या उसमें उल्लिखित राशि में कमी करते हुए किसी भी मांग को स्वीकृति प्रदान करे।

अतः यह स्पष्ट है कि ये दोनों सदन प्राधिकारों के मामले में समान हैं और ये प्राधिकार कानून पारित करने तथा व्यय को स्वीकृति प्रदान करने, दोनों से संबंधित हैं। इन दोनों सदनों के बीच उत्पन्न हुए विवाद किसी एक सदन के दूसरे सदन के समक्ष झुकने से हल नहीं हो सकते, यदि वह सदन झुकने के लिए तैयार न हो। इन दोनों सदनों के बीच उत्पन्न हुए मतभेदों को हल करने के लिए संयुक्त अधिवेशन की कार्य-प्रक्रिया अपनाई गई है। धारा 31(3) में संयुक्त अधिवेशन की प्रक्रिया का उल्लेख है, जहां विधेयक के

संबंध में विवाद उत्पन्न होता है, धारा 34(3) इस प्रक्रिया से संबंधित है, जब विवाद व्यय की स्वीकृति से संबंधित होता है।

संघीय कार्यपालिका

संघीय कार्यपालिका के गठन का वर्णन धारा 7(1) में किया गया है। इस धारा के अनुसार, संघ के कार्यकारी प्राधिकार गवर्नर-जनरल को सौंपे जाते हैं। गवर्नर-जनरल ही संघ का कार्यकारी प्राधिकारी होता है। इस संघ की कार्यपालिका के बारे में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि यह एकात्मक कार्यपालिका होती है और यह निगमित निकाय नहीं है। भारत में जब से अंग्रेजों ने देश का नागरिक व सैनिक शासन हाथ में लिया है, तब से लेकर कार्यपालिका का स्वरूप कभी भी एकात्मक नहीं रहा है। यह कार्यपालिका एक संयुक्त कार्यपालिका थी। प्रांतों में इसे गवर्नर-इन-काउंसिल के नाम से जाना जाता था। केन्द्र में इसे गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल के नाम से जाना जाता था। इन प्रांतों और भारत का नागरिक तथा सैन्य शासन न तो गवर्नर में और न गवर्नर-जनरल में विहित था। जिस निकाय के पास यह अधिकार होता था, वह गवर्नर होता था और उसके साथ पार्षद होते थे। इन पार्षदों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी और उन्हें अपने प्राधिकार गवर्नर-जनरल से प्राप्त नहीं होते थे। वे अपने प्राधिकार सम्राट से प्राप्त करते थे और उनके प्राधिकार गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल के समकक्ष होते थे। राज्य-क्षेत्र की शांति तथा सद्भाव के प्रश्नों को छोड़कर गवर्नर-जनरल को बहुमत का निर्णय मान्य होता था। अतः यह संविधान स्थापित प्रणाली से भिन्न है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि यह भिन्नता सिद्धांत के तौर पर ठोस नहीं है, या नजीर या संघीय संविधान की आवश्यकताओं से पैदा होने वाली परिस्थितियों द्वारा इसका औचित्य सिद्ध नहीं होता। मैं आपको जो बात नोट कराना चाहता हूं, वह यह है कि यह बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

संघीय कार्यपालिका के बारे में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि हालांकि संघ का प्राधिकारी गवर्नर-जनरल होता है, तथापि संघीय प्राधिकारी के रूप में अपनी शक्तियों का उपयोग करने के लिए उसके लिए कुछ शर्तें निर्धारित की गई हैं। संविधान उसके प्राधिकार के अंतर्गत आने वाले मामलों को चार श्रेणियों में बांटता है तथा इस बात का उल्लेख करता है कि उसे इन चारों श्रेणियों के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक मामले में अपने कार्यकारी प्राधिकार का उपयोग कैसे करना है। कुछ मामलों में गवर्नर-जनरल को (1) अपने विवेक से काम करना है, (2) कुछ मामलों में उसे अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करना है, (3) कुछ मामलों में उसे अपने मंत्रियों के साथ परामर्श करने के बाद कार्य करना है, तथा (4) कुछ मामलों में उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करना है। गवर्नर-जनरल द्वारा कार्यकारी प्राधिकार उपयोग करने के इन चार मामलों को रेखांकित करने वाले विधितः लक्षणार्थ के बारे में भी एकाध शब्द कहे जा सकते हैं। इस विधितः लक्षणार्थ की व्याख्या शुरू करने का सर्वोत्तम तरीका इस बात की व्याख्या करना होगा कि 'अपने मंत्रियों की सलाह पर कार्य करने' का क्या तात्पर्य है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे मामलों में सरकार तो वास्तव में मंत्रियों के प्राधिकार पर चलती है तथा गवर्नर-जनरल का तो केवल नाम ही

चलता है। दूसरे शब्दों में, मंत्रियों की सलाह, गवर्नर-जनरल पर बाध्यकारी होती है तथा वह उनकी सलाह को ठुकरा नहीं सकता। ऐसे मामलों में जहां गवर्नर-जनरल को स्वाविवेक से कार्य करने का अधिकार प्राप्त है, इसका मतलब है कि सरकार न केवल गवर्नर-जनरल के नाम से चलती है, बल्कि गवर्नर-जनरल के प्राधिकार से चलती है। इसका तात्पर्य है कि मंत्रियों की ओर से किसी भी स्तर पर कोई भी व्यवधान पैदा नहीं किया जा सकता। मंत्रियों को कोई भी सलाह देने का अधिकार नहीं है तथा गवर्नर-जनरल भी उनकी सलाह देने के लिए बाध्य नहीं है। और भी स्पष्ट करने के लिए इन मामलों से संबंधित फाइलों को मंत्रियों के पास भेजने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अपने ही निर्णय के अनुसार कार्य करने का तात्पर्य है कि यदि मामला मंत्री के परामर्श क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आता है तो उस मंत्री को अंतिम निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं होता। अंतिम निर्णय का अधिकार गवर्नर-जनरल के पास होता है। अपने विवेकानुसार कार्य के अंतर्गत आने वाले मामलों में मंत्रियों को गवर्नर-जनरल को सलाह देने का कोई भी अधिकार नहीं होता, मंत्री अपनी सलाह केवल तभी दे सकता है, जब मामला 'अपने व्यक्तिगत निर्णय' के अधिकार के अंतर्गत आता है। दूसरे शब्दों में, अपने व्यक्तिगत निर्णय के अंतर्गत आने वाले मामलों में गवर्नर-जनरल अपने मंत्रियों की सलाह लेने के लिए बाध्य होता है, लेकिन उनकी सलाह को मानने के लिए बाध्य नहीं होगा। वह उनकी सलाह से भिन्न तथा अलग कार्य कर सकता है, लेकिन उसके अपने विवेकाधिकार के अंतर्गत आने वाले मामलों के संबंध में वह अपने मंत्रियों की सलाह तक लेने के लिए बाध्य नहीं है। 'परामर्श के बाद' वाक्यांश केवल प्रक्रियागत मामला होता है। ऐसे मामलों में प्राधिकार केवल गवर्नर-जनरल के पास ही होता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की होती है कि वह मंत्रियों की भावनाओं को ध्यान में रखे। इस तरह 'परामर्श के बाद कार्य करने' के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आने वाले मामलों को 'व्यक्तिगत निर्णय' के अंतर्गत आने वाले मामलों से पृथक किया जा सकता है। 'व्यक्तिगत निर्णय' के अधीन आने वाले मामलों में प्राधिकार केवल मंत्रियों के पास होता है। गवर्नर-जनरल केवल निगरानी रख सकता है तथा आवश्यकता पड़ने पर विरोध में निर्णय दे सकता है। 'परामर्श के बाद' के अधीन आने वाले मामलों के संबंध में प्राधिकार केवल गवर्नर-जनरल के पास ही होता है तथा मंत्रियों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की स्वतंत्रता होती है।

संघीय न्यायपालिका

भारत सरकार अधिनियम में संघीय संविधान के एक अंग के रूप में संघीय न्यायालय के गठन का प्रावधान है। इस संघीय न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ ऐसे अवर न्यायाधीश हो सकते हैं, जिन्हें महामहिम आवश्यक समझें तथा उनकी संख्या छह से ज्यादा नहीं हो सकती, जब तक कि विधान–मंडल द्वारा इसमें वृद्धि करने संबंधी प्रस्ताव नहीं लाया जाता। संघीय न्यायापालिका के पास मूल तथा अपील संबंधी क्षेत्राधिकार होता है। संघीय न्यायालय के मूल क्षेत्राधिकार का वर्णन करने वाली धारा 204 में व्यवस्था है कि न्यायालय के पास ऐसे मामलों का एकमात्र मूल अधिकार-क्षेत्र होगा जो संघ, प्रांतों

तथा संघीकृत राज्यों के बीच किसी कानून या तथ्य को लेकर झगड़े के रूप में उभरते हैं और जिन पर कानूनी अधिकार की विद्यमानता या विस्तार निर्भर करता है। हालांकि इस धारा में यह भी प्रावधान है कि यदि कोई राज्य एक पक्ष है तो इस विवाद के संबंध में इस अधिनियम या उसके अधीन सभा के आदेश या विलय-पत्र के माध्यम से संघ में विहित वैधानिक या कार्यकारी प्राधिकार के निर्वचन का सहारा लिया जाना चाहिए, या विवाद राज्यों में संघीय कानून के प्रशासन हेतु इस अधिनियम के भाग 6 के अंतर्गत किसी करार के अंतर्गत हो या ऐसे मामले पर हो जिसके अंतर्गत संघीय विधान-मंडल को राज्यों के लिए कानून बनाने का अधिकार हो या राज्यों तथा संघ या प्रांत के बीच सम्राट के प्रतिनिधियों के अनुमोदन सहित संघ के बाद हुए करार के अंतर्गत विवाद होने की स्थिति में इस धारा में ऐसे क्षेत्राधिकार का भी प्रावधान है। राज्यों के संबंध में संघीय न्यायालय के इस सीमित अधिकार-क्षेत्र को इस शर्त द्वारा और भी सीमित कर दिया गया है कि यदि कोई विवाद ऐसे क्षेत्राधिकार के बाहर आने वाले करार के अंतर्गत पैदा होता है तो वह विवाद न्याय योग्य नहीं होगा।

संघीय ढांचे का अपील संबंधी क्षेत्राधिकार धारा 205 तथा धारा 207 द्वारा विनियमित होता है। धारा 205 कहती है कि ब्रिटिश भारत के किसी उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश से संबंधित अपील संघीय न्यायालय में की जा सकेगी, बशर्तें उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि मामला इस अधिनियम या उसके अधीन बनाई गई परिषद के आदेश के निर्वचन जैसे गंभीर कानूनी प्रश्न से संबंधित है। धारा 207 संघीकृत राज्यों के न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील से संबंधित है। इसमें उल्लेख है कि किसी संघीकृत राज्य के न्यायालय से संघीय न्यायालय में अपील की जा सकेगी, यदि कानूनी प्रश्न पर गलत निर्णय दिया गया है, जो प्रश्न इस अधिनियम या उसके अधीन बनाई गई परिषद के किसी आदेश या वैधानिक अधिकारकरण या उस राज्य के विलय-पत्र द्व ारा संघ में विहित कार्यकारी प्राधिकार से संबंधित है या संघीय विधान-मंडल के कानून के उस राज्य में प्रशासन हेतु इस अधिनियम के भाग 6 के अंतर्गत किए गए करार के अंतर्गत पैदा होता है, लेकिन धारा 207 की उप–धारा (2) में प्रावधान है कि इस धारा के अंतर्गत कोई भी अपील उच्च न्यायालय द्वारा संघीय न्यायालय की राय जानने हेतु विशिष्ट मामले के रूप में भेजे जाने पर ही स्वीकार की जाएगी तथा संघीय न्यायालय भी किसी मामले में ऐसा उल्लेख करने के लिए कह सकता है।

संघीय न्यायालय के संबंध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो संघीय न्यायालय द्वारा अपने ही आदेशों को कार्यान्वित करने की शक्ति से संबंधित है। संघीय न्यायालय के पास अपने ही आदेशों को लागू करने के लिए मशीनरी नहीं है। धारा 210 में उल्लेख किया गया है कि संघीय न्यायालय के आदेश ब्रिटिश भारत या संघीकृत राज्य के सभी न्यायालयों तथा प्राधिकारियों द्वारा ऐसे लागू किए जाएंगे मानों उन्हें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नागरिक तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हुए बनाया गया हो। अतः अपने ही आदेशों को लागू करने के लिए जो व्यवस्था संघीय न्यायालय के पास

है, वह केवल संघ की इकाइयों की प्रशासनिक मशीनरी ही है। संघीय इकाइयां संघीय न्यायालय की सहायता करने के लिए बाध्य होती हैं। उदाहरण के तौर पर यह प्रणाली संयुक्त राज्य अमरीका में प्रचलित प्रणाली से भिन्न है, क्योंकि वहां उच्चतम न्यायालय के पास अपने आदेशों को लागू करने या कराने की अपनी व्यवस्था है।

संघीय न्यायालय के बारे में दूसरी उल्लेखनीय बात न्यायाधीशों को हटाने की कार्यपालिका की शक्तियों और उनके आचरण पर चर्चा करने संबंधी विधान–मंडल की शक्ति से संबंधित प्रश्न है। इस संबंध में भी संघीय न्यायालय अन्य संघों के संघीय न्यायालयों से भिन्न है। संविधान संघीय न्यायालय के किसी न्यायाधीश को निलंबित करने की शक्ति गवर्नर-जनरल को नहीं देता। यह विधान–मंडल को भी किसी न्यायाधीश के न्यायिक आचरण के बारे में चर्चा करने की अनुमति नहीं देता। निस्संदेह, इससे संघीय न्यायालय के न्यायाधीश को अपनी पदावधि तक पद पर बने रहने की स्थिरता तथा कार्यपालिका या विधान–मंडल द्वारा हस्तक्षेप न किए जाने की स्वतंत्रता मिलती है। कार्यपालिका के नियंत्रण से न्यायपालिका को मुक्त करने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि किसी न्यायाधीश की पदावधि कार्यपालिका की दया पर निर्भर नहीं होनी चाहिए। अतः सभी संविधानों में यह प्रावधान है कि न्यायाधीश का पद पर बने रहना उसके सद्व्यवहार पर निर्भर करेगा तथा किसी न्यायाधीश को केवल तभी हटाया जा सकेगा, जबकि विधान–मंडल द्वारा ऐसी घोषणा करते हुए प्रस्ताव लाया जाए कि उसका व्यवहार ठीक नहीं है। ऐसा कुछ प्राधिकार किसी को दिया जाना चाहिए, जिसे किसी न्यायाधीश के सद्व्यवहार के बारे में घोषणा करने की शक्ति प्राप्त हो। संघीय संविधान में यह प्रावधान नहीं है, अतः संघीय न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में एक बार नियुक्ति हो जाने पर उसे उसकी सेवानिवृत्ति तक पद से नहीं हटाया जा सकता, भले ही इस अवधि के दौरान उसका व्यवहार कैसा भी रहा हो। इसके बजाय धारा 200(2)(ख) के अंतर्गत संघी न्यायालय के न्यायाधीश को उसके दुर्व्यवहार या शारीरिक अथवा मानसिक कमजोरी के आधार पर हटाए जाने की शक्ति महामहिम के पास है, बशर्ते कि प्रीवी काउंसिल की न्यायिक समिति इस आशय का प्रतिवेदन प्रस्तुत करे कि उसे ऐसे किसी कारण के आधार पर हटाया जाए।

4
संघ की शक्तियां

संघीय सरकार की शक्तियों का वर्णन करने से पहले सरकार के संघीय ढांचे के मूल तत्व की व्याख्या करना वांछनीय होगा। इसकी व्याख्या करने का सरलतम तरीका सरकार के एकात्मक ढांचे के साथ उसकी तुलना करना है।

यद्यपि सरकार का संघीय स्वरूप एकात्मक स्वरूप से भिन्न होता है, तथापि इन दोनों के बीच अंतर करना आसान नहीं है। दूसरी ओर, ऊपरी तौर पर इन दोनों के बीच

बहुत अधिक समानता पाई जाती है। आजकल प्रत्येक देश की सरकार विशिष्ट क्षेत्रों में कार्यरत प्रशासनिक इकाइयों के अंतःसंबंधित समूहों द्वारा चलाई जाती है और विशिष्ट जनकार्य किए जाते हैं। यह सरकार के संघीय स्वरूप तथा सरकार के एकात्मक स्वरूप वाले देशों के बारे में भी सही है। संघीय संविधान में एक केन्द्र सरकार होती है और उससे संबद्ध कई स्थानीय सरकारें होती हैं। ठीक इसी तरह से एकात्मक संविधान में एक केन्द्रीय सरकार होती है और उससे जुड़ी हुई कई स्थानीय सरकारें होती हैं। इस प्रकार ऊपरी तौर पर इन दोनों के बीच कोई अंतर दिखाई नहीं पड़ता।

इन दोनों के बीच में वास्तविक अंतर होता है। यह स्पष्टतः दिखाई नहीं देता। यह अंतर केन्द्र तथा स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों के बीच अंतःसंबंध के रूप में होता है। इस अंतर का हम इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं : सरकार के एकात्मक ढांचे के अंतर्गत स्थानीय निकायों की शक्तियां केन्द्रीय सरकार के अधिनियम से प्राप्त होती हैं। ऐसा होने के कारण स्थानीय सरकार की शक्तियों को केन्द्रीय सरकार द्वारा कभी भी वापस लिया जा सकता है। सरकार के संघीय स्वरूप में केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों की शक्तियां संविधान के कानून द्वारा प्राप्त होती हैं, जिन्हें न तो स्थानीय सरकार और न केन्द्रीय सरकार अपने अधिनियम के द्वारा बदल सकती हैं। इन दोनों को ही अपनी शक्तियां संविधान के कानून के तहत मिलती हैं और संविधान के अनुसार इसमें प्रत्येक से अपेक्षा की जाती है कि वे खुद को दी गई शक्तियों के अंतर्गत ही समिति रखें। संविधान न केवल प्रत्येक की शक्तियों का निर्धारण करता है, बल्कि एक ऐसी न्यायपालिनका की भी व्यवस्था करता है जो किसी अधिनियम के बारे में यह घोषणा कर सके, चाहे वह स्थानीय सरकार का हो या केन्द्रीय सरकार का, कि वह निरस्त कर दिया गया है, यदि ऐसा अधिनियम संविधान द्वारा निर्धारित सीमा का उल्लंघन करता हो। इसके बारे में क्लीमेंट ने कनाडा के संविधान पर अपनी पुस्तक में लिखा है :

> ब्यौरे के अतिरिक्त, आज के युग में संघीय सरकार शब्द में एक ऐसा करार विहित है, जो लोगों को ऐसे मामलों में एक ही सामान्य सरकार के नियंत्रण के प्रति प्रतिबद्ध करता है, जिनके बारे में सामान्य हितों के कारण सहमति हुई है, फिर भी प्रत्येक स्थानीय सरकार को अन्य सभी मामलों में स्वतंत्र तथा स्वायत्त छोड़ दिया गया है। एक आवश्यक उप-सिद्धांत के रूप में संपूर्ण करार में मूल कानून विहित होता है, जिसे न्यायालयों में मान्यता प्रदान की जाती है और जिसे न्यायालयों के अभिकरण के माध्यम से ही लागू किया जाता है। वस्तुस्थिति की वह रेखा जो संपूर्ण संघ से संबंधित सामान्य हितों के मामलों में प्रत्येक इकाई के स्थानीय हितों के मामलों से पृथक करती है, संघ का मूल तत्व नहीं है। जब कि इसे किसी भी प्रस्तावित योजना के अंतर्गत लिया जाता है तो यह संघ में शामिल होने वाले समुदायों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि उनकी वास्तविक परिस्थितियों, भौगोलिक, वाणिज्यिक, जातीय या अन्य के संबंध में वास्तव में समान हितों के मामले क्या-क्या हैं, जिन्हें सामान्य सरकार को सौंपा जाना है। लेकिन

संघ में शामिल होने वाले करार द्वारा निर्धारित इस रेखा का अनुरक्षण आधुनिक संघ का मूल तत्व है, कम से कम उस प्रकार का, जैसा कि आज तीन महान आंग्ल सैक्सन संघों-संयुक्त राज्य अमेरीका, आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में दर्शाया गया है। इस प्रकार मूलभूत प्रपत्र जिसमें कि देश का मौलिक कानून विहित होता है, उसकी व्याख्या के लिए न्यायालयों को ही संवैधानिक व्याख्या करने की महत्ता तथा गुरुता प्रदान की गई है।

इस प्रकार संविधान के कानून द्वारा केन्द्र तथा स्थानीय सरकारों के बीच सरकार की शक्तियों को विभाजित करने तथा उन्हें बनाए रखने के उद्देश्य से न्यायापालिका के माध्यम से खींची जाने वाली रेखा सरकार के संघीय स्वरूप की दो विशिष्ट विशेषताएं प्रकट करती है। यही दो विशेषताएं उसे सरकार के एकात्मक स्वरूप से पृथक करती हैं। संक्षेप में, प्रत्येक संघ में दो बातें सम्मिलित होती हैं : (1) केन्द्रीय सरकार तथा इकाइयां, जो इसे संविधान के कानून के अनुसार बनाती हैं, के बीच शक्तियों का विभाजन, जो दोनों की इन शक्तियों से परे होता है कि दी हुई शक्तियों में कोई परिवर्तन कर सकें या उनके कार्य को सीमित कर सकें, और (2) दोनों के नियंत्रण से परे एक न्यायाधिकरण होता है और वह तभी निर्णय देता है, जब ऐसा कोई प्रश्न उत्पन्न होता है कि केन्द्र या एक इकाई, विधान–मंडल, न्यायापालिका, प्रशासन या वित्तीय विभाग का कोई विशिष्ट अधिनियम संविधान द्वारा दी गई शक्तियों से परे हो।

संघ सरकार का तात्पर्य स्पष्ट कर देने के बाद मैं आपको उन शक्तियों के बारे में कुछ जानकारी देना चाहूंगा, जो संविधान द्वारा संघीय सरकार को प्रदान की जाती हैं।

संघ की विधायी शक्तियां

विधायी शक्तियों के विभाजन के उद्देश्य से विधान के संभाव्य विषयों को तीन श्रेणियों में रखा गया है। पहली श्रेणी के अंतर्गत के विषय आते हैं, जिनके बारे में नियम बनाने का पूरा-पूरा अधिकार संघीय विधान–मंडल के पास होता है। इस सूची को संघीय सूची कहा जाता है। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत वे विषय आते हैं, जिनके बारे में नियम बनाने का पूरा-पूरा अधिकार प्रांतीय विधान–मंडल के पास होता है। इस सूची को प्रांतीय सूची कहा जा जाता है। तीसरी श्रेणी में वे विषय आते हैं, जिनके बारे में नियम बनाने का अधिकार संघ या प्रांत, दोनों ही विधान–मंडलों को होता है। इस सूची को समवर्ती सूची कहा जाता है। इन सूचियों का कार्य-क्षेत्र तथा विषय वस्तु भारत सरकार अधिनियम की अनुसूची 7 में दी गई है।

संघ के मूल सिद्धांतों के अनुसार संघीय विधान–मंडल द्वारा बनाया गया नियम (कानून) यदि प्रांतीय सूची में दिए गए मामले से संबंधित है तो यह नियम-विरुद्ध होगा

और विधि-विरुद्ध होगा। ठीक इसी तरह से यदि प्रांतीय विधान–मंडल किसी ऐसे विषय के संबंध में कानून बनाता है, जो संघीय सूची के अंतर्गत आता है तो ऐसा प्रांतीय कानून नियम-विरुद्ध और विधि-विरुद्ध होगा। तथापि, कानून तथा धारा 107 के अनुसार अब इसे कानून का विषय माना गया है। संघीय सूची तथा प्रांतीय सूची के अंतर्गत विधान बनाने से संबंधित विवाद बार-बार पैदा नहीं होते हैं। लेकिन समवर्ती सूची के अंतर्गत नियम बनाने से संबंधित विषयों के बारे में इन दोनों के बीच अन्य विवाद उत्पन्न हो सकता है। इस संबंध में आप धारा 107 में नियम पाएंगे। उप–धारा (1) में व्यवस्था है कि संघ द्वारा बनाया गया कानून कब प्रांत द्वारा बनाए गए कानून से ऊपर होगा। उप–धारा (2) में यह व्यवस्था है कि प्रांत का कानून से किस स्थिति में ऊपर होगा। इन उप–धाराओं को साथ-साथ पढ़ने से कानून की दृष्टि से यह स्थिति है। नियमानुसार संघ का कानून प्रांत के कानून से ऊपर माना जाएगा, यदि इन दोनों के बीच कोई विवाद है। लेकिन ऐसे मामले में जब प्रांत के कानून को गवर्नर-जनरल के विचारार्थ सुरक्षित रख दिया गया है या महामहिम की स्वीकृति के लिए रोक लिया गया है, गवर्नर-जनरल अथवा महामहिम की स्वीकृति प्राप्त होने तक प्रांत का कानून ही सर्वोपरि होगा, जब तक कि संघीय विधान–मंडल उसी मामले के संबंध में कोई दूसरा विधान नहीं बना लेता।

विधान की शक्तियों के इस विभाजन के प्रश्न के संबंध में प्रत्येक संघ के सामने समस्याएं आती हैं। यह समस्या इसलिए उत्पन्न होती है, क्योंकि इस बात की कोई गारंटी नहीं होती कि विधान के विषयों की गणना पूरी तरह से कर ली गई है और उसमें विधान का प्रत्येक संभावित विषय सम्मिलित हैं। सूची कितनी ही पूर्ण तथा विस्तृत क्यों न हो, इस बात की संभावना हमेशा बनी रहती है कि कुछ विषय सूची में शामिल करने से रह जाते हैं। प्रत्येक संघ को ऐसी आकस्मिकता के लिए व्यवस्था करनी होती है और यह निर्धारित करना होता है कि ऐसे बचे हुए विषयों के मामले में कानून बनाने का अधिकार किसके पास होगा। क्या यह शक्तियां केन्द्रीय सरकार को दी जाएं या इकाइयों को दी जाएं? अब तक ऐसे मामलों को निपटाने का केवल एक ही तरीका रहा है। कुछ संघों में ऐसी बची हुई शक्तियां केन्द्र सरकार को दे दी जाती हैं, जैसा कि कनाडा में हैं। कुछ संघों में यह शक्तियां इकाइयों का को दे दी जाती हैं, जैसा कि आस्ट्रेलिया में है। भारतीय संघ ने इनसे निपटने का नया तरीका अपनाया है। भारतीय संघ में इन शक्तियों को न तो केन्द्र सरकार को ही दिया जाता है और न ही प्रांतीय सरकारों को। ये सभी शक्तियां धारा 104 के अनुसार गवर्नर-जनरल के पास होती हैं। जब किसी ऐसे विषय पर जो इन तीनों सूचियों में से किसी भी सूची में नहीं है, कानून बनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है, तब गवर्नर-जनरल ही यह निर्णय करता है कि इन शक्तियों का उपयोग संघीय विधान–मंडल द्वारा किया जाए या प्रांतीय विधान–मंडल द्वारा।

संघ की कार्यकारी शक्तियां

पहला प्रश्न यह है कि संघ की कार्यकारी शक्तियों की सीमा क्या हो? क्या ये शक्तियां विधायी शक्तियों के साथ-साथ हों? कुछ संघों में कानून ने इसे स्पष्ट नहीं किया। इसे न्यायिक निर्णय के ऊपर छोड़ दिया गया है, जैसा कि कनाडा के मामले में है। भारतीय संविधान इस मामले को न्यायालयों द्वारा निर्णय दिए जाने के लिए नहीं छोड़ता है। इसे स्वयं अधिनियम में ही परिभाषित कर दिया गया है। प्रासंगिक धारा 8(1) है। इसके अनुसार संघ का कार्यकारी प्राधिकार निम्नांकित पर लागू होता है :

(क) ऐसे मामले जिनके संबंध में संघीय विधान-मंडल को कानून का अधिकार प्राप्त है,

(ख) ब्रिटिश भारत में महामहिम की ओर से नौ-सेना, थल सेना, वायु सेना की स्थापना और भारतीय संगठन में महामहिम के सैन्य बलों पर प्रशासन, और

(ग) संधि, अनुदान, प्रथा, रजामंदी या अन्य महामहिम द्वारा जनजातीय क्षेत्रों के मामले में प्रयोग लाए जाने वाले ऐसे अधिकारों, प्राधिकारों तथा क्षेत्राधिकार का उपयोग करना।

इस उप–धारा के प्रावधानों को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होती। शायद उपखंड (क) को समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है। इसके अनुसार कार्यकारी शक्तियां संघ की विधायी शक्तियों के साथ होनी चाहिएं। अब संघ की विधायी शक्ति न केवल संघीय सूची तक अधिकार रखती है, बल्कि इसका क्षेत्र समवर्ती सूची तक भी होता है। क्या संघ की कार्यकारी शक्ति समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों पर लागू होती है, इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले दो बातें ध्यान में रखी जानी चाहिएं। पहली यह कि समवर्ती सूची प्रांत के विधायी प्राधिकार के अंतर्गत आती है। दूसरी यह है कि धारा 49(2) के अनुसार प्रत्येक प्रांत का कार्यकारी प्राधिकारी केवल उन्हीं मामलों तक सीमित होता है, जिनमें प्रांत के विधान–मंडल को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रश्न का उत्तर कि क्या संघ का कार्यकारी प्राधिकार समवर्ती सूची पर भी लागू होता है, यह है कि समवर्ती सूची के संबंध में कार्यकारी प्राधिकार संघीय सरकार तथा प्रांतीय सरकार, दोनों के ही पास होता है। यह धारा 126(2) से स्पष्ट होता है। इसका संबंध प्रांत सरकार से होता है, सिर्फ ऐसे मामलों को छोड़कर जो संघीय विधान–मंडल, के अंतर्गत आ गए हैं। इसका संबंध संघीय सरकार से होता है, सिर्फ ऐसे मामलों को छोड़कर, जिनके बारे में प्रांतीय विधान–मंडल ने कानून बना दिया है।

समवर्ती सूची वह सूची नहीं है, जो संघीय विधान–मंडल के विधान के अंतर्गत आती है। संघीय विधान–मंडल आपातकाल के दौरान धारा 102 के अंतर्गत प्रांतीय सूची में आने वाले विषयों पर कानून बना सकता है और धारा 106 के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय करार कर सकता है। क्या संघ का कार्यकारी प्राधिकार ऐसे मामलों पर भी लागू होता है? इसका उत्तर यह है कि जब कोई क्षेत्र संघीय विधान–मंडल के अंतर्गत आ जाता है तो वह क्षेत्र संघ के कार्यकारी प्राधिकार क्षेत्र के अंतर्गत भी आता है।

संघ की प्रशासनिक शक्तियां

संघ की प्रशासनिक शक्तियां संघ की कार्यकारी शक्तियों के बाद ठीक वैसे ही आती है, जैसे संघ की कार्यकारी शक्तियां संघ की विधायी शक्तियों का अनुकरण करती हैं।

इसका केवल एक अपवाद है। यह अपवाद समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों के प्रशासन से संबंधित है। समवर्ती सूची वह सूची है, जिस पर संघ विधायी प्राधिकार धारा 100 के अनुसार लागू होता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि संघ का कार्यकारी प्राधिकार केवल तभी लागू होता है, जब संघीय विधान ने किसी क्षेत्र को समाविष्ट कर लिया हो। लेकिन समवर्ती सूची के अंतर्गत आने वाले विषयों से संबंधित प्रशासनिक शक्तियां संघ के पास नहीं होतीं। ये शक्तियां प्रांतों के पास होती हैं।

संघ की वित्तीय शक्तियां

संघीय सरकार को राजस्व की प्राप्ति चार विभिन्न स्रोतों से होती हैं : (1) वाणिज्यिक उद्यम से राजस्व, (2) प्रभुसत्ता करों से राजस्व, (3) शुल्क से राजस्व, तथा (4) करों से राजस्व।

पहले शीर्षक के अंतर्गत डाक तथा तार, संघ रेलवे, बैंक से होने वाले लाभ तथा अन्य वाणिज्यिक प्रचालनों से प्राप्त होने वाला राजस्व आता है। दूसरे शीर्षक के अंतर्गत मुद्रा तथा सिक्का, जिस सामान का कोई मालिक न हो और संघीय सरकार के प्रशासनाधीन क्षेत्रों से राजसव प्राप्त होता है। तीसरे शीर्षक के अंतर्गत देशी-राज्यों से प्राप्त अंशदान और शुल्क से प्राप्त राजस्व आता है।

करों से प्राप्त राजस्व का वर्गीकरण संविधान द्वारा संघीय सरकार को दी गई कराधान शक्तियों के अनुसार किया जाता है। संघीय सरकार को दी गई कराधान शक्तियां तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं। पहली श्रेणी में कराधान की ऐसी सभी शक्तियां आती हैं, जो पूरी तरह से संघीय सरकार के अधिकार में होती हैं। दूसरी श्रेणी में कराधान की वे सभी शक्तियां आती हैं जो ऐसे राजस्व को प्राप्त करने के लिए अपनाई जा सकती हैं, जो संघीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारों के बीच विभाजन के योग्य हैं।

कराधान शक्तियों की पहली श्रेणी के अंतर्गत आने वाले राजस्व शीर्ष के अंतर्गत ऐसे सभी क्षेत्र आते हैं, जिनका संघीय सूची में उल्लेख किया गया है :

1. सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क सहित,
2. तंबाकू तथा भारत में निर्मित या उत्पादित अन्य वस्तुओं पर उत्पाद शुल्क, निम्नांकित को छोड़कर :
   - (क) लोगों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली शराब,
   - (ख) अफीम, देशी भांग तथा अन्य नशीली व गैर-नशीली औषधियां और मादक पदार्थ, तथा
   - (ग) इस प्रविष्टि के उप-अनुच्छेद (ख) में सम्मिलित अल्कोहल से बनी औषधियां तथा प्रसाधन सामग्री।

3. निगम कर,
4. नमक,
5. राज्य लाटरी,
6. कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कराधान,
7. बड़ी संपत्तियों पर पूंजी कर - व्यक्तियों तथा कंपनियों की कृषि भूमि को छोड़कर, कंपनियों की पूंजी पर कर,
8. कृषि भूमि को छोड़कर अन्य संपत्ति के उत्तराधिकार पर कर,
9. विनिमय बिलों, चेकों, प्रौमिजरी नोटों, लोडिंग बिलों, साख पत्रों, बीमा प्रतिपत्र पालिसियों और प्राप्तियों पर स्टाम्प शुल्क,
10. रेल या हवाई जहाज द्वारा ले जाए जाने वाले यात्रियों या समान पर सीमा कर, रेल किराए तथा भाड़े पर कर, और
11. इस सूची में सम्मिलित किसी भी वस्तु के संबंध में शुल्क, लेकिन किसी न्यायालय में लिए गए शुल्क को छोड़कर।

इस संबंध में समवर्ती सूची में निम्नांकित मद की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है :

1. विवाह तथा तलाक,
2. वसीयतनामा, निर्वसीयता तथा उत्तराधिकार, और
3. संपत्ति तथा अन्य कृषि भूमि का हस्तांतरण।

समवर्ती सूची में होने के कारण संघीय विधान–मंडल को इस संबंध में कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। क्या संघीय विधान–मंडल इसके संबंध में कानून बनाने के साथ-साथ उनसे राजस्व की प्राप्ति कर सकता है? इस अधिनियम में इस प्रश्न का कोई भी उत्तर दिखाई नहीं देता। तथापि, यह सुझाव दिया जा सकता है कि बाकी हिस्से से संबंधित शक्तियों के उपयोग के संबंध में धारा 104 में दिए गए नियम यहां पर भी लागू होंगे। संविधान के द्वारा राजस्व के जिन स्रोतों का विभाजन किया जा सकता है, वे इस प्रकार हैं :

1. निगम कर को छोड़कर अन्य आय कर, तथा
2. जूट निर्यात शुल्क।

संघीय कानून के अनुसार जिनका वितरण किया जा सकता है, वे इस प्रकार हैं :

1. नमक पर कर,
2. तंबाकू तथा अन्य समान पर उत्पाद शुल्क, और
3. निर्यात शुल्क।

संघ की वित्तीय शक्तियों के संबंध में एक विशेषता ऐसी है, जो अपनी प्रमुखता के कारण ध्यान आकर्षित करती है। इस अधिनियम में जहां संघीय सरकार को कर लगाने का अधिकार प्राप्त है, वहीं कर वसूली का अधिकार नहीं है। इसमें कर लगाने के अधिकार और वसूली के अधिकार के बीच अंतर है। जैसा आय कर तथा निगम कर पर अधिभार के मामले में भी है

आय कर केवल प्रांतों में ही लगाया जा सकता है, राज्यों में नहीं। हालांकि यह कर संघ के उद्देश्यों के लिए होता है। राज्य की प्रजा आय कर पर केवल संघीय अधिभार दे सकती है, क्योंकि इस तरह का अधिभार प्रांतों तथा राज्यों, दोनों में ही लगाए जाने योग्य होता है। लेकिन धारा 138(3) के अंतर्गत संघीय सरकार को राज्य के अंतर्गत इसकी वसूली का अधिकार नहीं है। इसकी वसूली का अधिकार राज्य के शासक के पास होता है। यह शासक अपनी जनता से इस अधिभार को इकट्ठा करने की बजाए संघ को एकमुश्त राशि अदा करने पर सहमत हो सकता है और संघ उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। ठीक ऐसा ही निगम कर के बारे में है। संघ इसे राज्य की जनता पर लगा सकता है, लेकिन वह सीधे तौर पर अपने अभिकरण के माध्यम से इसे इकट्ठा नहीं कर सकता है। धारा 139 में यह व्यवस्था है कि निगम कर की वसूली शासक का कार्य तथा अधिकार होगा।

5
संघ का स्वरूप

संघ की प्रकृति

भारतीय संघ की तुलना अन्य संघों से कैसे की जा सकती है? यह केवल नैसर्गिक परिप्रश्न नहीं है, बल्कि एक आवश्यक परिप्रश्न भी है। किसी भी चीज को समझने का सबसे बढ़िया तरीका उसकी तुलना तथा विपर्यास होता है। यह तुलना दृष्टिकोणों से स्थापित की जा सकती है। इतने बड़े पैमाने पर इसकी तुलना करने का समय नहीं है। मैं इस प्रश्न को बहुत ही सरील आयामों तक सीमित रखता हूं। अतः मैं केवल चार प्रश्न करता हूं : (1) क्या यह संघ एक चिरस्थायी संघ है? (2) संघीय सरकार के साथ इकाइयों का क्या संबंध है? (3) इकाइयों के बीच आपस में कया संबंध है? (4) इकाइयों के अधीन लोगों के क्या संबंध हैं?

इसमें कोई संदेह नहीं है कि संघ में देशी राज्यों का विलय तब तक चिरस्थायी है, जब तक कि इस अधिनियम के द्वारा बनाया गया संघ अस्तित्व में है। और जब तक संघ अस्तित्व में है, तब तक उससे अलग होने का कोई अधिकार नहीं। लेकिन यह कोई असल प्रश्न नहीं है। असल प्रश्न यह है कि क्या इस अधिनियम के बदले जाने पर भी संघ होगा? दूसरे शब्दों में, क्या यह संघ चिरस्थायी है जिससे अलग होने का कोई अधिकार नहीं है, या यह केवल गठबंधन है जिससे अलग होने का अधिकार है? मेरे विचार में भारतीय संघ चिरस्थायी संघ नहीं है और देशी राज्यों को उससे अलग होने का अधिकार है। इस संबंध में संयुक्त राज्य तथा इस भारतीय संघ का संविधान एक-दूसरे के विपरीत है। संयुक्त राज्य का संविधान अलग होने के अधिकार पर कुछ नहीं कहता। इस भूल की व्याख्या दो अलग-अलग तरीकों से की गई है। कुछ ने कहा है कि इसकी व्यवस्था इसलिए नहीं की गई, क्योंकि इसे मान्यता नहीं दी गई थी। दूसरों ने कहा कि इसको इसलिए असम्मिलित किया गया, क्योंकि इसे नकारा नहीं गया था। इस प्रश्न पर यह विवाद था कि क्या अलग होने के अधिकार को इसलिए असम्मिलित किया गया, क्योंकि

इसे मान्यता नहीं मिली और जिसके कारण 1861 का गृह-युद्ध हुआ। इस गृह–युद्ध से दो महत्वपूर्ण सिद्धांत तय हुए: (1) किसी भी राज्य संघीय सरकार के किसी भी अधिनियम को अवैध घोषित करने का अधिकार नहीं है, और (2) किसी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है। भारतीय संघ से अलग होने के अधिकार के लिए युद्ध करना अनावश्यक होगा, क्योंकि संविधान में इस बात को मान्यता प्रदान की गई है कि भारतीय संघ से देशी राज्यों को अलग होने का अधिकार है, बशर्ते कुछ विशिष्ट परिस्थितियां घटित हों। चिरस्थायी संघ क्या है तथा गठबंधन क्या है, इसके बारे में इंग्लैड तथा स्कॉटलैंड के बीच संघ की प्रकृति के अपने विश्लेषण में ब्लैकस्टोन ने स्थिति बिल्कुल स्पष्ट कर दी है। उनकी ही भाषा का उपयोग करें तो भारतीय संघ कोई नियमित संघ नहीं है, क्योंकि किसी संघ में संविदाकारी दो राज्य अपना अस्तित्व खो देते हैं। उनमें पुनर्जीवन की शक्ति नहीं रहती। भारतीय संघ दो संविदाकारी राज्यों का गठबंधन है, सम्राट तथा देशी राज्यों का, जिसके अंतर्गत इनमें से कोई भी पूरी तरह नष्ट नहीं होता, बल्कि प्रत्येक के पास यह अधिकार सुरक्षित होता है कि शर्त टूट जाने पर वह अपनी मूल-स्थिति प्राप्त कर सकता है। संयुक्त राज्य का संविधान गठबंधन के तौर पर उभरा था, लेकिन वह संघ में बदल गया। भारतीय संघ गठबंधन के रूप में उभरा था और गठबंधन के रूप में ही जारी रहेगा। यह निर्विवाद है कि भारतीय संघ में संघ का कोई लक्षण नहीं है, लेकिन दूसरी ओर इसमें गठबंधन के सभी संकेत मौजूद हैं। अमरीकी संविधान पर अपने भाषण में डैनियल वेबस्टर ने संघ के लक्ष्यों के बारे में कहा था :

> ... यह संविधान उस राजनीतिक प्रणाली की बात करता है, जिसे संयुक्त राज्य की सरकार के रूप में स्थापित किया गया है। क्या प्रभुतासंपन्न शक्तियों के बीच हुए मेल या गठबंधन को 'सरकार' कहना भाषा का हनन नहीं होगा? किसी राज्य की सरकार वह संगठन होता है, जिसमें राजनीतिक शक्ति विहित होती है।
>
> ... किसी सरकार तथा किसी लीग या गठबंधन के बीच मोटे तौर पर स्पष्ट अंतर यह है कि सरकार एक राजनीतिक निकाय होती है, इसकी अपनी इच्छाशक्ति होती है तथा इसके पास अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए शक्तियां तथा वैधानिक स्वतंत्रता होती है। प्रत्येक गठबंधन अपने अनुबंधों को लागू करने के लिए कुछ शक्ति चाहता है। प्रभुतासंपन्न राज्यों के बीच हुए गठबंधन में भी अपने कार्यपालन को सुनिश्चित करने के लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, हालांकि ऐसे मामले में यह शक्ति एक पक्ष के बल का दूसरे पक्ष के बल के खिलाफ उपयोगमय होती है, अर्थात् इसे युद्ध-शक्ति कहा जा सकता है। लेकिन सरकार अपने निर्णय का पालन अपने सर्वोच्च प्राधिकार के साथ करती है। सरकार द्वारा अपने ही अधिनियमों का पालन कराने के लिए उपयोग में लाया गया बल युद्ध नहीं होता। यह विचार करती है कि किसी भी विपक्षी दल के पास विरोध करने का अधिकार न हो, यह उसकी अपनी इच्छा को लागू करने की शक्ति में विहित होता है, और जब उसके पास यह शक्ति नहीं रह जाती है, तब वह सरकार भी नहीं रहती।

इस परिप्रेक्ष्य यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह अधिनियम ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के लिए संघीय सरकार की स्थापना नहीं करता। यह अधिनियम केवल ब्रिटिश भारत के लिए ही संघीय सरकार की स्थापना करता है। यह संघीय सरकार राज्यों के लिए सरकार केवल तभी बनेगी, जब राज्य अपने विलय-पत्र के माध्यम से इसे अंगीकार कर लें। पुनः ध्यान दें कि संघीय सरकार के अधीन राज्यों का होना हमेशा के लिए जरूरी नहीं है। यह केवल कुछ विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत ही लागू रहेगा। यह केवल तब तक चलता रहेगा, जब तक कि इस अधिनियम के कुछ प्रावधानों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। तीसरे, जहां इन उपबंधों में कोई परिवर्तन अनुज्ञेय है तो ऐसा परिवर्तन राज्यों पर बाध्यकारी नहीं होगा, जब तक कि राज्य इससे बाध्य होने के लिए सहमत नहीं हो जाते।

ये सभी निर्विवाद लक्षण संकेत हैं जो यह दर्शाते हैं कि भारतीय संघ एक गठबंधन है, न कि चिरस्थायी संघ। किसी गठबंधन का सार यह होता है कि इसके पास अलग होने का अधिकार सुरक्षित रहता है और वह अपनी मूल स्थिति में वापस जा सकता है।

अतः इस दृष्टिकोण से भारतीय संघ, संयुक्त राज्य अमेरीका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के संघ से भिन्न है। यह संयुक्त राज्य अमरीका से इस मायने में भिन्न है कि इसमें भारतीय संविधान द्वारा अलग होने के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है, यदि यह संविधान बदल जाता है, जब कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान द्वारा इसको मान्यता नहीं दी गई है, भले ही संविधान किसी विशेष राज्य की इच्छाओं के विपरीत बदल दिया गया हो। आस्ट्रेलिया तथा कनाडा के संबंध में ऐसा प्रश्न नहीं उठता और अगर ऐसा प्रश्न उठा तो गृह–युद्ध भी इस मुद्दे को हल नहीं कर सकेगा। इन संघों में प्रभुसत्ता, भले ही इसका संघीय सरकार या इकाइयों द्वारा प्रयोग किया जाता है, सम्राट के पास होती है और इसका रख-रखाव या इसको तोड़े जाने का अधिकार सम्राट तथा संसद का होता है। न तो संघ ही और न इकाइयां इस मुद्दे को हल कर सकती हैं, यह केवल संसद की सहमति से किया जा सकता है। यदि विघटन होता है तो यह मात्र सम्राट की प्रभुसत्ता का त्याग होगा और इसका पुनः विभाजन करने के लिए सम्राट हमेशा ही स्वतंत्र होता है। यह विघटन वैधानिक होगा और यदि इसे गैर-कानूनी साधनों द्वारा बनाए रखा गया तो इससे प्रभुसत्ता विद्रोही इकाइयों के पास चली जाएगी, क्योंकि यह सम्राट के पास होती है। इसमें ठीक वैसा ही होता, यदि भारतीय संघ ब्रिटिश भारत के प्रांतों का ही संघ होता। तब अलग होने का तो कोई प्रश्न नहीं उठता। प्रांत उसी हालत में रह रहे होते, जैसा कि सम्राट उन्हें रखना चाहता। भारतीय संघ देशी राज्यों की प्रविष्टि के कारण भिन्न होता है। देशी राज्यों का यह प्रवेश हमेशा के लिए नहीं है और न ही परिस्थिति के अंतर्गत है। उनका प्रवेश कुछ शर्तों तथा निबंधनों पर निर्भर करता है। ऐसा होने के कारण भारतीय संघ चिरस्थायी संघ नहीं हो सकता। वास्तव में, देशी राज्य प्रांतों के साथ तब तक स्थापित नहीं करेंगे, जब तक कि ऐसा करने से पूर्व पृथक होने की शर्तों को तय नहीं कर लिया जाता है। यही कारण है कि भारतीय संघ एक गठबंधन है, संघ नहीं।

संघीय सरकार के साथ इकाइयों का संबंध

संघ की सामान्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अलग इकाई के पास लगभग समान राजनीतिक अधिकार होने चाहिएं। भिन्न इकाइयों के बीच समानता आवश्यक है। दर्जे के मामले में उन्हें असमान बनाने का मतलब है, इकाइयों को प्रभावी भागीदार बनाए जाने की शक्ति देना। जैसा कि डायसी ने कहा है कि किसी संघ में प्रभावी भागीदारी के होने से दो तरह के खतरे सामने आते हैं। पहला, प्रभावी भागीदार संघीय समानता के विपरीत प्राधिकार का उपयोग कर सकता है। दूसरे, यह संघ के अंदर प्रभावी इकाइयों तथा अधीनस्थ इकाइयों के या इसके विपरीत समूह बना सकता है। इस तरह की गलत कार्य-परंपरा को रोकने के लिए सभी संघ की समानता के सिद्धांत पर सहमत हो जाते हैं। भारतीय संघ में इस सिद्धांत को किस सीमा तक प्राप्त किया जाता है?

कानून बनाने के संबंध में

जैसा कि आप जानते हैं कि कानून बनाने के उद्देश्य से इस क्षेत्र को तीन भागों में बांटा गया है और तीन सूचियां तैयार की गई हैं, जिन्हें संघीय सूची, समवर्ती सूची तथा प्रांतीय सूची कहा जाता है।

संघीय सूची में 59 मदें शामिल हैं, जिनके संबंध में संघ कानून बना सकता है। समवर्ती सूची में 36 मदें शामिल हैं।

पहली बात यह है कि ये दोनों ही सूचियां प्रांतों पर लागू होती हैं। वे अपनी मर्जी से इन दोनों सूचियों में से विषयों को नहीं चुन सकते हैं, जिनके संबंध में वे संघ के प्राधिकार के अधीन होंगे। प्रांतों को इन दोनों सूचियों में से बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं है। संघ में शामिल होने वाले राज्य की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। संघ में शामिल होने वाला राज्य स्वयं को समवर्ती सूची से बिल्कुल बाहर रख सकता है। धारा 6(2) के अनुसार किसी भी देशी राज्य के शासक को समवर्ती सूची में सम्मिलित मामलों के संबंध में संघ में शामिल होने के लिए सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन उनके ऊपर ऐसा करने के लिए कोई बाध्यता नहीं है। इस तरह का करार उनके संघ में प्रवेश के लिए कोई पूर्व शर्त नहीं है।

संघीय सूची के संबंध में कोई संदेह नहीं है कि राज्य के शासक को संघ की सूची के संबंध में स्वयं को संघ के कानून बनाने के प्राधिकार के अधीन मानना होगा, लेकिन संघ के अधीन होना केवल उन्हीं मामलों तक सीमित होगा, जिनका कि उल्लेख उसने अपने विलय-पत्र में किया है। जैसा कि मैने कहा है, संघीय सूची में 59 मदें होती हैं। कोई भी शासक इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि संघ में सम्मिलित होने से पूर्व वह संघीय सूची में सम्मिलित सभी विषयों को स्वीकार करे। वह केवल कुछ को स्वीकार कर सकता है, या सभी को स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार एक शासक एक मद को स्वीकार कर सकता है तथा दूसरा शासक दूसरी मद को स्वीकार कर सकता है। संविधान में ऐसा कोई नियम निर्धारित नहीं है कि संघ में शामिल होने से पहले प्रत्येक शासक को

कुछ मदें स्वीकार करनी चाहिएं। अतः संघ जहां एक ओर ब्रिटिश भारत तथा प्रांतों को संघ के कानून बनाने के प्राधिकार के मामले में समान रूप से तथा पूरी तरह से प्रभावित करता है, वहीं यह विभिन्न राज्यों को भिन्न-भिन्न तरीके से प्रभावित करता है। कोई एक शासक केवल एक विषय के मामले में संघ शामिल हो सकता है, लेकिन फिर भी वह संघ का उतना ही वास्तविक सदस्य होगा, जितना कि वह शासक जो संघीय सूची की सभी 59 मदों को स्वीकार करता है।

प्रांतीय सूची वह सूची है, जिसके बारे में प्रांतों को ही कानून बनाने का पूरा-पूरा अधिकार होगा। इस अधिनियम में संघीकृत राज्यों के लिए कोई समान राज्य सूची नहीं दी गई है। यह दी भी नहीं जा सकती। लेकिन यह कहा जा सकता है कि इसमें वे सभी विषय सम्मिलित होते हैं, जो राज्य द्वारा संघ को नहीं सौंपे जाते। अब प्रांतीय विधान–मंडल के अनन्य प्राधिकार के संबंध में आपातकाल की स्थिति में भी संघीय विधान–मंडल किसी प्रांत के लिए कानून बना सकता है या प्रांतीय सूची में उल्लिखित मामलों से संबंधित किसी भी भाग के संबंध में कानून बना सकता है, यदि गवर्नर-जनरल ने अपने विवेक से धारा 102 के अंतर्गत यह घोषणा कर दी है कि गंभीर आपातकाल की स्थिति पैदा हो गई है और भारत की सुरक्षा खतरे में हैं, भले ही ऐसा युद्ध के कारण हो या आंतरिक गड़बड़ी के कारण। देशी राज्यों के संबंध में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है। भारत के लिए खतरा उत्पन्न करने वाली गंभीर आपातकालीन स्थिति किसी राज्य के अंदर पैदा हो सकती है, जैसी कि वह किसी प्रांत के सीमा-क्षेत्र के भीतर पैदा हो सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि आपातकाल की स्थिति में जहां संघीय विधान–मंडल किसी प्रांत के लिए कानून बना सकता है और हस्तक्षेप कर सकता है, वहीं सामान्य परिस्थितियों के अंतर्गत संघीकृत राज्यों के मामले में न तो हस्तक्षेप कर सकता है और न ही उनके लिए कानून बना सकता है।

संघ की कार्यपालिका के संबंध में

कार्यपालिका के संबंध में राज्य तथा प्रांत समान अधिकार नहीं रखते। धारा 8 संघ के कार्यकारी प्राधिकार के क्षेत्र को परिभाषित करती है, जो धारा 7 के अनुसार महामहिम की ओर से गवर्नर-जनरल द्वारा उपयोग में लाई जा सकती है। उपखंड (क) की उप–धारा (1) के अनुसार संघीय कार्यपालिका का प्राधिकार उन मामलों तक लागू होता है, जिनके बारे में संघीय विधान–मंडल को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन यह खंड राज्यों के मामलों में ठीक उसी तरह लागू नहीं होता, जिस तरह प्रांतों के मामलों में होता है। प्रांतों के मामलों में इसे उन सभी मामलों के बारे में प्राधिकार प्राप्त होता है, जो संघीय विधायी सूची में सम्मिलित हैं। कुछ सीमाओं के तहत समवर्ती सूची के विषयों के मामले में भी इसके पास पूरा-पूरा प्राधिकार होता है; लेकिन राज्यों के संबंध में बिल्कुल पृथक मामला है। राज्यों के संबंध में समवर्ती सूची में दिए गए विषयों के बारे में संघ के पास कोई कार्यकारी प्राधिकार नहीं होता। साथ ही संघीय विधायी सूची में सम्मिलित मामलों के बारे में संघ पूरे प्राधिकार का हकदार नहीं है। धारा 8 का उपखंड 2 बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार :

> इस धारा में किसी बात के होते हुए भी किसी संघीकृत राज्य के शासक का कार्यकारी प्राधिकार उस राज्य में उन मामलों के योग्य होगा, जिनके संबंध में उस राज्य के लिए संघीय विधान–मंडल को कानून बनाने का प्राधिकार प्राप्त है, केवल ऐसे मामलों के अलावा जहां संघ का कार्यकारी प्राधिकार संघीय कानून के अनुसार शासक के कार्यकारी प्राधिकार को छोड़कर उस राज्य में लागू होता है।

सीधे शब्दों में इस उप–धारा का क्या मतलब है? वह यह है कि किसी प्रांत के संबंध में संघ का कार्यकारी प्राधिकार उन सभी मामलों पर लागू होता है, जिन पर संघ को विधायी प्राधिकार प्राप्त होता है। राज्य के मामले में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। मात्र यह तथ्य कि संघीय विधान–मंडल को किसी राज्य के मामले में कानून बनाने का प्राधिकार प्राप्त होता है, संघ को उस विषय के संबंध में उस राज्य के ऊपर कोई भी कार्यकारी प्राधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। ऐसा कार्यकारी प्राधिकार संघ द्वारा पारित कानून के परिणामस्वरूप ही दिया जा सकता है। क्या इस तरह का कानून पास किया जा सकता है? यह राज्यों के संघीय विधान–मंडल में विशाल प्रतिनिधित्व को देखते हुए समस्या-मूलक है। परिणाम चाहे कुछ भी हो, सिद्धांत रूप में संघ का कार्यकारी प्राधिकारी संघीकृत राज्य पर लागू नहीं होता। स्थिति यह है कि प्रांतों के मामलों में जहां संघ कानून बना सकता है और उनका पालन करा सकता है, वहीं संघीकृत राज्यों के मामलों में संघ कानून तो बना सकता है, लेकिन उनका पालन नहीं कर सकता। उनके पालन का अधिकार राज्य के पास होता है।

प्रशासन के संबंध में

जब आप प्रशासन के दृष्टिकोण से संविधान की जांच करेंगे तो पाएंगे कि उस अधिनियम की कुछ धाराएं संघीय सरकार, प्रांतीय सरकारों तथा राज्य सरकारों के मार्गदर्शन हेतु कुछ नियमों का निर्धारण करती हैं। इन धाराओं का उद्देश्य उन्हें यह बताना होता है कि वे अपने संविधान कार्यकारी प्राधिकार का उपयोग कैसे करें। ये धाराएं हैं, 122, 126 तथा 128.

धारा 122 संघीय सरकार से संबंधित है। इसके अनुसार :

> (1) प्रत्येक प्रांत तथा संघीकृत राज्य के कर्यकारी प्राधिकार को इस तरह से उपयोग में लाया जाएगा, जिसके अनुसार संघीय विधान–मंडल के उन कानूनों को सुरक्षा प्रदान की जा सके, जो उस प्रांत या राज्य में लागू होते हैं।
>
> (2) किसी भी प्रांत से संबंधित संघीय विधान–मंडल के कानूनों के लिए इस धारा की उपधारा (1) में दिए गए संदर्भ में किसी भी वर्तमान भारतीय कानून का संदर्भ सम्मिलित है, जो उस प्रांत में लागू होता है।
>
> (3) इस अधिनियम के किसी भी भाग के किसी भी अन्य उपबंधों के प्रति बिना किसी पूर्वग्रह के किसी भी प्रांत या संघीकृत राज्य में संघ के कार्यकारी प्राधिकार के उपयोग में उस प्रांत या राज्य के हित शामिल होंगे।

धारा 126 प्रांतीय सरकारों के प्रति समर्पित है। इसमें व्यवस्था है :

126(1) प्रत्येक प्रांत के कार्यकारी प्राधिकार का इस तरह से इस्तेमाल किया जाएगा, जिससे कि संघ के कार्यकारी प्राधिकारी के उपयोग में कोई बाधा उत्पन्न न हो या पूर्वग्रह न हो और संघ का कार्यकारी प्राधिकार प्रांत को ऐसे निर्देश दे सके, जो संघीय सरकार को इस उद्देश्य हेतु आवश्यक प्रतीत हों।

धारा 128 राज्यों से संबंधित है। यह इस प्रकार है :

(1) प्रत्येक संघीकृत राज्य का कार्यकारी प्राधिकार इस प्रकार प्रयुक्त होगा, जो संघ के कार्यकारी प्राधिकार के प्रयोग में बाधक या प्रतिकूल न हो, जहां तक कि संघीय विधान–मंडल के विधि महत्व के कारण यह राज्य में प्रयोक्तव्य, जो वहां लागू होता है।

(2) यदि गवर्नर-जनरल को ऐसा आभास होता है कि किसी संघीकृत राज्य का शासक पूर्ववर्ती उप–धारा के अंतर्गत अपने कर्त्तव्यपालन में असफल रहा है तो गवर्नर-जनरल स्वविवेक से कार्य करते हुए शासक द्वारा उसको प्रदत्त किसी भी अभ्यावेदन पर विचार करने के उपरांत शासक को कोई भी निर्देश दे सकता है, जिन्हें वह उचित समझता है। यदि इस धारा के अंतर्गत कोई प्रश्न उठता है कि क्या संघ का कार्यकारी प्राधिकार राज्य में प्रयोक्तव्य है, जिस संबंध में यह प्रयोक्तव्य है, यह प्रश्न संघ अथवा शासक के अनुरोध पर उस अधनियम के अंतर्गत संघीय न्यायालय को उस न्यायालय द्वारा विवाद के निपटान हेतु भेजा जाएगा, जिसके मूल क्षेत्राधिकार में यह आता है।

अगर इन अभिकरणों द्वारा कार्यकारी प्राधिकार के प्रयोग में किसी संघर्ष की संभावना होती तो ये सब धाराएं बहुत उपयोगी सिद्ध होतीं। लेकिन ये सब बिल्कुल अनावश्यक होंगी, क्योंकि वास्तव में कार्यकारी प्राधिकारका कोई विरोध नहीं होगा। यह तभी होगा, जब प्रशासकीय कार्य कार्यकारी प्राधिकार का अनुगमन करता है। जब प्रशासन कार्यकारी प्राधिकार से पृथक कर दिया जाता है तो किसी संघर्ष की संभावना नहीं रहती और इन धाराओं में समाहित प्रबोधन बिल्कुल अनावश्यक है।

अब यह संभव है कि संघीय संविधान में संघीय सरकार को शासन की शक्तियों से बिल्कुल वंचित कर दिया जाए और यह एक प्राधिकार विहीन ढांचा मात्र रह जाए। संविधान में यह व्यवस्था है कि संघीय विधान–मंडल का गवर्नर-जनरल इसके द्वारा पारित किसी कानून के क्रियान्वयन को संघीय कार्यपालिका के स्थान पर इकाइयों के, यानि प्रांतीय सरकारों और देशी राज्यों के, सुपुर्द कर सकता है। धारा 124 की शर्तों के अनुसार यह स्पष्ट है :

(1) इस अधिनियम के बावजूद गवर्नर-जनरल एक प्रांतीय सरकार या संघीकृत राज्य के शासक की सहमति से या तो सशर्त सरकार अथवा शासक, अथवा उनके संबंधित अधिकारियों को किसी भी मामले से संबंधित ऐसे कार्य सौंप सकता है, जिन पर संघ का कार्यकारी प्राधिकार कायम है।

(2) संघीय विधान–मंडल का एक अधिनियम, यद्यपि इसका संबंध उस विषय से है, जिस पर प्रांतीय विधान–मंडल को कानून बनाने का अधिकार नहीं है, एक प्रांत, अथवा अधिकारियों और उनके प्राधिकारियों को शक्तियां प्रदान कर सकता है और कर्त्तव्य सौंप सकता है।

(3) संघीय विधान–मंडल का एक अधिनियम जो संघीकृत राज्य पर लागू होता है, राज्य अथवा अधिकारियों और प्राधिकारियों को शक्तियां प्रदान कर सकता है और उनको कर्त्तव्य सौंप सकता है, जिन्हें इस उद्देश्य हेतु शासक ने नामित किया है।

(4) जहां इस धारा के अंतर्गत किसी प्रांत या संघीकृत राज्य या उनके अधिकारियों या प्राधिकारियों को शक्तियां और कर्त्तव्य सौंपे गए हैं, वहां उस प्रांत या राज्य को संघ द्वारा उतनी राशि का भुगतान किया जाएगा, जिस पर करार हुआ है और उस करार की अवहेलना करने पर उन शक्तियों तथा कर्त्तव्यों के अनुपालन के संबंध में उस प्रांत या राज्य द्वारा किए गए अतिरिक्त प्रशासनिक खर्च के संबंध में भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा निर्धारित राशि अदा की जाएगी।

यह भी संभव है कि राज्य और प्रांत मिलकर संघ को उसकी सभी प्रशासनिक शक्तियों से वंचित कर दें और उसे केवल कानून बनाने वाली संस्था बना दें। तथापि धारा 125 से एक और डांवाडोल परिस्थिति उत्पन्न होती है। वह इस प्रकार है :

(1) इस अधिनियम में किसी बात के होते हुए भी यदि राज्य के विलय-पत्र में करार संबंधी उपबंध दिए गए हैं तो गवर्नर-जनरल और संघीकृत राज्य के शासक के बीच राज्य पर लागू होने वाली संघीय विधान–मंडल के किसी कानून का उसके राज्य में अनुपालन किए जाने हेतु उस शासक या उसके अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले प्रयोग के संबंध में सहमति हो सकती है।

(2) इस धारा के अंतर्गत हुई सहमति के अनुसार गवर्नर-जनरल निरीक्षण या अन्य किसी तरीके द्वारा स्वविवेक से अपने को संतुष्ट कर सकेगा कि क्या उनका प्रशासन जिसके संबंध में यह करार किया गया है, संघीय सरकार की नीति के अनुसार चल रहा है और यदि गवर्नर-जनरल संतुष्ट नहीं होता है तो वह अपने विवेकानुसार उस शासक को ऐसे निर्देश जारी कर सकता है, जिन्हें वह ठीक समझता है।

(3) सभी न्यायालय इस धारा के अंतर्गत किए गए किसी भी करार का न्यायिक पालन करेंगे।

इस धारा का अर्थ यह है कि एक राज्य अपने विलय-पत्र के अनुसार राज्य में संघीय कानूनों का संघ की बजाए राज्य अभिकरण द्वारा क्रियान्वित करने की शर्त लगा सकता है और अगर वह ऐसी शर्त लगाता है, तब राज्य के मामले में संघ की कोई प्रशासकीय शक्ति नहीं रह जाएगी। कानून का लाभ उसके प्रशासन पर निर्भर करता है। जहां प्रशासन अक्षम

अथवा भ्रष्ट होता है, वहां कानून का कोई लाभ नहीं है। संघीय सरकार की प्रशासनिक शक्तियों को छीनना, संघीय सरकार को पंगु बनाने के बराबर है। ऐसा कोई संघ नहीं है, जहां संघ की कुछ इकाइयों को यह कहने की छूट हो कि उसके क्षेत्र में संघीय सरकार को प्रशासनिक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। भारतीय संघ एक अपवाद है। न सिर्फ प्रांत और देशी राज्यों में इस मामले में एक अंतर है, वरन वे संघीय सरकार द्वारा कार्यकारी प्राधिकार के प्रयोग के पर्यवेक्षण और निर्देश के अपने उत्तरदायित्व के मामले में भी भिन्न हैं। अगर आप धारा 126 की तुलना 128 के साथ करें तो यह अंतर स्पष्ट हो जाएगा।

धारा 126 यह अधिनियम करती है कि हर प्रांत के कार्यकारी प्राधिकार का उपयोग इस प्रकार किया जाएगा, जिससे कि संघ के कार्यकारी प्राधिकार के प्रयोग में बाधा न आए या उसके प्रयोग पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और संघ का कार्यकारी प्राधिकार एक प्रांत को ऐसे निर्देश दे सकेगा, जैसा कि उस उद्देश्य के लिए संघीय सरकार आवश्यक समझाता है। धारा 128 एक ऐसी धारा है जो संघीकृत राज्य के विषय में इसी प्रकार का नियम बनाती है, लेकिन इन दोनों धाराओं के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है। धारा 126 कहती है कि संघ का कार्यकारी प्राधिकार एक प्रांत को इस प्रकार के निर्देश दे सकता है, जैसा कि संघीय सरकार को उस उद्देश्य के लिए आवश्यक लगता है, जबकि धारा 128 ऐसी कोई शक्ति प्रदान नहीं करती। इसका अर्थ यह है कि संघ के पास अंतर्निहित कार्यकारी प्राधिकार नहीं है जो संघीकृत राज्य के शासक को राज्य का ऐसा कार्यकारी प्राधिकार प्रयुक्त करने से रोक सके, जो संघ के कार्यकारी प्राधिकार को बाधित करता है, अथवा प्रतिकूल असर डालता है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंतर है। ऐसा प्राधिकार संघ की बजाए गवर्नर-जनरल को प्रदान किया गया है, जो वास्तव में विधि के अनुसार संघीय सरकार से भिन्न है और गवर्नर-जनरल शासक को ऐसे निर्देश देने के लिए सक्षम है, जिन्हें वह उचित समझता है। एक और अंतर भी दृष्टव्य है। धारा 126 के अंतर्गत जब एक प्रांत के गवर्नर को निर्देश दिए जाते हैं तो वह उन्हें मानने के लिए बाध्य है। वह निर्देशों की आवश्यकता के विषय में पूछ सकता है। एक राज्य के शासक के विषय में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। वह ऐसे निर्देश के बारे में सवाल कर सकता है और मामले को संघीय न्यायालय में मध्यस्थता हेतु ले जा सकता है, क्योंकि धारा 128 की उप–धारा में विहित प्रावधान के अनुसार अगर इस धारा के अंतर्गत कार्यकारी प्राधिकार एक राज्य में प्रयोक्तव्य है, ऐसे किसी भी विषय में अथवा उस सीमा तक कि जिसमें इस प्रकार वह प्रयोक्तव्य है, यह प्रश्न संघ अथवा शासक के अनुरोध पर संघीय न्यायालय के समक्ष उस न्यायालय द्वारा निबटारे हेतु ले जाया जाएगा।

वित्त के संबंध में

अब वित्त के सवाल पर आते हैं। प्रांतों और राज्यों के मध्य एक सुस्पष्ट असमानता है। संघ का प्रांतों और राज्य के ऊपर कराधान प्राधिकार का मामला ले लीजिए। यह ध्यान रहे कि संघ के राजस्व जिन स्रोतों से प्राप्त होते हैं, वे दो प्रमुख शीर्षों के अंतर्गत आते हैं-एक वे जो कराधान के अंतर्गत आते हैं और दूसरे वे जो कराधान के अंतर्गत

नहीं आते हैं। जो कराधान के अंतर्गत नहीं आते हैं, उन्हें छह शीर्षों के अंतर्गत रखा जा सकता है :

(1) संघीय सूची में सम्मिलित विषयों पर शुल्क,

(2) डाक बचत बैंक सहित डाक सेवाओं से प्राप्त लाभ, यदि कोई हो,

(3) संघीय रेलवे के प्रचालन सेवाओं से प्राप्त लाभ, यदि कोई हो,

(4) टकसाल और मुद्रा प्रचालन से लाभ, यदि कोई हो,

(5) किसी आम संघीय उद्यम, जैसे कि रिजर्व बैंक से लाभ, यदि कोई हो, और

(6) संघीकृत अथवा गैर-संघीकृत राज्यों से सम्राट को सीधा अंशदान।

जहां तक भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत कराधान से प्राप्त राजस्व का प्रश्न है, वे दो शीर्षों में आते हैं, साधारण कराधान और असाधारण कराधान।

साधारण कराधान में भिन्न स्रोतों से प्राप्त लेवी सम्मिलित है :

(1) सीमा शुल्क,

(2) निर्यात शुल्क,

(3) उत्पाद शुल्क,

(4) नमक,

(5) निगम कर,

(6) आय कर, कृषि को छोड़कर, और

(7) संपत्ति कर, जैसे कि व्यक्तिगत परिसंपत्तियां अथवा संपत्ति के पूंजीगत मूल्य पर कर।

असाधारण राजस्व निम्न शीर्षों के अंतर्गत आता है :

(1) आय कर पर अधिभार?

(2) उत्तराधिकार करों पर अधिभार,

(3) रेल अथवा हवाई जहाज द्वारा ले जाए जाने वाले माल अथवा यात्रियों पर लगाए जाने वाले टर्मिनल टैक्स तथा रेल भाड़े में समस्त करों पर अधिभार, और

(4) स्टाम्प ड्यूटी, आदि पर अधिभार।

अब, जब कि प्रांत इनमें से किसी भी शीर्ष के अंतर्गत कराधान वहन करने के लिए बाध्य हैं, चाहे वह कराधान साधारण किस्म का हो या असाधारण किस्म का, राज्यों के संबंध में यह सच नहीं है। उदाहरणार्थ, राज्य साधारण समय में असाधारण करों को चुकाने के लिए उत्तरदायी नहीं जो शीर्ष 6 और 7 के अंतर्गत आते हैं, जब कि प्रांत इसके लिए बाध्य हैं।

असाधारण कराधान के विषय में, राज्य आर्थिक संकट के दिनों में भी जो कर मद 2,

3, और 4 के अंतर्गत लगाए जाते हैं, उन करों के लिए देनदार नहीं हैं और जहां तक वे असाधारण राजस्व के स्रोत के शीर्षक के अंतर्गत अंशदान के लिए देनदार भी हैं, वहां यह प्रमाणित किया जाना चाहिए कि सभी प्रकार की अन्य मितव्ययिता बरती गई है।

वित्तीय दृष्टि से राज्यों और प्रांतों में एक और भेद भी है। अधिनियम में प्रांतीय सरकारों के लिए कराधान का क्षेत्र परिभाषित कर दिया गया है। एक प्रांतीय सरकार अधिनियम में वर्णित स्रोत के अलावा अन्य किसी स्रोत से राजस्व प्राप्त नहीं कर सकती। राज्यों के बारे में यह बात लागू नहीं होती। भारत सरकार अधिनियम में ऐसी कोई बात नहीं है, जो संघीकृत राज्य की कराधान प्रणाली से संबंधित शक्तियों को परिभाषत करती हो। आंतरिक प्रशासन के लिए राजस्व प्राप्ति हेतु यह किसी भी प्रकार का कराधान कर सकती है और पड़ोसी प्रांत के क्षेत्र से अपने यहां अपने वाले सामान पर सीमा शुल्क भी लगा सकती है, यद्यपि वह सीमावर्ती प्रांत संघीय सरकार की ही एक इकाई है जिसका कि संघीकृत राज्य भी एक इकाई है। भारतीय संघ का यह एक अत्यंत असाधारण लक्षण है, साथ ही यह अत्यंत बुरे लक्षणों में से एक है। संघ के नतीजों में एक यह है, चाहे उसका मूल उद्देश्य यह न हो, कि संघ के सीमा क्षेत्र में वाणिजय और व्यापार को स्वतंत्रता हो। इतिहास में ऐसा कोई संबंध नहीं है, जिसने संघ की एक इकाई को अंतर्राज्यीय वाणिज्य रोकने की नियत से सीमा शुल्क लगाने अथवा अन्य प्रतिबंध लगाने की अनुमति दी हो। इस नियम का भारतीय संघ अपवाद है और यह भारतीय संघ का एक लक्षण है, जो उसे अन्य संघों से सुस्पष्ट विरोधाभास के रूप में खड़ा करता है, जिससे कि आज सभी लोग परिचित हैं।

संघीय संविधान की एक विशेषता यह है कि यद्यपि संघ में सम्मिलित क्षेत्र विभिन्न इकाइयों में बंटा होता है, तथापि वे एकल क्षेत्र बनाते हैं। हर कीमत पर सीमा शुल्क के लिए समस्त क्षेत्र एक एकल इकाई मानी जाती है। हर संघीय संविधान में एक इकाई द्वारा दूसरी के विरुद्ध व्यापार और सीमा शुल्क बाधाओं को रोकने हेतु शक्तियों और निशेधों का प्रावधान है।

अमरीका का संविधान अनुच्छेद 2 की धारा 9 के अंतर्गत एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य में माल आयत अथवा निर्यात को रोकने पर निषेध लगाता है अथवा राज्य की सीमा में माल के आने या बाहर जाने पर आयत-निर्यात शुल्क लगाने से रोकता है। अनुच्छेद 2 की धारा 8 (3) संघीय सरकार को संघ के राज्यों के मध्य वाणिज्य और व्यापार को विनियमित करने की शक्ति प्रदान करती है।

आस्ट्रेलिया में उसके संविधान की धारा 92 के अनुसार राज्य और संघीय सरकार, दोनों अपनी विनियमन की शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करने के लिए बाध्य हैं कि संविधान की धारा 92 में प्रदत्त मूल गारंटी की अवहेलना न हो और यह कि 'राज्यों के मध्य व्यापार और वाणिज्यि, चाहे वह आंतरिक परिवहन अथवा सामुद्रिक नौ-परिवहन द्वारा हो, पूर्ण स्वतंत्र होगा।'

कनाडा में धारा 121 के अंतर्गत किसी भी प्रांत के समस्त विकास के सामान (पैदावार अथवा उत्पादन) संघ के प्रत्येक प्रांत में निःशुलक प्रवेश के अधिकारी होंगे।

भारतीय संविधान में संघ के अंतर्गत वाणिज्य और व्यापार संबंधी प्रावधान धारा 297 में विहित है। यह इस प्रकार है :

(1) किसी भी प्रांतीय विधान–मंडल या सरकार को -

(क) प्रांतीय विधान–मंडलीय सूची में प्रांत के अंतर्गत वाणिज्य और व्यापार विषयक प्रविष्टि की महत्ता से अथवा उस सूची में माल के उत्पादन, प्रदाय और वितरण से संबंधित प्रविष्टि के कारण कोई कानून पारित करने अथवा कोई कार्यकारी कदम उठाने अथवा प्रांत के किसी भी श्रेणी या किस्म के माल को अंदर प्रवेश या निर्यात करने से निषिद्ध और प्रतिबंधित करने की शक्ति प्राप्त नहीं होगी, अथवा

(ख) इस अधिनियम में किसी भी कारण से किसी प्रकार के कर, उपकर, चुंगी लगाने अथवा बकाया वसूलने की शक्ति प्राप्त होगी, अगर उसके कारण प्रांत में निर्मित अथवा उत्पादित वस्तुओं और प्रांत में निर्मित अथवा उत्पादित न होने वाली उसी प्रकार की वस्तुओं के बीच पहले के पक्ष में भेदभाव उत्पन्न होता हो, और जिससे प्रांत से बाहर निर्मित अथवा उत्पादित वस्तुओं के मामले में, एक स्थान में निर्मित अथवा उत्पादित वस्तुओं तथा दूसरे स्थान में निर्मित अथवा उत्पादित उसी प्रकार की वस्तुओं के बीच भेदभाव उत्पन्न हो।

(2) कोई भी कानून जो इसके उल्लंघन में पारित किया गया हो, उल्लंघन की सीमा तक अमान्य होगा।

अब इस धारा की शर्तों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता प्रांतों तक ही सीमित है। इसका अर्थ है कि देशी राज्य प्रांतों से आने वाले माल के प्रवेश को पूर्णतया रोकने में स्वतंत्र हैं अथवा उन पर सीमा शुल्क लगा सकते हैं। यह एक संघीय शासन की मूल भावना के विपरीत है। संघ की एक इकाई को दूसरी इकाई के विरुद्ध व्यापारिक युद्ध की इजाजत देना संघ को नकारने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

संघ के अंतर्गत जनता का संबंध

इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि कतिपय विशिष्टताओं को स्पष्ट कर दिया जाए। 'राज्य' और 'समाज' बहुधा ऐसे प्रस्तुत किए जाते हैं, जैसे कि दोनों में विरोधाभास हो। लेकिन राज्य और समाज के मूल स्वरूप में कोई विभेद नहीं है। यह सही है कि राज्य की पूर्ण शक्तियां विधि द्वारा संचालित होती हैं, जबकि समाज अपनी पूर्ण शक्तियों के प्रवर्तन हेतु धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं पर आधारित होता है। लेकिन तथ्य यही है कि दोनों को बल प्रयोग की पूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। अतएव, राज्य और समाज में कोई विरोध नहीं है। दूसरे, जिन व्यक्तियों से समाज बनता है, वही व्यक्ति राज्य के भी सदस्य होते हैं। इस दृष्टि से भी राज्य और समाज में कोई अंतर नहीं है।

यद्यपि दोनों में एक अंतर है, लेकिन वह दूसरी किस्म का है। हर व्यक्ति जो समाज का सदस्य है और इसमें अधिवास करता है, यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्य का

भी सदस्य हो। वे जो सिर्फ राज्य की सीमा के अंतर्गत अधिवास करते हैं, जरूरी नहीं कि राज्य के सदस्य हों। जो राज्य से संबंध रखते हैं और जो संबंध नही रखते, उनके बीच यह भेद बहुत ही निर्णायक है और इसे भूलना नहीं चाहिए, क्योंकि इसके परिणाम महत्वपूर्ण हैं। जो राज्य से संबंध रखते हैं, वे सदस्य होते हैं और उन्हें सदस्यता से लाभ प्राप्त होते हैं, जिनमें राज्य से मिलने वाले संपूर्ण अधिकार और कर्त्तव्य शामिल हैं। कर्तव्य की दृष्टि से यह संबंध 'प्रजा' शब्द से भलीभांति जाना जाता है, अधिकारों की दृष्टि से इसे 'नागरिक' शब्द से अच्छी तरह परिभाषित किया गया है। इस विभेद में यह परिणाम विहित है कि जो राज्य में बिना इससे संबंध रखे अधिवास करते हैं, उन्हें सदस्यता का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, जिसका अर्थ है कि वे विदेशी हैं, नागरिक नहीं।

सिद्धांततः एक राज्य के नागरिकों और विदेशियों के बीच भेद करने की समस्या एक मामूली-सी समस्या जान पड़ती है, वास्तव में लगभग एक यांत्रिक समस्या। एक एकारात्मक राज्य के विषय में यह खास तौर पर सच है। और यहां एक साधारण प्रश्न उठता है कि उस राज्य का किसी एक तथा समस्त विदेशी राज्यों से क्या संबंध है? एक संघीय राज्य में यह मामला इस तथ्य से उलझनपूर्ण है कि हर व्यक्ति के दोहरे संबंध होते हैं। एक ओर वह संपूर्ण रूप में संघीय राज्य से विशेष संबंध रखता है और दूसरी ओर उस राज्य से उसके विशेष संबंध होते हैं, जिसमें वह अधिवास करता है। अतः जिस क्षण संघीय राज्य में एक व्यक्ति की हैसियत परिभाषित करने की कोशिश की जाती है, उसी समय एक ही नहीं, वरन् कई प्रश्नों के उत्तर देने चाहिएं: इस व्यक्ति का संघीय राज्य से, किसी एक और सभी विदेशी राज्यों के मुकाबले क्या संबंध है? इस व्यक्ति का उस राज्य से क्या संबंध है, जिसमें वह अधिवास करता है? साथ ही, क्या यह संभव है कि व्यक्ति एक राज्य का नागरिक तो हो, पर संघीय राज्य का नागरिक न हो।

ऐसे प्रश्न कनाडा और आस्ट्रेलिया में नहीं उठे, जब से संघ बने। कारण यह था कि जो व्यक्ति अपनी संबंधित इकाइयों में अधिवास कर रहे थे, वे जन्मजात ब्रिटिश प्रजाजन थे। यह हैसियत उनके साथ तब भी बनी रही, जब संघ अस्तित्व में आया। संघ बनने पर संघ को नागरिकीकरण की शक्तियां प्राप्त हुईं और फलस्वरूप हर व्यक्ति जिसे संघ द्वारा नागरिकता प्राप्त हुई, संघ का नागरिक बन गया और इसीलिए इसकी हर इकाई का भी सदस्य बन गया।

ऐसे प्रश्न संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड और जर्मनी में भी उठे, क्योंकि संघ से पूर्व उनकी सभी इकाइयां विदेशी राज्य थे और उनके प्रजाजन विदेशी प्रजाजन थे। लेकिन यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन सब मामलों में संघ के एक हिस्से के रूप में एक समान नागरिकता स्थापित की गई थी। एक ऐसा नियम बनाया गया, जिसके अंतर्गत यह स्वीकार किया गया कि एक इकाई की नागरिकता अपने साथ संघ की नागरिकता लाती है। भारतीय संघ का मामला संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी और स्विट्जरलैंड से मिलता-जुलता है। एक देशी राज्य की प्रजा ब्रिटिश भारत और साथ ही साथ किसी भी अन्य देशी राज्य में विदेशी है। ब्रिटिश भारतीय प्रांत का निवासी हर देशी राज्य में विदेशी है।

इस मामले में भारतीय संघ क्या करता है? क्या यह सभी इकाइयों को समान नागरिकता प्रदान करता है, जो संघ के सदस्य बन गए हैं? उत्तर है, नहीं। ब्रिटिश भारत का निवासी हर देशी राज्य में विदेशी माना जाएगा, यद्यपि यह संघ की स्थापना के बाद एक संघीय राज्य है, जैसे कि वह संघ की स्थापना के पूर्व था। उसी प्रकार एक संघीकृत देशी राज्य की प्रजा संघ के बाद हर ब्रिटिश भारतीय प्रांत में विदेशी रहेगी, जैसे कि वह संघ के पूर्व थी। यह एक समान नागरिकता नहीं है। संघ का पूर्ण सिद्धांत है कि एक संघीकृत राज्य का शासक राज्य का शासक रहेगा और उसके प्रजाजन उसके प्रजाजन रहेंगे तथा सम्राट संघीकृत प्रांतों का शासक होने के नाते प्रांतों का शासक रहेगा और उसके प्रजाजन उसके प्रजाजन रहेंगे।

नागरिकता का यह अंतर दो विशेष तरीकों से व्यक्त होता है। प्रथमतः यह सेवा के अधिकार के मामले में अभिव्यक्त होता है। सम्राट के अधीन संघ की स्थापना होने के कारण जो व्यक्ति सम्राट के प्रजाजन हैं, वे ही इसके अंतर्गत सेवा करने के अधिकारी हैं। इसे धारा 262 के अंतर्गत माना गया है। वास्तव में, यह राज्य के प्रजाजनों के साथ एक अन्याय है। इस अन्याय को रोकने के लिए, जो नागरिकता के अंतर के फलस्वरूप एक तार्किक परिणति है, भारत मंत्री को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह देशी राज्यों के प्रजाजनों को संघ के अंतर्गत नौकरी योग्य घोषित करे। यह एक विसंगतिपूर्ण स्थिति है और यद्यपि देशी राज्यों के प्रजाजनों के प्रति अन्याय को कम कर दिया गया है, देशी राज्यों में रोजगार के अधिकार के मामले में ब्रिटिश भारत के प्रजाजनों के प्रति अन्याय अभी कायम है, क्योंकि देशी राज्य यह घोषित नहीं करते कि ब्रिटिश भारत के प्रजाजन उनके अंतर्गत सेवा करने के पात्र होंगे। संघ के बावजूद इस प्रकार की विसंगति होना यह प्रदर्शित करता है कि संघ एक सनक है।

दूसरे, अनुसूची (4) में विधान–मंडल के सदस्यों द्वारा शपथ–ग्रहण के स्वीकृत प्रारूप से नागरिकता का यही अंतर स्वयं स्पष्ट झलकता है।

वह सदस्य जो ब्रिटिश प्रजाजन है, उसके मामले में शपथ का प्रारूप निम्न प्रकार है :

> मैं, अमुक, इस परिषद (या विधान सभा) का सदस्य निर्वाचित होने (अथवा नामित या नियुक्त होने) पर सत्यनिष्ठा से शपथ लेता हूं (अथवा प्रतिज्ञा करता हूं) कि मैं महामहिम भारत सम्राट, उसके वारिसों और उत्तराधिकारियों के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा और अपने कर्तव्य का विश्वासपूर्वक पालन करूंगा, जिसके लिए यहां प्रवेश ले रहा हूं।

उस व्यक्ति के मामले में जो कि एक देशी राज्य का नागरिक है, शपथ का प्रारूप निम्न प्रकार होगा :

> मैं, अमुक, इस परिषद (या विधान–सभा) का सदस्य निर्वाचित होने (या नामित अथवा नियुक्त होने) पर सत्यनिष्ठा से शपथ लेता हूं (अथवा प्रतिज्ञा करता हूं) कि मैं सी. डी; उसके उत्तराधिकारियों के प्रति निष्ठावान रहते हुए, इस परिषद (विधान–सभा) के सदस्यों के नाते महामहिम, भारत स्रमाट, उनके वारियों और उत्तराधिकारियों के

प्रति विश्वासपात्र रहूंगा और मैं अपने कर्तव्य का पालन विश्वासपूर्वक करूंगा, जिसके लिए यहां प्रवेश ले रहा हूं। देशी राज्य का नागरिक, जैसा कि शपथ के प्रारूप से स्पष्ट है, दोहरी निष्ठा प्रकट करता है। उसे राज्य के शासक और सम्राट, दोनों के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती है। सामान्यतः ऐसी स्थिति अमरीका से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अमरीका में एक व्यक्ति संघ का भी नागरिक होता है तथा राज्य का भी, और दोनों शक्तियों के प्रति निष्ठावान होता है। हर शक्ति को अपनी आज्ञा-पालन कराने का अधिकार है। लेकिन किसी विवाद की स्थिति में किसकी आज्ञा का पालन किया जाए, इस संबंध में आप दोनों के बीच अंतर पाएंगे। इस प्रश्न पर ब्राइस का मत है :

राज्य का आज्ञा-पालन कराने का अधिकार, जिन विषयों में उसका दखल है, बहुत विस्तृत है। प्रथम दृष्टि में राज्य का हर कानून, राज्य के समक्ष प्राधिकारी का हर आदेश नागरिक को नियंत्रित करता है, जब कि राष्ट्रीय सरकार को सीमित शक्ति प्राप्त होती है; यह विधि-निर्माण कर सकती है अथवा कुछ खास उद्देश्यों के लिए या खास नागरिकों पर नियंत्रण रख सकती है। लेकिन अपनी शक्तियों की सीमा में राज्य से इसका प्राधिकार बड़ा होता है, जिसे राज्य की अवहेलना का जोखिम उठाते हुए भी माना जाना चाहिए।

एक राज्य विधामंडल अथवा राज्य की कार्यपालिका की कोई कार्यवाही संविधान से अथवा राष्ट्रीय सरकार के किसी कार्य से टकराती है जिसे कि संविधान के अंतर्गत किया गया है, जो वास्तव में राज्य सरकार की कार्यवाही नहीं है क्योंकि राज्य सरकार कानूनी तौर पर संविधान के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकती, लेकिन गलत तौर पर उन कुछ व्यक्तियों की कार्यवाही है जो कि सरकार की तरह कार्य करते हैं, इसीलिए तथ्यतः ऐसी कार्यवाही न्यायिक रूप से अमान्य है। जो व्यक्ति राज्य के प्राधिकारी के आदेशों का सहारा लेकर संघ के प्राधिकार की अवज्ञा करते हैं, वे केन्द्र सरकार के विरुद्ध विद्रोही हैं, उन्हें केन्द्र सरकार द्वारा कुचल देना चाहिए। ऐसे विद्रोहियों का प्रपीड़न राज्य-विरुद्ध कार्यवाही नहीं, वरन ऐसे व्यक्तियों के प्रति है जो संगठित रूप से गलत कार्य करते हैं। एक राज्य न पृथक हो सकता है, न विद्रोह कर सकता है। इसी प्रकार इसका प्रपीड़न भी नहीं किया जा सकता।

क्या निष्ठा संबंधी विवाद होने पर भारत में संघीय सरकार ऐसे कदम उठा सकती है, जो कि एक संघीय सरकार कर सकती है? निस्संदेह ऐसा नहीं किया जा सकता। इसका मामूली सा कारण है कि सम्राट के प्रति निष्ठा, शासक के प्रति निष्ठा का बचाव करती है। यदि यह एक खतरनाक स्थिति नहीं तो बहुत दुखद अवश्य है।

संघीय ढांचे की शक्ति

देश में जो सरकार संपूर्ण राष्ट्र की एकीकृत इच्छा के अनुरूप व्यक्त कर सकती हो और काम कर सकती हो, वास्तव में सबसे दृढ़ सरकार है, जो कि होनी चाहिए और आपातकाल

में केवल एक मजबूत सरकार पर क्रियाशील रहने के लिए भरोसा किया जा सकता है। उस सरकारी व्यवस्था की कार्य-कुशलता बहुत कमजोर होती है, जहां एक देश में कई सरकारें कार्य करती हैं, जिनसे शक्ति के अलग-अलग केन्द्र बन जाते हैं, जिनमें अलग-अलग राजनीतिक संस्थाओं का समावेश होता है, और राष्ट्र की शक्ति अलग-अलग हिस्सों में प्रवाहित होती है, जिसका व्यक्तियों की तुलना में केन्द्रीय सरकार की इच्छा के मुकाबले प्रतिरोध अधिक प्रभावी होता है, क्योंकि ऐसी संस्थाओं में प्रत्येक को स्वयं एक सरकार मिली होती है, जिन्हें राजस्व, सैन्य और स्थानीय देशभक्ति की भावना जोड़े रहती है। पहले मामले में सरकार का स्वरूप एकात्मक होता है, दूसरे मामले में सरकार का स्वरूप संघीय होता है।

भारतीय संघ इस तथ्य के कारण कि यह संघ है, सरकार के संघीय स्वरूप की सभी कमजोरियां रखता है। लेकिन भारतीय संघ में कुछ और अधिक कमजोरियां हैं, जो अन्य संघों में नहीं मिलतीं, जिनकी वजह से वे इसे पूरी तरह कमजोर करती हैं। भारतीय संघ की संयुक्त राज्य अमरीका के संघ से तुलना की जाए। ब्राइस के कथानुसार :

> राष्ट्रीय सरकार का हर राज्य के नागरिकों पर सीधा और आसन्न प्राधिकार है, जिसका प्रयोग राज्य संगठनों के जरिए नहीं होता, न उसके लिए राज्य सरकार की मदद की आवश्यकता होती है। अधिकतर मामलों में राष्ट्रीय सरकार राज्यों की उपेक्षा करती है और नागरिकों को अपने कानून से समान रूप से बंधा हुआ मानती है। संघीय न्यायालय, राजस्व अधिकारी और डाकखाने राज्य के किसी भी अधिकारी की सहायता नहीं लेते, वरन् सीधे वाशिंगटन पर निर्भर करते हैं। संघीय मामलों में कोई स्थानीय स्वशासन नहीं होता। संघीय प्राधिकार, चाहे कार्यकारी हो अथवा न्यायिक, एक राज्य के नागरिक पर अपने निजी अधिकारियों के जरिए सीधे कार्रवाई करता है, जो कि राज्य कर्मचारियों से बिल्कुल भिन्न और स्वतंत्र होते हैं। उदाहरणार्थ, वाशिंगटन स्थित वित्त विभाग के आदेशानुसार संघीय सीमा शुल्क समाहर्ता और आबकारी अधिकारियों द्वारा संघीय परोक्ष कर तटीय क्षेत्रों और पूरे देश में लागू कर जाते हैं। अमरीका के मार्शल संघीय न्यायालय के निर्णयों का पालन कराते हैं, जो कि उसी प्रकार पूरे देश में फैले हुए हैं और सहायकों का अमला रखते हैं। यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रावधान है, क्योंकि इससे केन्द्रीय, राष्ट्रीय सरकार के लिए हर जगह लोगों पर उंगली रखना संभव होता है। वह अपने कानून बना सकती है और अपने विधिवत संगठित अभिकरणों के आदेशों का आदर करा सकती है, चाहे राज्य जिसकी कि सीमा में वह कार्य करती है, हृदय से स्वामिभक्त है या नहीं, और चाहे वह कानून जिसे वहां लागू किया जा रहा है, लोकप्रिय है अथवा हानिकारक। पूरे देश में राष्ट्रीय सरकार का संगठन इस तरह बिखरा होता है, जैसे धमनियां पूरे शरीर में फैली होती हैं, केन्द्रीय कार्यपालिका से हर बिंदु को सीधे जोड़े हुए।

इसमें से एक भी चीज भारतीय संघ के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। यह एक आश्रित सरकार है और इसका लोगों से सीधा संबंध नहीं है।

संयुक्त राज्य में राज्यों के रूप में केन्द्रीय सरकार में कोई स्थान प्राप्त नहीं है और यद्यपि राज्यों द्वारा संघीय विधान-मंडल के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाता है, केन्द्र के राजनीतिक कार्य राज्य से संबंध नहीं रखते। समूहों में राज्यों का कोई संयोजन नहीं है और राज्यों में यह प्रचलन भी नहीं है कि वे आधिकारिक तौर पर अपने राज्य संगठनों को संयोजित करें। भारतीय संघ कितना भिन्न है? राज्यों को विधिसम्मत मान्यता प्राप्त है, उन्हें विधिसम्मत विमुक्ति और विधि से उन्मुक्ति मिली हुई है। यहां इन विमुक्तियों और उन्मुक्तियों के कारण राज्यों और प्रांतों द्वारा संयुक्त कार्रवाई और प्रतिकार की प्रबल संभावनाएं हैं। यह एक दूसरा कारण है, जो इस धारणा को जन्म देता है कि भारतीय संघ में बहुत कम जीवन शक्ति है।

6
संघीय योजना के लाभ

संघीय योजना के पक्षधरों ने योजना को स्वीकार करने के लिए तीन आधार प्रस्तुत किए है। पहला आधार है कि भारत की एकता में सहायता करता है। दूसरा आधार है कि यह ब्रिटिश भारत द्वारा भारतीय भारत को प्रभावित करने और क्रमशः निरंकुश शासन तंत्र को जो भारतीय भारत में बरकरार है, ऐसे लोकतंत्र में बदलने के लिए जैसा कि ब्रिटिश भारत में है, सक्षम बनाती है। तीसरा आधार है कि संघीय योजना एक ऐसी योजना है, जिसमें एक उत्तरदायी सरकार मूर्त रूप में विरोजमान है।

इन तीनों योजनाओं के समर्थक इतनी प्रबलता से संघीय योजना के पक्ष में ये तीनों तर्क इतनी गंभीरता से और साधिकार प्रस्तुत करते हैं कि यह आवश्यक हो जाता है कि इनमें विहित सारतत्व पर विचार किया जाए।

संघ और भारत की एकता

वास्तव में, सरकार की एक सामान्य प्रणाली के बहुत यथार्थ फायदे होते हैं। विधि की एक समान प्रणाली, प्रशासन की समान प्रणाली और एकता की भावना रखना सद्जीवन के सारभूत तत्व हैं। सरकार की एक समान प्रणाली के अंतर्गत एक समान जीवन में इन सबका प्रतिपालन होता है। शेष चीजें समान होने पर, संपूर्ण भारत के लिए सरकार की एक समान प्रणाली के रूप में एक संघ की परिकल्पना स्वागत योग्य है। लेकिन क्या भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत यह संघ संपूर्ण राज्य-क्षेत्र को, जिसे भारत कहते हैं, एक सरकारी प्रणाली के अंतर्गत गठित करता है? क्या यह एक अविरल भारतीय संघ है?

यह सही है कि इस संघ में ब्रिटिश भारत सम्मिलित है। जब प्रांतां को संघ की इकाई घोषित किया जाता है तो इसका अर्थ है कि ब्रिटिश भारत संघ में सम्मिलित है। राज्यों को, जिन्हें भारतीय भारत कहते हैं, संघ की इकाई घोषित कर दिया गया है। भारतीय

भारत कोई मामूली क्षेत्र नहीं है। ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत के विषय में आगे दिए गए क्षेत्रफल और जनसंख्या के आंकड़े एक तुलनात्मक स्थिति बताएंगे :

	क्षेत्रफल वर्गमील में	जनसंख्या
	1931	1931
ब्रिटिश भारत (बर्मा और अदन को छोड़कर)	8,62,630	2,56,859,787
देशी राज्य	7,12,508	81,310,845

इससे मालूम होता है कि भारतीय भारत में 39 प्रतिशत जनसंख्या है और समस्त भारत का 31 प्रतिशत क्षेत्रफल है।

कितना भारतीय भारत इस संघ में शामिल किया जा रहा है?

बहुतेरे यह कहना चाहेंगे कि चूंकि यह अखिल भारतीय संघ के रूप में बोला जाता है, इस क्षेत्र का प्रत्येक इंच संघ में शामिल किया जाएगा और यह संघीय सरकार के प्राधिकार के अंतर्गत रहेगा। निःसंदेह इस तरह की धारणा धारा 6(1) की शब्दावली से ध्वनित होती है जो राज्यों के विलय से संबंधित है। यह धारा एक शासक के संघ में सम्मिलित होने की इच्छा के बारे में बताती है और तनुदरूप यह सुझाती है कि प्रत्येक देशी राज्य को संघ में शामिल हो जाना चाहिए। अगर यह सही है तो निस्संदेह कालांतर में संघ एक अखिल भारतीय संघ बन सकेगा। लेकिन यह धारणा गलत है। यदि धारा 6(1) को अधिनियम की अनुसूची 1 के साथ पढ़ें तो यह धारणा निर्मूल सिद्ध होगी। अनुसूची 1 मात्र एक ऐसी अनुसूची मानी जाती है, जिसमें शासकों की सीटों की तालिका दी गई है। अनुसूची का यह एक अपूर्ण अध्ययन है। यह अनुसूची इससे भी कुछ और अधिक है। यह सीटों की मात्र तालिका ही प्रस्तुत नहीं करती, वरन राज्यों के संघ में सम्मिलित होने की पात्रता भी गिनाती है और तदनुरूप उनके लिए अधिकाधिक सीटें निश्चित करती है, जो यदि चाहें तो संघ में सम्मिलित हो सकते हैं। अनुसूची 1 में प्रदर्शित सीटों की तालिका की यह विशेषता है।

संघ में शामिल हो सकने वाले देशी राज्यों की कुल संख्या क्या है? अनुसूची 1 में ऐसी संख्या 147 तक है। अनुसूची में जो सीमा तय की गई है, उसके बारे में कई सवाल उठते हैं सरकारी आंकड़ों के अनुसार भारत में कुल 627 राज्य हैं। इसका तात्पर्य है, 480 राज्य संघ के बाहर रहेंगे और संघ का कभी भी हिस्सा नहीं बन सकते। क्या इसे एक अखिल भारतीय संघ कह सकते हैं? अगर इसे एक अखिल भारतीय संघ बनना है तो इन राज्यों को अलग क्यों रखा गया है? इन बहिष्कृत राज्यों की क्या स्थिति है? अगर वे प्रभुसत्ता वाले राज्य नहीं हैं तो उन्हें संघ में क्यों शामिल किया जा रहा है? यदि वे प्रभुसत्ता-विहीन राज्य हैं और उनकी प्रभुसत्ता ब्रिटिश सम्राट के साथ है तो ब्रिटिश सम्राट ने इन क्षेत्रों के विषय में संघ को प्रभुसत्ता क्यों हस्तांतरित नहीं की है? ऐसे बहिष्कृत राज्य की अंतिम नियति क्या होगी? क्या उनका अन्य देशी राज्यों में विलय हो जाएगा अथवा

उनका कुछ भारतीय प्रांतों में विलीनीकरण हो जाएगा? मैं इन सबका इसलिए उल्लेख कर रहा हूं कि प्रथमतः मैं यह बताना चाहूंता कि यह संघ एक अखिल भारतीय संघ नही है, और दूसरे, मैं कुछ देशी राज्यों के इन कदमों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि वे इन बहिष्कृत राज्यों का अपने अंतर्गत विलय चाहते हैं।

एक दूसरा सवाल भी उठाया जा सकता है। क्या यह संघ ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की जनता को एक राष्ट्र में संगठित करने में मदद करेगा?

एक संघ आवश्यक तौर पर एक संगठित समुदाय होता है। इसके अंतर्गत जो इकाइयां होती हैं वे छोटे राजनीतिक समुदाय होते हैं। इकाइयों के ऊपर बहुत बड़ा राजनीतिक समुदाय होता है, जिसे संघ कहते हैं। क्या ये विभिन्न राजनीतिक समुदाय मात्र राजनीतिक संगठन बने रहेंगे अथवा एक सामान्य सामाजिक ढांचे में विकसित होंगे, जिसका अंतिम उद्देश्य एक राष्ट्र का निर्माण करना है? यह सब इस बात पर आधारित रहेगा कि इनके संगठनों का क्या प्रारूप बनता है।

ब्राइस के कथानुसार :

> एक बड़े राजनीतिक समुदाय के अंतर्गत जब छोटे समुदाय का अस्तित्व मिलता है तो छोटे का बड़े के साथ आमतौर पर जो एक दो तरह का संबंध दिखाई देता है, वह दो प्रकार का होता है। एक रूप है लीग का जिसमें कई राजनीतिक संगठन, चाहे वे राजतंत्र हो या लोकतंत्र, किसी विशेष उद्देश्य से इस प्रकार गठित होते हैं, विशेषतया सामान्य सुरक्षा के विषय में, जिससे एक संगठित संस्था का आभास हो। ऐसे संगठित समुदाय या लीग के सदस्य मनुष्य नहीं, वरन् समुदाय होते हैं। यह समुदायों के कुल योग से बनती है। इसलिए समुदाय, जिनसे इसका निर्माण होता है, जब एक-दूसरे से अलग होते हैं तो इसका शीघ्र ही अंत हो जाता है। साथ ही इसका संबंध समुदाय से ही होता है और उन्हीं के साथ कार्य-व्यापार चलता है। नागरिक से इसका कोई संबंध नहीं होता, न उससे कर उगाही की जाती है, न उसके लिए न्याय व्यवस्था की जाती है, न ही उसके लिए विधि का निर्माण किया जाता है, क्योंकि इन सभी मामलों में उसकी निष्ठा अपने निजी समुदाय से ही होती है।
>
> दूसरे प्रारूप में, छोटे समुदाय बड़े की मात्र उप-शाखाएं होती हैं, जिन्हें राष्ट्र कहते हैं। उनका निर्माण किया गया है, अथवा वे येनकेन प्रकारेण सिर्फ प्रशासनिक दृष्टि से अस्तित्व में हैं। उनके पास जो शक्तियां हैं, वे राष्ट्र द्वारा सौंपी गई हैं और जिन्हें इसकी इच्छानुसार रद्द किया जा सकता है। एक राष्ट्र अपने अधिकारियों के जरिए सीधे काम करता है, मात्र समुदायों पर ही नहीं, वरन् हर एकल नागरिक और राष्ट्र पर, क्योंकि यह इन समुदायों से स्वतंत्र है, इसका अस्तित्व बना रहेगा, वे सब मिट जाएंगे। ....

प्रथम मामले में सरकार का स्वरूप महासंघ का है। दूसरे मामले में सरकार का स्वरूप एकात्मक है। एक संघीय सरकार इन दोनों के मध्य में है। तथापि यह धारणा नहीं बनानी चाहिए कि राष्ट्रवाद सिर्फ एकात्मक सरकार में ही सुसंगत है और संघीय सरकार

में असंगत है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि एक राष्ट्र बना हुआ मिल सकता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र बनाया भी जा सकता है। एक संघीय सरकार में प्रारंभ में कोई राष्ट्र नहीं होता, यह एक विजातीय समुदायों का संकलन होता है। लेकिन यह संभव है कि संघीय सरकार में अंततः एक राष्ट्र का उदय हो। सबसे अधिक असाधरण उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका का है। ब्राइस एक बड़ी मजेदार और उद्देश्यपूर्ण कथा का जिक्र करते हैं, जिसे मैं उन्हीं के शब्दों में दे रहा हूं :

> कुछ वर्ष पूर्व अमरीकन प्रोटेस्टेंट एपिस्कोपल चर्च अपने त्रैवार्षिक समारोह में अपनी उपासना पद्धति संशोधित करने में व्यस्त थे। इस बात की आवश्यकता समझी गई कि सभी व्यक्तियों के लिए संक्षिप्त वाक्य में एक प्रार्थना प्रचलित की जाए और एक प्रमुख नव-आंग्ल धर्मावलंबी ने कुछ शब्द सुझाए, 'हे परमात्मा, हमारे राष्ट्र को आर्शीवाद दो।' सभी ने एक के बाद एक इसका उसी क्षण अनुमोदन किया। दूसरे दिन इस वाक्य पर पुनर्विचार किया गया, तब अविज्ञ-जनों ने 'राष्ट्र' शब्द पर कई आपत्तियां उठाईं और राष्ट्रीय एकता की मान्यता को परिभाषित किया गया। यहां तक कि इसे विवादित समझ कर समाप्त कर दिया गया और इसकी जगह ये शब्द अनुमोदित किए गए, 'हे परमात्मा, इस संयुक्त राज्य को आशीर्वाद दो।' ईश्वर की इस प्रार्थना के बावजूद, राज्यों के मुकाबले में एक राष्ट्र के विचार को प्रोत्साहन देने में अरुचि होने के बावजूद और सरकार के संघीय स्वरूप के बावजूद संयुक्त राज्य एक राष्ट्र है। यह एक राष्ट्र है, सामाजिक अर्थ में यह शब्द निर्विवाद है।

संयुक्त राज्य में यह किस प्रकार घटित हुआ? क्या संघीय योजना में हम इसे भारत में घटित होते देखना चाहते हैं? ब्राइस इसका वर्णन करते हैं कि यह सब अमरीका में कैसे हुआ। वह कहते हैं कि 'अमरीका में केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार मात्र एक लीग नहीं है, क्योंकि यह पूरी तरह इस में सम्मिलित समुदायों पर आश्रित नहीं है, जिन्हें हम राज्य कहते हैं। यह स्वयं एक राष्ट्रकुल और साथ ही राष्ट्रकुलों का संघ है, क्योंकि यह सीधे ही हर नागरिक से आज्ञाकारिता की अपेक्षा करता है और न्यायालयों तथा कार्यकारी अधिकारियों के जरिए उस पर सीधी कार्रवाई कर सकता है।' यह कर लगा सकता है, उसके लिए विधि-निर्माण कर सकता है और उसे न्याय प्रदान कर सकता है। संक्षेप में, यह सरकार की प्रक्रिया है, जो व्यापक रूप में, अगर पूर्णरूपेण नहीं तो अमरीका के निवासियों को एक राष्ट्र में बदलने के लिए उत्तरदायी है और यह तभी संभव हुआ, जबकि संयुक्त राज्य की सरकार के संघीय स्वरूप में राष्ट्रीय सरकार और व्यक्ति के मध्य सीधे संपर्क का प्रावधान है।

क्या यह भारतीय संघीय शासन में संभव है? मेरा उत्तर है कि यह संभव नहीं है। देशी राज्यों के लोग राज्यों की प्रजा बने रहते हैं। संघीय सरकार उनसे सीधे कोई कार्य-व्यवहार नहीं कर सकती। हर चीज राज्य के माध्यम से होती है। दोनों में कोई संपर्क नहीं है, यहां तक कि कराधान के मामले में भी। तो यह भावना देशी राज्यों के लोगों में

कैसे उत्पन्न होगी कि उनका राष्ट्रीय सरकार से संबंध है, जब कि उन्हें किसी भी और हर प्रभाव से बहिष्कृत किया गया है और यह भी अनुभव नहीं होने दिया गया कि कोई राष्ट्रीय सरकार भी है? मुझे भय है कि भारत का यह संयुक्त राज्य मात्र संयुक्त राज्य जैसी संस्था के अतिरिक्त कुछ और नहीं होगा। इनमें इन राज्यों में से एक राष्ट्र-निर्माण की शक्ति का अभाव है और संभवतः इस योजना के निर्माताओं का यह इरादा कभी भी नहीं रहा होगा।

निरंकुश शासनों का प्रजातंत्रीकरण

संघीय योजना का एक अन्य लाभ उसके पक्षधरों ने बताया है कि यह ब्रिटिश भारत के नव-लोकतंत्रों और देशी राज्यों के प्राचीन निरंकुश शासन तंत्र को एकल राजनीतिक प्रासाद की छत्रछाया में लाता है और इन दोनों को एक प्रासाद के नीचे लाने से प्रजातंत्र और निरंकुश शासन तंत्र के पारस्परिक संबंध को बढ़ाता है, और ब्रिटिश भारत के प्रजातंत्र द्वारा देशी राज्यों के स्वेच्छाचारी शासन के प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया को सामर्थ्य प्रदान करता है। इसको परखने के लिए और इसमें कितनी शक्ति विहित है, इसके विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भौगोलिक आधार पर देशी राज्य और ब्रिटिश भारत के प्रांत निकट हैं। उनमें नियमित संपर्क है। ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के निवासी जातीय, भाषायी और सांस्कृतिक तौर पर एक समग्र के ही हिस्से हैं। इन सभी संपर्कों और जाति, धर्म, भाषा और संस्कृति की समग्र एकता के बावजूद ब्रिटिश भारत ने देशी राज्यों में प्रचलित शासन व्यवस्था के स्वरूप को प्रभावित नहीं किया है। इसके विपरीत जब कि ब्रिटिश भारत निरंकुशता से प्रजातंत्र की ओर अग्रसर हुआ है, देशी राज्य अपनी स्थिर शासन-प्रणाली के साथ उसी प्रकार बने हुए हैं। इसलिए जब तक अधिनियम में कोई विशेष बात नहीं आती जो कि ब्रिटिश भारत को यह सामर्थ्य प्रदान कर सके कि वह अपने विधान–मंडल और कार्यपालिका द्वारा देशी राज्यों को प्रभावित करे, तब तक इस तर्क में कोई सार नहीं है। क्या इस अधिनियम में ऐसी कोई चीज है, जो ब्रिटिश भारत को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह राज्यों को प्रभावित कर सके? इस संबंध में धारा 34(1) का अवलोकन किया जाना चाहिए, जिसका संबंध विधान–मंडल में बजट प्रावधानों पर वाद-विवाद और मतदान प्रक्रिया से है।

इस धारा की जांच करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धारा 33 की उप–धारा (3) के पैरा (क) और पैरा (च) से संबंधित प्राक्कलनों पर संघीय विधान–मंडल में बहस भी नहीं हो सकती है। उप–धारा (3) के पैरा (क) में गर्वनर-जनरल के वेतन, भत्तों और उसके कार्यालय तथा अन्य खर्चे की मदों का जिक्र है, जिसके प्राक्कलन आर्डर-इन-काउंसिल द्वारा तैयार किए जाते हैं। पैरा (च) का संबंध इस अधिनियम के अंतर्गत महामहिम को संघ के राजस्व में से देय उस धन से है जिसे वह देशी राज्यों के प्रति कृत्यों के निर्वहन हेतु व्यय करते हैं। एक अन्य धारा जिसका कि संबंध इस विषय से है, वह धारा 38 है। धारा 38 वह धारा है, जो संघीय विधान–मंडल की कार्यवाही को विनियमित करने की

प्रक्रिया विषयक नियम बनाने से संबंध रखती है। जबकि यह धारा संघीय विधान–मंडल को अपने नियम स्वयं बनाने की अनुमति प्रदान करती है, यह गवर्नर-जनरल को नियम बनाने की अनुमति देती है।

(ग) बहस को रोकने, अथवा किसी भी ऐसे विषय पर प्रश्न न पूछने देने के लिए जिसका संबंध किसी देशी राज्य से है, किसी ऐसे मामले को छोड़कर जिनके विषय में संघीय विधान–मंडल राज्य के लिए विधि बनाने में सक्षम है, जब तक कि गवर्नर-जनरल स्वविवेक से संतुष्ट न हो कि यह मामला संघीय हित अथवा ब्रिटिश प्रजातंत्र को प्रभावित करता है और उसने मामले पर बहस करने और सवाल पूछे जाने की अनुमति न दे दी हो।

(घ) रोकने के लिए -

(1) बहस अथवा किसी ऐसे विषय में संबंधित प्रश्नों का पूछा जाना, जिनका संबंध महामहिम अथवा गवर्नर-जनरल और किसी विदेशी राज्य अथवा राजा के मध्य आपसी संबंधों से है, और

(2) बहस, व्यय के प्राक्कलनों को छोड़कर, जो किसी आदिवासी क्षेत्र अथवा बहिष्कृत क्षेत्र के प्रशासन से संबंध रखते हैं, उन प्रश्नों का पूछा जाना, अथवा

(3) किसी देशी राज्य के शासक के व्यक्तिगत आचरण अथवा किसी सत्तारूढ़ परिवार के विषय में बहस अथवा प्रश्नों का पूछा जाना।

इस धारा में आगे यह भी प्रावधान है कि यदि गवर्नर-जनरल द्वारा निर्मित कोई नियम सदन द्वारा निर्मित किन्हीं नियमों क विरुद्ध हो, तो गवर्नर-जनरल द्वारा निर्मित नियम वैध होंगे।

एक अन्य धारा जो इस बिन्दु पर प्रकाश डालती है, वह धारा 40 है। यह कहती है, संघीय विधान–मंडल में संघीय न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश द्वारा अपने कर्तव्य पालन के दौरान किए गए किसी कार्य के बारे में किसी भी प्रकार का वाद-विवाद नहीं किया जा सकेगा, और इसमें दिया गया है कि इस उपधारा के अंतर्गत किसी उच्च न्यायालय को सौंपा गया मामला किसी संघीकृत राज्य के न्यायालय को संदर्भित माना जाएगा, जो इस अधिनियम के खंड 9 के अधीन किसी भी उद्देश्य हेतु एक उच्च न्यायालय के रूप में प्रतिष्ठित है। अधिनियम के इस उपखंड में इसी प्रकार के प्रावधान भी दिए गए हैं, जिनका संबंध प्रांतीय विधान–मंडलों के गठन से है। धारा 84, धारा 38 की प्रतिपूरक है और प्रांतीय विधान-मंडल के किसी भी सदस्य को किसी भी देशी राज्य के शासक के व्यक्तिगत आचरण अथवा राज्य के मामले में प्रश्न पूछने से रोकती है। धारा 86, धारा 40 की प्रतिपूरक है।

अब यह सुस्पष्ट है कि एक विधान–मंडल के सामने प्रशासन के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए जो दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण रास्ते खुले हुए हैं, वे हैं, बजट पर

वाद-विवाद करना और प्रश्न पूछना। बजट पर बहस की शुरुआत के पीछे यह सिद्धांत है कि कार्यपालिका को प्रदाय तब तक प्रदान नहीं किए जाएंगे जब तक कि वह जनता की तकलीफों को दूर नहीं करती। प्रजातंत्र का नारा है-धन दिए जाने से पहले शिकायतें दूर करो। बजट पर बहस द्वारा जनता की शिकायतें कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत की जा सकती हैं। इसलिए यह एक वैध विशेषाधिकार है, जैसा कि धारा 34 से ज्ञात होता है, सदन में राज्यों की शिकायतें कार्यपालिका के समक्ष न रखी जाने पर विधान–मंडल को प्रतिबंधित किया जाता है। इस प्रकार पूछताछ करने और प्रश्न पूछने का अधिकार प्राप्त है जो वैध विशेषाधिकार है, लेकिन उसे भी छीन लिया गया है। विधान–मंडल को सदैव उचित प्रस्ताव पर न्यायपालिका के आचरण की आलोचना करने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन उसे भी निकाल दिया गया है। यह देखना बड़ा मुश्किल है कि संघीय विधान–मंडल वास्तव में देशी राज्यों के आंतरिक प्रशासन को किस तरह प्रभावित करता है। राज्यों के आंतरिक प्रशासन के विषय में कोई प्रश्न पूछने अथवा प्रस्ताव लाने की न सिर्फ ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को मनाही है, वरन् यही अयोग्यता राज्यों के प्रतिनिधियों पर भी थोपी गई है, जो कि कुप्रशासन के शिकार हैं।

संघीकृत राज्यों द्वारा ब्रिटिश भारत पर जिस प्रभाव का प्रयोग किया जा सकता है, अब उसकी तुलना की जाए।

प्रथमतः, संघीकृत राज्यों के प्रतिनिधियों को संघीय विधानमंडल में किसी प्रश्न को पूछने या किसी मामले को उठाने पर प्रतिबंध नहीं है। यह तथ्य कि कोई प्रश्न अथवा मामला ब्रिटिश भारत से सरोकार रखता है अथवा ब्रिटिश भारत के आंतरिक प्रशासन से संबंध रखता है, संघीकृत राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा मामला उठाने पर रोक नहीं लगाता।

दूसरे, संघीकृत राज्यों के प्रतिनिधियों पर संघीय सरकार के आर्थिक प्रस्तावों पर बहस और मतदान करने पर कोई पाबंदी नहीं है। ऐसा कोई प्रस्ताव जो सिर्फ ब्रिटिश भारत को प्रभावित करता है और राज्यों को प्रभावित नहीं करता, उनके रास्ते में किसी प्रकार की कानूनी अड़चन पैदा नहीं करता।

तीसरे, कानून बनाने के मामले में संघीकृत राज्यों के प्रतिनिधियों को संघीय विधानमंडल के समक्ष लाए गए किसी भी मामले पर मतदान करने की स्वतंत्रता है। ऐसी दो सूचियां हैं, जिन पर संघ का विधायी प्राधिकार रहता है-संघीय सूची और समवर्ती सूची। प्रांतों को पूर्णरूपेण संघीय सूची से प्रतिबद्ध किया गया है। एक संघीकृत राज्य इससे पूरी तरह बंधा हुआ नहीं है। प्रांत समवर्ती सूची से पूरी तरह प्रतिबद्ध है। एक संघीकृत राज्य बिल्कुल भी प्रतिबद्ध नहीं है। फिर भी, राज्यों के प्रतिनिधियों को किसी भी मामले पर जो दोनों सूचियों में से किसी एक में आते हैं, मतदान करने का अधिकार प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, संघीय योजना राज्यों को ब्रिटिश भारत के लिए विधि-निर्माण का अधिकार प्रदान करती है, जबकि ब्रिटिश भारत को राज्यों के संबंध में विधि-निर्माण का अधिकार नहीं है, सिवाय इस सीमा तक कि राज्य इन दो विधायी सूचियों के अधीन रहना पसंद करते हैं।

ब्रिटिश भारत के ऊपर राज्यों के विधायी प्रभाव क्षेत्र किसी भी प्रकार कम अथवा व्यर्थ नहीं है। समवर्ती सूची तक सीमित रहने पर भी इसमें 36 विषय आते हैं। इन 36 विषयों में दंड विधि, आपराधिक एवं नागरिक दंड संहिता, पेशे, समाचार-पत्र, पुस्तकें और छपाईखाने आदि शामिल हैं। यह स्पष्ट है कि ये महत्वपूर्ण विषय हैं। इनसे प्रांतों में लोगों की स्वतंत्रता प्रभावित होती है। अब जैसे कि राज्यों को समवर्ती सूची के अंतर्गत सभी प्रकार के विधि-निर्माण में भाग लेने और मतदान का अधिकार प्राप्त है, देशी राज्यों को प्रांतों में ब्रिटिश भारतीयों के अधिकारों विशेषाधिकारों और स्वतंत्रता को प्रभावित करने वाले विधि-निर्माण के सभी अधिकार और प्राधिकार प्राप्त हैं।

आगे विधायी क्षेत्र में, जहां तक कि इसका संबंध समवर्ती सूची से है, राज्यों ने बिना किसी अनुग्रह के प्राधिकार प्राप्त कर लिया है। उन्हें विधि-निर्माण की स्वतंत्रता है और उन्हें अपने विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिन कानूनों को वे बनाते हैं, उनसे वे प्रतिबद्ध नहीं हैं। उनका आचरण उतना ही अनुत्तरदायी हो सकता है, जितना कि वे इसे बनाना चाहें।

यद्यपि यह कहना कम बयानी है कि राज्यों को ब्रिटिश भारत में केवल प्रशासन और विधि-निर्माण को प्रभावित करने का अधिकार प्राप्त है। सत्य यह है कि राज्य ब्रिटिश भारत पर अपना वर्चस्व बनाए रख सकते हैं, क्योंकि वे संघीय सरकार में एक मंत्रालय की सत्ता बरकरार रख सकते हैं, भले ही ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के बहुमत में विशुद्ध रूप से भारत को प्रभावित करने वाले मामले में इसे पराजित कर दिया हो। यह इसलिए है कि उन्हें किसी प्रस्ताव पर, जिसमें अविश्वास प्रस्ताव भी सम्मिलित है, मतदान करने का अधिकार प्राप्त है, चाहे प्रस्ताव से संबंधित वह मामला उन्हें प्रभावित करता है अथवा नहीं। एक ओर जहां राज्य ब्रिटिश भारत के आंतरिक मामलों पर बहस में भाग ले सकते हैं, वहीं ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को राज्यों के मामलों पर चर्चा करने का वैसा ही अधिकार प्राप्त नहीं है। इस अन्याय और विसंगति को दूर करने के लिए-ऐसे प्रश्नों पर जिनका ब्रिटिश भारत के आंतरिक मामलों से संबंध न हो-राज्यों के बहस और मतदान के अधिकार को सीमित करने की कोशिश की गई थी। लेकिन राजाओं और उनके प्रतिनिधियों ने सदैव इस तरह का अंतर किए जाने का विरोध किया और इस बात पर जोर दिया कि जिस मामले पर मंत्रालय का भाग्य आश्रित हो, उन्हें उस सरकार के भविष्य के बारे में निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए। संविधान ने राजाओं के इस दृष्टिकोण को सही करार दिया और ब्रिटिश भारत के दृष्टिकोण को ठुकरा दिया।

यह तुलना दर्शाती है कि राज्यों को कानून ब्रिटिश भारत के मामलों पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त है और उसी कानून के जरिए ब्रिटिश भारत राज्यों के किसी भी प्रकार प्रभावित करने के मामले में पंगु है। इस सच्चाई को सभी को स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में, संघीय योजना ब्रिटिश भारत की मदद नहीं करती, अपितु उसके मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करती है, जिससे कि देशी राज्यों के प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया में तेजी न आ सके। दूसरी ओर यह देशी राज्यों की ब्रिटिश भारत में प्रजातंत्र को कुचलने में मदद करती है।

संघ और उत्तरदायित्व

अब हम उत्तरदायित्व के प्रश्न पर विचार करेंगे। ब्रिटिश भारत के दृष्टिकोण से अन्य दो तर्कों के मुकाबले यह अधिक निर्णयात्मक महत्व का है और इसे सावधानी से जांचना-परखना चाहिए।

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि संघ का कुछ सीमा तक उत्तरदयित्व है। प्रश्न यह है कि उत्तरदायित्व की सीमा कितनी है और इसके क्षेत्र में जो उत्तरदायित्व हैं, वे कितने वास्तविक हैं।

हम पूछते हैं कि इस संघ में कितना उत्तरदायित्व है? धारा 9 और 11 को साथ-साथ पढ़ने से आप इस प्रश्न का उत्तर देने में सक्षम हो सकते हैं। दोनों को साथ-साथ पढ़ने से उस उत्तरदायित्व के संबंध में एक विचार आपको मिलेगा। इन दोनों धाराओं के अनुसार सरकारी प्राधिकार दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में चार विषय आते हैं : (1) प्रतिरक्षा, (2) धर्म संबंधी मामले, (3) विदेशी मामले, और (4) आदिवासी क्षेत्रों का प्रशासन। बाकी विषयों को जो संघ के कार्यकारी प्राधिकार के अंतर्गत आते हैं, अलग दूसरी सूची में रखा गया है। दोनों ही सूचियों का कार्यकारी प्राधिकार गवर्नर-जनरल में विहित है। लेकिन सरकारी प्राधिकार के मामले में उनमें एक अंतर रखा गया है। अधिनियम के अंतर्गत प्रथम सूची में आने वाले चार विषयों के संबंध में सरकारी प्राधिकार गवर्नर-जनरल के स्वविवेक पर आश्रित है। दूसरी सूची में जो शेष विषय आते हैं, उनका अधिनियम के अंतर्गत सरकारी प्राधिकार मंत्री की सलाह पर कार्यरत गवर्नर-जनरल पर छोड़ गया है। प्रथम चार विषयों के मामले में सरकार विधान–मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि गवर्नर-जनरल जिसमें कि सरकारी प्राधिकार इन चार विषयों के बारे में विहित है, विधान–मंडल द्वारा पदच्युत नहीं किया जा सकता। अन्य सभी मामलों में सरकार विधान–मंडल के प्रति उत्तरदायी है, क्योंकि जिन मंत्रियों की सलाह पर सरकारी प्राधिकार प्रयोक्तव्य है, उन्हें विधान–मंडल द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। इसलिए संघीय योजना में उत्तरदायित्व प्रतिरक्षा और विदेशी मामलों पर लागू नहीं होता, जो कि अंततः सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। यह योजना द्वैध शासन से मिलती-जुलती है, जिसमें विषयों का विभाजन आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के रूप में, मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के आधार पर था, किया गया है जिसकी परिकल्पना भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अंतर्गत प्रांतीय संविधान में की गई थी। 1935 के अधिनियम में संघीय संविधान में उत्तरदायित्व की योजना, 1919 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतीय संविधान की यथार्थ प्रतिकृति है।

क्या यह उत्तरदायित्व वास्तविक है? मेरा उत्तर नकरात्मक है। इसके लिए मैं अपने कारण बताऊंगा। प्रथमतः, उत्तरदायित्व का क्षेत्र सीमित होने के साथ-साथ मंत्रियों द्वारा कार्यवाही करने का खुला क्षेत्र नहीं है। इस बात का अनुभव करने के लिए कि यह सीमित उत्तरदायित्व कितना बंधनमुक्त है, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि मंत्रियों की शक्तियों पर जब वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं, कितने प्रतिबंध लगाए जाते हैं।

मंत्रियों के प्राधिकार पर लागू प्रतिबंधों की प्रथम श्रृंखला गवर्नर-जनरल के अपने विशेष उत्तरदायित्व का पालन करने से उत्पन्न होती है।

मंत्रियों के प्राधिकार पर लागू प्रतिबंधों की एक अन्य श्रृंखला है, जो हस्तांतरित विषयों के संबंध में सरकारी प्राधिकार के प्रयोग से उत्पन्न होती है। इसको समझने के लिए आपको संघीय संविधान के एक विशेष लक्षण को जानना पड़ेगा। संविधान सरकारी प्राधिकार के दृष्टिगत विषयों का वर्गीकरण करता है और इस वर्गीकरण के फलस्वरूप विषयों का ऐसा विभाजन हुआ है, जिन्हें संक्षिप्तता के लिए हस्तांतरित और आरक्षित नाम दिया जा सकता है। संविधान यहीं नहीं रुकता। यह आगे बढ़कर हस्तांतरित विषयों के दो श्रेणियों में विभाजन करता है-(1) वे विषय, जिन पर मंत्रियों का सरकारी प्राधिकार अपने साथ प्रशासकीय नियंत्रण भी लाता है, और (2) वे विषय, जिन पर मंत्रियों का सरकारी प्राधिकार अपने साथ प्रशासकीय नियंत्रण नहीं लाता।

इस वर्गीकरण के उदाहरण के लिए रेलवे का मामला प्रस्तुत किया जा सकता है। रेलवे एक हस्तांतरित विषय है। मंत्रियों का सरकारी प्राधिकार रेलवे पर है। लेकिन मंत्रीगण रेलवे पर किसी भी प्रकार का प्रशासकीय नियंत्रण नहीं रख सकते। रेलवे पर प्रशासकीय नियंत्रण रेलवे प्राधिकरण का होता है। प्रशासकीय नियंत्रण सहित सरकारी प्राधिकार और बिना प्रशासकीय नियंत्रण के सरकारी प्राधिकार के मध्य जो भेद है, वह भेद बिना किसी भिन्नता के नहीं है। दूसरी ओर यह जो दोनों स्थितियों में भिन्नता है, वह वास्तविक है। धारा 181 की उप–धारा (2) में रेलवे के मामले में यह भिन्नता स्पष्ट की गई है। यह भेद नीति निर्धारित करने वाले प्राधिकार और उसकी कार्य-क्षमता के बीच है। यह इस संघ की वकालत करने वालों को बताने के लिए है कि क्या सरकारी योजना में उत्तरदायित्व की वास्तविकता है, जब कि कार्य करने में सक्षमता तथा नीति-निर्धारण के प्राधिकार में संबंध-विच्छेदन है?

संघीय योजना में उत्तरदायित्व विषयक दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि उत्तरदायित्व की परिधि सीमित है। दूसरे, यह वास्तविक नहीं है, क्योंकि गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों के फलस्वरूप और साथ ही मंत्रियों के सरकारी प्राधिकार को, कुछ विषयों में सक्षमता से कार्य करने, जैसे कि रेलवे, यद्यपि वे हस्तांतरित विषय हैं, वापस ले लेने के कारण इसमें रूकावटें पैदा होती हैं।

मैं पहले कह चुका हूं कि संघीय योजना में उत्तरदायित्व की प्रणाली द्वैध शासन-प्रणाली से मेल खाती है, जिसे 1919 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतों में लागू किया गया था। लेकिन यद्यपि संघ में उत्तरदायित्व की योजना की द्वैध शासन-प्रणाली से तुलना करने पर जिसे प्रांतों में लागू किया गया था, यह बात पता चलती है कि दूसरे के मुकाबले पहली में उत्तरदायित्व पर कम जोर दिया गया था। प्रांतों के द्वैध शासन में वे दो बातें नहीं मिलतीं, जो संघीय योजना में मिलती हैं और द्वैध शासन में जो एक चीज मिलती है, वह संघ में अप्राप्य है। दो की उपस्थिति और एक की अनुपस्थिति इस संघ में द्वैध शासन को प्रांतों के द्वैध शासन से भी और अधिक खराब बनाती है।

इस संघीय योजना में जो दो नई बातें हैं, उनमें एक है हस्तांतरित विषयों के बारे में गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों का सिद्धांत और दूसरी है सरकारी प्राधिकार का प्रशासकीय नियंत्रण से पृथक्करण, उन विषयों के संबंध में जो हस्तांतरित क्षेत्र में आते हैं। ये दोनों नई चीजें हैं, जो प्रांतों में द्वैध शासन तंत्र के संविधान में नहीं थीं।

यह कहा जा सकता है कि गवर्नर-जनरल का विशेष उत्तरदायित्व साधारणतः निशेषाधिकार का दूसरा नाम है। यह वह शक्ति है, जिससे मंत्रियों के विरुद्ध व्यवस्था की जा सकती है और यहां तक कि ब्रिटिश संविधान में सम्राट को इस प्रकार का निषेधाधिकार प्राप्त है। इसके सम्मुख गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों का यह विचार सही लगता है। लेकिन वास्तव में जिन शर्तों और परिस्थितियों के अधीन सम्राट के निषेधाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है, उनके बारे में एक मिथ्या धारणा है।

मेरी जानकारी में एक उत्तरदायी शासन व्यवस्था में सम्राट और उसके मंत्रियों के बीच संबंधों की मैकाले के अतिरिक्त किसी अन्य ने इतनी अच्छी व्याख्या नहीं की है। उनके शब्दों में :

> इंग्लैंड में सम्राट अपने निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता, जब तक कि कोई मंत्री सम्राट की कार्यवाही का उत्तरदायित्व ओढ़ने के लिए तैयार नहीं है। अगर कोई मंत्री उत्तरदायित्व निभाने के लिए तैयार नहीं है, तो सम्राट को समर्पण, संघर्ष अथवा पद त्याग देना चाहिए। गवर्नर-जनरल की स्थिति भिन्न है। उसे समर्पण करने की आवश्यकता नहीं। कोई मंत्री अगर उसकी कार्यवाही का उत्तरदायित्व उठाने को तैयार नहीं है, तो भी वह कार्यवाही कर सकता है। सम्राट के निषेधाधिकार और गवर्नर–जनरल के निषेधाधिकार में यही अंतर है। ध्यान देने योग्य विशेष महत्व की बात यह है कि हस्तांतरित क्षेत्र के लिए ही इस निषेधाधिकार का अस्तित्व है। प्रांतों के द्वैध संविधान में हस्तांतरित क्षेत्र गवर्नर के निषेधाधिकार का विषय नहीं था। दूसरे शब्दों में, गवर्नर के कोई विशेष उत्तरदायित्व नहींथे। यदि गवर्नर-जनरल हस्तांतरित क्षेत्र में मंत्रियों के विरुद्ध व्यवस्था देता है, तो प्रश्न उठता है कि मंत्रियों के उत्तरदायित्व में क्या सार है। मुझे यह बहुत कम दिखाई पड़ता है।

दूसरी बात जो नई है, वह है सरकारी प्राधिकार और प्रशासकीय नियंत्रण के मध्य पृथक्करण। प्रांतों में द्वैध संविधान में इस प्रकार का प्रावधान नहीं था। प्रांतों के द्वैध संविधान में जब किसी विषय का हस्तांतरण होता था तो सरकारी प्राधिकार और साथ ही प्रशासकीय नियंत्रण, दोनों ही मंत्री को हस्तांतरित होते थे। आप स्वयं अपने से प्रश्न करेंगे कि मंत्रीय उत्तरदायित्व में क्या सार है, अगर एक मंत्री मात्र निर्देश जारी कर सकता है और इसके अंतर्गत कार्यवाही का नियंत्रण नही कर सकता? मुझे यह बहुत कम दिखाई पड़ता है।

प्रांतों के द्वैध शासन के संविधान में जो प्रावधान था और जिसे संघीय संविधान में हटा दिया गया है, उसका संबंध आरक्षित विषयों के लिए वित्त-प्रबंध से है। सन् 1919 के पुराने अधिनियम की धारा 72 डी और वर्तमान अधिनियम की धारा 33 और 34 की इस संबंध में

उपयोगितापूर्ण तुलना की जा सकती है। धारा 72 डी की उप–धारा (2) के अनुसार :

> वार्षिक व्यय के प्राक्कलनों और प्रांतीय राजस्व को एक विवरण के रूप में प्रत्येक वर्ष काउंसिल के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा और किसी भी वर्ष में स्थानीय शासन के प्रस्तावों को प्रांतीय राजस्व और अन्य धनराशियों के विनयोजन हेतु अनुमोदन मांगों के रूप में काउंसिल में मतदान हेतु प्रस्तुत किया जाएगा। काउंसिल चाहे तो मांग पर स्वीकृति दे सकती है अथवा स्वीकृति देने से मना कर सकती है और इसमें उल्लिखित धनराशि को मदों में कमी करके घटा सकती है, जिसके लिए अनुदान लेखे बनाए गए हैं।

वर्तमान 1935 के अधिनियम की धारा 34 से तुलना करें। धारा 34 की उप–धारा (1) के अनुसार :

> व्यय के उन प्राक्कलनों को जिनका संबंध संघ के राजस्व स्रोतों पर भारित है, विधान–मंडल में मतदान हेतु प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, लेकिन इस उप–धारा से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि धारा 33 की उप–धारा (2) के पैरा (क) अथवा पैरा (च) में उल्लिखित व्यय से संबंधित प्राक्कलनों के सिवाय इनमें से किन्हीं प्राक्कलनों पर विधान–मंडल के किसी भी सदन में चर्चा रोकी जा सकती है।

धारा 33 के अनुसार संघ के राजस्व पर भारित व्यय में आरक्षित विषयों पर होने वाले व्यय सम्मिलित हैं। दोनों अधिनियमों के प्रावधानों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराने अधिनियम में धारा 72डी के द्वारा हस्तांतरित और आरक्षित विषयों में कोई भेद नहीं किया गया था। जहां तक विधान–मंडल की प्रदाय स्वीकृति की शक्तियों का प्रश्न है, आरक्षित विषयों पर व्यय विषयक विधान–मंडल में न सिर्फ बहस हो सकती थी, वरन उस पर मतदान भी हो सकता था। नए अधिनियम की धारा 34 के अंतर्गत जो प्रावधान है, उसके अनुसार संघीय विधान–मंडल आरक्षित विषयों के व्यय पर बहस तो कर सकता है, लेकिन मतदान नहीं कर सकता है। यह एक महत्पूर्ण अंतर है। पुराने संविधान के अंतर्गत आरक्षित विषय भी विधान–मंडल की वित्तीय शक्तियों के अंतर्गत आते थे। वर्तमान संविधान के अंतर्गत वे संघीय विधान–मंडल की वित्तीय शक्तियों से स्वतंत्र हैं। यह सही है कि प्रांतीय संविधान में आरक्षित विषयों पर व्यय की मदों पर विधान–मंडल में मतदान अंतिम नहीं होता था। धारा 72डी के उपबंध के अधीन गवर्नर को प्रदत्त शक्तियों में यह प्रावधान था कि 'ऐसी किसी मांग के बारे में ऐसे कार्य करना जैसे कि उस पर सहमति प्राप्त हो गई है, किसी भी बात के होते हुए इस प्रकार की सहमति को रोकने अथवा विधान–मंडल द्वारा धनराशि में कटौती किए जाने पर भी यदि मांग आरक्षित विषयों से संबंधित है और गवर्नर यह प्रमाणित करता है कि मांग में रखा गया व्यय उस विषय से संबंधित उसके उत्तरदायित्व के निर्वाह में आवश्यक है।' यह भी सच है कि 1935 के अधिनियम में आरक्षित विषयों पर व्यय की धनराशि 42 करोड़ रुपये सुरक्षित कर दी गई थी। लेकिन पुराने संविधान में आरक्षित विषयों के बारे में वैसा ही अंतर विद्यमान रहता है जो कि तब विधान–मंडल के वित्तीय नियंत्रण के अधीन थे, जब कि नए संविधान में ऐसा नहीं है। यह अंतर कोई मामूली अंतर नहीं है। प्रदायों की स्वीकृति कार्यपालिका के उत्तरदायित्व को लागू करने

की प्रभावी विधि है। शायद प्रमाणीकरण की शक्ति ने विधान–मंडल को आरक्षित विषयों पर नियंत्रण से वंचित कर दिया था। लेकिन इसने इसके प्रभाव को पूर्णतया नष्ट नहीं किया था। वर्तमान संविधान के अंतर्गत विधान–मंडल का आरक्षित विषयों पर न तो कोई नियंत्रण है और न ही इसका उनके ऊपर कोई प्रभाव है। तब इस बात में शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि इस संघीय द्वैध शासन प्रणाली के मुकाबले पुराने प्रांतीय संविधान में द्वैध शासन प्रणाली में अधिक उत्तरदायित्व था।

यह तथ्य कि कार्यपालिका विधान–मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं है, साधारणतः यह सिद्ध करता है कि संघीय योजना में कार्यपालिका सर्वोच्च है। कार्यपालिका की सर्वोच्चता कई प्रकार से कायम रखी जा सकती है। विधान–मंडल का गठन इस प्रकार किया जाए कि विधान–मंडल सदैव कार्यपालिका के आदेशाधीन रहे।

संघीय योजना में इन दोनों साधनों को चुना गया है। प्रथम स्थान पर यह संघीय विधान–मंडल की शक्तियों को सीमित करता है। मैं पहले ही बता चुका हूं कि संघीय योजना में संघीय विधान–मंडल की वित्तीय शक्तियों को किस तरह काफी कम कर दिया गया है। संघीय विधान–मंडल को किसी भी पद पर होने वाले ऐसे व्यय को मना करने की शक्ति नहीं है, जिसे राजस्व में घोषित किया गया है।

संघीय योजना संघीय विधान–मंडल की विधायी शक्तियों को भी कम करती है। धारा 108 में इन प्रतिबंधों का उल्लेख निम्न प्रकार है :

(1) जब तक कि गवर्नर-जनरल स्वविवेक से अपनी पूर्व स्वीकृति देना उचित नहीं समझता, तब तक संघीय विधान–मंडल के किसी भी सदन में ऐसा कोई विधेयक या संशोधन पुनःस्थापित अथवा प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, जो कि-

(क) ब्रिटिश भारत पर लागू संसद के किसी अधिनियम के किसी भी उपबंध को निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा उसके प्रतिकूल है, अथवा

(ख) गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर के किसी भी अधिनियम अथवा स्वविवेक से गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर द्वारा जारी किए गए किसी अध्यादेश को निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा उसके प्रतिकूल है, अथवा

(ग) ऐसे मामलों को प्रभावित करता है, जिन्हें गवर्नर-जनरल इस अधिनियम के द्वारा अथवा अंतर्गत स्वविवेक से कार्यवाही करने के लिए बाध्य है, अथवा

(घ) ऐसे किसी अधिनियम को जो पुलिस बल से संबंधित है, निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा प्रभावित करता है, अथवा

(च) यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजनों के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाहियों की प्रक्रिया को प्रभावित करता है, अथवा

(छ) ब्रिटिश भारत के गैर-निवासियों पर ब्रिटिश भारत के निवासियों के मुकाबले अधिक कराधान करता है, अथवा ब्रिटिश भारत में ऐसी कंपनियों पर जो पूर्णतया नियंत्रित और प्रबंधित हैं, अधिक कराधान करता है, अथवा

(ज) किसी भी आय पर जिस पर कि ब्रिटेन में आय कर लग चुका है या लग सकता है, संघीय कर से छूट को प्रभावित करता है।

(2) जब तक कि गवर्नर-जनरल स्वविवेक से अपनी स्वीकृति देना उचित नहीं समझता, तब तक प्रांतीय विधान–मंडल के किसी भी सदन में कोई ऐसा विधेयक पुनःस्थापित अथवा प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, जो कि-

(क) ब्रिटिश भारत पर लागू संसद के किसी अधिनियम के किसी भी उपबंध को निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा उसके प्रतिकूल है, अथवा

(ख) गवर्नर-जनरल के किसी भी अधिनियम अथवा स्वविवेक से गवर्नर-जनरल द्वारा जारी किए गए किसी अध्यादेश को निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा उसके प्रतिकूल है, अथवा

(ग) ऐसे मामलों को प्रभावित करता है, जिन्हें गवर्नर-जनरल इस अधिनियम के द्वारा अथवा अंतर्गत स्वविवेक से कार्यवाही करने के लिए बाध्य है, अथवा

(घ) यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजनों के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाहियों की प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

और जब तक कि प्रांत का गवर्नर स्वविवेक से अपनी पूर्व स्वीकृति देना उचित नहीं समझता तब तक ऐसा कोई विधेयक या संशोधन न तो पुनःस्थापित किया जाएगा, न ही प्रस्तुत किया जाएगा, जो कि-

(क) गवर्नर के किसी अधिनियम अथवा गवर्नर द्वारा स्वविवेक से जारी किए गए किसी अध्यादेश को निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा उसके प्रतिकूल है, अथवा

(ख) किसी अधिनियम को जिसका संबंध किसी पुलिस बल से है, निरस्त करता है, संशोधित करता है, अथवा प्रभावित करता है।

(3) इस धारा, के अंतर्गत कोई चीज इस अधिनियम के किसी भी ऐसे प्रावधान की कार्यवाही को प्रभावित नहीं करती, जिसमें किसी विधेयक के पुनः स्थापना अथवा संशोधन प्रस्तुत करने के लिए गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व स्वीकृति आवश्यक होती है।

कार्यपालिका की सर्वोच्चता कायम रखने के लिए संघीय योजना मात्र संघीय विधान–मंडल की शक्तियों को कम करने तक नहीं रुकती। इसके अंतर्गत संघीय विधान–मंडल का गठन इस प्रकार किया जाता है कि विधानमंडल सदैव कार्यपालिका के आदेशाधीन रहेगा। इस संबंध में संघीय विधानमंडल के गठन की वास्तविकता क्या है, इसे ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि विधान–मंडल के 375 सदस्य हैं, इनमें से 125 देशी राज्यों के और 250 ब्रिटिश भारत के हैं। राज्य परिषद में योग 260 है और उसमें 104 राज्यों को और 156 ब्रिटिश भारत को आबंटित हैं। राज्यों

को जो सीटें मिली हुई है, वे राजाओं द्वारा नामनिर्देशन से भरी जाएंगी। जो सीटें ब्रिटिश भारत के लिए नियत हैं, वे चुनाव द्वारा भरी जानी हैं। इसलिए संघीय विधान–मंडल एक विजातीय विधान–मंडल है, जिसका गठन आंशिक रूप से चुनाव द्वारा और आंशिक रूप से नामनिर्देशन द्वारा किया जाता है।

पहला विचारणीय प्रश्न यह है कि राजाओं के प्रतिनिधि संघीय विधान–मंडल में किस प्रकार का व्यवहार करेंगे। क्या वे संघीय कार्यपालिका से स्वतंत्र होंगे अथवा इसके अधीनस्थ होंगे, इसके बारे में भविष्यवाणी करना कठिन है। लेकिन कुछ विशेष प्रभावों को जो नामांकन के दौरान अपनी भूमिका अदा करते हैं, ध्यान में रखना होगा। यह एक अविवादास्पद तथ्य है कि ब्रिटिश सरकार दावा करती है कि राज्यों के ऊपर उसकी प्रभुसत्ता का अधिकार है। प्रभुसत्ता एक बहु-प्रयोजनीय शब्द है, जो इन अधिकारों का बोध कराता है, जिनका प्रयोग सम्राट भारत सरकार के राजनीतिक विभाग द्वारा राज्यों के ऊपर कर सकता है। राजनीतिक विभाग इन अधिकारों में से जिस अधिकार के प्रयोग का दावा करता है, वह है भारतीय राजाओं को विशेष नियुक्तियों के संबंध में परामर्श देना। यह सुविदित है कि जिसे परामर्श कहते हैं, वह कूटनीतिक शब्दावली में आदेश है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजनीतिक विभाग राजाओं द्वारा इन रिक्तियों को भरने के लिए सलाह देने के अधिकार का दावा करेगा। अगर ऐसा हो जाए तो इसके परिणाम क्या होंगे? इसका नतीजा यह होगा कि राजाओं के प्रतिनिधिगण दूसरे अर्थ में एक ऐसे सरकारी समूह का रूप धारण करेंगे, जिसकी निष्ठा न जनता के प्रति, न राजाओं के प्रति, वरन् भारत सरकार के राजनीतिक विभाग के प्रति होगी। आगे दो बातों पर और ध्यान देना चाहिए। प्रथम यह कि प्रभुसत्ता संघीय सरकार से परे है। इसका अर्थ है कि मंत्रियों को राज्यों के प्रतिनिधियों के नामनिर्देशन के विषय में सलाह देने का अधिकार नहीं होगा और विधान–मंडल इसकी आलोचना नहीं करेगा। गवर्नर-जनरल से थोड़ा भिन्न वे वायसराय के नियंत्रण के अंतर्गत होंगे। दूसरे, राजाओं का यह अधिकारिक समूह कोई छोटा समूह नहीं। निचले सदन में जो दल 187 सीटें रखता है, वह बहुमत का दावा कर सकता है। उच्च सदन में एक दल जिसके पास 130 सीटें हैं, बहुमत का दावा कर सकता है। निचले सदन में राजाओं को 125 सीटें मिली हुई हैं। उन्हें बहुमत जताने के लिए 62 सदस्यों का एक दल चाहिए। उच्च सदन में उनके 104 सदस्य हैं, उन्हें 26 की आवश्यकता है। कार्यपालिका के पास इतनी भारी शक्ति होती है। तब ऐसी विधायिका कैसे स्वतंत्र होगी? अपने पास इतनी शक्ति रखते हुए सुरक्षित अर्द्धभाग हस्तांतरित अर्द्धभाग पर नियंत्रण कर सकता है।

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का व्यवहार कैसा होगा? मैं कोई सकारात्मक विवरण पेश नहीं कर सकता। लेकिन मैं इसे ध्यान में रखना ठीक समझता हूं कि कुछ राज्यों में नियमित बजट नामक कोई चीज नहीं है और न वहां स्वतंत्र लेखा-परीक्षा का प्रावधान है। राजाओं को ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का समर्थन खरीदने में कोई कठिनाई नहीं होगी। राजनीति एक गंदा खेल है और ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञों के बारे में कहना

कठिन होगा कि वे भ्रष्टाचार से मुक्त है और जबकि गुप्त रूप से खरीदारी की जा सकती है तो यह खतरा वास्तविक है।

संघीय योजना को जिस प्रकार भी देखना चाहें, देखें और उत्तरदायित्व विषयक प्रावधानों का जैसा भी चाहें विश्लेषण करें, लेकिन आप पाएंगे कि वास्तविक उत्तरदायित्व जैसा कुछ नहीं है।

7
संघीय योजना के दोष

ऐसा कोई नहीं है, जो यह स्वीकार न करे कि यह योजना एक अखिल भारतीय संघ के लिए दोषपूर्ण है। मतांतर तभी होता है, जब यह प्रश्न पूछा जाए कि हम इसके बारे में क्या करें। समय-समय पर प्रमुख भारतवासियों ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि मोटे तौर पर इस संघ के विषय में दो काफी भिन्न रवैए हैं। एक उनका रुख है जो यह सोचते है कि यह बुरा तो है ही, हमें इस संघ को स्वीकार कर लेना चाहिए और इसकी जो अच्छाइयां हैं, उन्हें काम करके हासिल कर लेना चाहिए। दूसरी ओर, कुछ ऐसे रुख वाले भी हैं, जो सोचते हैं कि इससे पूर्व कि संघ के संविधान को स्वीकृत करके काम शुरू किया जाए, इसमें खास परिवर्तन होने चाहिएं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि कांग्रेस और साथ ही नरम दल, दोनों ही इस प्रश्न पर एक हैं। दोनों ने यह घोषित कर दिया है कि इससे पूर्व कि वे इस संघ को कार्य करने के लिए स्वीकृत करें, इसमें कुछ विशेष परिवर्तन होने चाहिएं।

यह संघ भारत के अधिकांश लोगों को स्वीकार नहीं है, यह प्रश्न से परे है। प्रश्न यह है कि किस तरह हम संविधान में संशोधन करना चाहेंगे? हमें किन परिवर्तनों की मांग करनी है? इस प्रश्न के विषय में कांग्रेस और नरम दल ने जो प्रस्ताव पारित किए हैं, वहीं से हमें शुरुआत करनी है।

कांग्रेस ने 1938 में हरिपुरा में आयोजित अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया, जो इस प्रकार है :

> कांग्रेस ने नवीन संविधान को रद्द कर दिया है और यह घोषणा की है कि भारत का संविधान, जिसे लोग स्वीकार कर सकते हैं, स्वतंत्रता पर आधारित होना चाहिए और यह संविधान सभा द्वारा लोग स्वयं ही तैयार कर सकते हैं, जिसमें कोई विदेशी प्राधिकरण हस्तक्षेप नहीं करेगा। कांग्रेस ने संविधान को रद्द करने की इस नीति का अनुसरण करते हुए भी प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन की अनुमति दे दी है, जिसका उद्देश्य यह है कि देश में स्वतंत्रता संग्राम को सशक्त बनाया जाए। प्रस्तावित संघ के संबंध में इस प्रकार के विचार अस्थायी रूप से अथवा सीमित समय के लिए लागू नहीं होते तथा इस संघ के आरोपण से भारत को भारी क्षति पहुंचेगी और ये बंधन अधिक कड़े हो जाएंगे, जो साम्राज्यवादी शासन के अधीन देश को जकड़े हुए हैं। संघ की यह

योजना सरकार के उत्तरदायी महत्वपूर्ण कार्यों के क्षेत्र से अलग है।
कांग्रेस संघ के विचार के विरुद्ध नहीं है, परंतु वास्तविक संघ ऐसा होना चाहिए जिसमें दायित्व के प्रश्न से भी अलग ऐसी स्वतंत्र इकाइयों का समावेश हो, जो न्यूनाधिक मात्रा में समान रूप से स्वाधीनता तथा नागरिक स्वतंत्रता और चुनाव की लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा प्रतिनिधित्व का लाभ उठा सकें। संघ में सहभागी होने वाले देशी राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं तथा जिम्मेदार सरकार की स्थापना, नागरिक स्वतंत्रता और संघीय सदनों के चुनाव के तरीके प्रांतों के अनुरूप होने चाहिएं। अन्यथा संघ, जैसा कि आज विचार किया गया है, भारत की एकता के निर्माण की बजाए अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देगा तथा राज्यों में आंतरिक और बाह्य संघर्ष होने लगेंगे।

इसलिए कांग्रेस प्रस्तावित संघीय योजना की भर्त्सना की पुनः पुष्टि करती है तथा प्रांतीय और स्थानीय कांग्रेस समितियों और सामान्य रूप से लोगों एवं प्रांतीय सरकारों और मंत्रिमंडलों से अनुरोध करती है कि इस योजना को शुरु न करें। यदि लोगों की स्पष्ट इच्छा के बावजूद इस योजना को लागू किया जाता है तो इसका हर प्रकार से विरोध किया जाना चाहिए और प्रांतीय सरकारों को इसमें सहयोग करने से इंकार कर देना चाहिए। यदि इस प्रकार की कोई भी आकस्मिकता उत्पन्न हो जाए, तो अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को यह अधिकार है कि वह इस संबंध में अपनाई जाने वाली कार्य की दिशा का निर्धारण करे।

बंबई में आयोजित अपने गत अधिवेशन के समय राष्ट्रीय उदारवादी संघ द्वारा पारित प्रस्ताव इस प्रकार हैः

राष्ट्रीय उदारवादी संघ अपना मत पुनः दोहराता है कि संविधान, विशेष रूप से भारत सरकार अधिनियम, 1935 में दिए गए केन्द्र के संबंध में नितांत असंतोषजनक है और अनेक दृष्टिकोणों से प्रगतिशील नहीं है। राष्ट्रीय उदारवादी संघ यह मानता है कि केवल संघीय प्रकार की सरकार ही हमारे देश के लिए नैसर्गिक सरकार है, जबकि संघ का विचार है कि संघ के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता होती है, जैसा कि अधिनियम में दिया गया है, विशेष रूप से इनके संबंध में : (क) राजाओं की स्थिति को स्पष्ट करना तथा राज्यों की जनता को राज्यों के प्रतिनिधियों के चुनाव के अधिकार को दिलाना, (ख) आर्थिक नीति और वाणिज्यिक विभेद संबंधी सुरक्षोपायों को समाप्त करना, (ग) प्रांतों द्वारा संघीय सभा के सदस्यों के लिए सीधी चुनाव पद्धति को लागू करना, और (घ) संविधान को पर्याप्त रूप से लचीला बनाना, ताकि भारत को उचित समयावधि में औपनिवेशक राज्य का दर्जा प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय उदारवादी संघ का विचार है कि वर्तमान स्थिति ऐसी है कि केन्द्र में गैर-जिम्मेदार सरकार है और उसके साथ प्रांतों में जिम्मेदार सरकारें हैं। इस स्थिति का समर्थन नहीं किया जा सकता और संसद से अनुरोध किया जाता है कि वह

संविधान में संघ से संबंधित भाग में तत्काल परिवर्तन करे, ताकि उसे सामान्य रूप से स्वीकार्य किया जा सके।

संघ का यह भी मत है कि ये संशोधन संविधान के सफल कार्यकरण के लिए परमावश्यक है।

क्या कांग्रेस अथवा उदारवादी संघ द्वारा जिन परिवर्तनों की मांग की गई है, वे संघ की रद्द करने की वर्तमान प्रवृत्ति को संघ की स्वीकृति में बदलने के लिए पर्याप्त होंगे? जहां तक मेरा विचार है, मुझे यह बताने में कोई झिझक नहीं है कि इन प्रस्तावों में जिन परिवर्तनों की मांग की गई है, यदि उन्हें स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी मेरे विचार में अंतर नहीं आएगा। मेरे विचार से क्या ब्रिटिश संसद संघीय योजना के किसी भी विवरण को शीघ्र ही बदलने के लिए तैयार है-यह एक अत्यंत महत्वहीन विचार है। मैं इस मामले में ऐसा विचार रखता हूं कि संघीय योजना के प्रति की गई आपत्तियां किंचित भी न हटाई जाएंगी, भले ही ब्रिटिश संसद इन प्रस्तावों में पारित की गई मांगों में से प्रत्येक मांग को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाए। मेरे विचार में मूल प्रश्न यह है कि क्या इस संघीय योजना में इतनी क्षमता है कि इस बात का सूत्रपात हो सके कि भारत अंत में अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेगा और इसी दृष्टि से मैं संघीय योजना में रुचि रखने वाले सभी लोगों की संघीय योजना की जांच के लिए आह्वान करता हूं।

भारत के राजनीतिक विकास का लक्ष्य क्या है? यह स्थायी और स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। भारत के लोगों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने का दावा करने वाली कांग्रेस का लक्ष्य अच्छी सरकार के गठन से था। फिर इसने अच्छी सरकार की बजाए स्वशासन अथवा उत्तरदायी सरकार और फिर उत्तरदायी सरकार के स्थान पर देशको औपनिवेशिक राज्य का दर्जा दिए जाने तथा अंततः स्वतंत्रता की मांग की। ऐसी स्थिति में कांग्रेस आत्म-निरीक्षण करने के लिए कुछ समय के लिए रुकी। इसके बाद डांवाडोल की स्थिति रही। अब यह फिर से औपनिवेशिक राज्य की मांग कर रही है और यह हमारी भूल नहीं होगी यदि कांग्रेस के अनुसार हम इस मांग को भारत के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करें। अब प्रश्न यह है कि क्या संघीय योजना निश्चित समय में औपनिवेशिक राज्य के रूप में स्फुटित हो सकती है?

अनेक भारतीयों का यह विचार है कि औपनिवेशिक राज्य का प्रश्न एक ऐसा उपहार है, जो ब्रिटिश संसद के हाथों में है। यदि ब्रिटिश संसद इसे स्वीकृत करने का इरादा कर ले तो इसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगा।

भारतीयों की यह धारणा है कि यदि भारत को औपनिवेशक राज्य का दर्जा प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है तो इसका कारण यह है कि ब्रिटिश संसद ने इसे देने से इंकार कर दिया है। उन्होंने अपनी धारणा के समर्थन में यह संदर्भ दिया है कि ब्रिटिश संसद ने भारत के लक्ष्य के रूप में औपनिवेशिक राज्य घोषित करने के लिए 1935 के अधिनियम में एक प्रस्तावना जोड़ने से इंकार कर दिया है।

यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की प्रस्तावना की मांग सर्वथा उचित थी। 1929 में ब्रिटिश संसद के सभी राजनीतिक दलों की सहमति से लॉर्ड इर्विन ने यह घोषणा की थी कि भारत के राजनीतिक विकास का लक्ष्य औपनिवेशिक राज्य स्थापित करना है। इसलिए भारतीय कोई नई मांग प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। इसके बारे में गवर्नर-जनरल और वायसराय आधिकारिक रूप से अपने विचार व्यक्त कर चुके हैं, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उक्त प्रस्तावना को स्थान देने से इंकार कर दिया। इंकार करना ब्रिटिश सरकार का एक विचित्र व्यवहार था, परंतु इंकार करने के समर्थन में जो दलीलें दी गई हैं, वे और भी आश्चर्यजनक हैं। ब्रिटिश सरकार ने प्रस्तावना के सम्मिलित न किए जाने के अपने व्यवहार को न्यायसंगत ठहराने के लिए विवधि प्रकार की शर्तें और दलीलें प्रस्तुत कीं।

पहला आधार यह था कि यह प्रस्तावना निरर्थक थी और इसकी कोई भी प्रचलन शक्ति नहीं थी। परंतु इस प्रकार की दलील का सरलता से निराकरण किया जा सकता था। संसद के सभी अधिनियमों में प्रस्तावनाएं हैं, जिनमें संसद के उद्देश्य और इरादे को अभिव्यक्त किया गया है। यह कहना सत्य है कि इसमें कोई वैधिक प्रभाव नहीं होता है, परंतु इसके साथ ही अदालतों में यह निर्णय नहीं दिया गया कि प्रस्तावना निरर्थक है। दूसरी ओर, जहां कहीं भी किसी धारा को व्यक्त करने में कोई संदेह होता है, अदालतें सदैव प्रस्तावना का सहारा लेती हैं, ताकि अधिनियम के उद्देश्य को समझा जाए और किसी भी संदेहास्पद वाक्य-रचना के समाधान के लिए इसका उपयोग किया जाए। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने दूसरा मापदंड अपनाया और 1919 के अधिनियम को निरस्त कर दिया, परंतु उस अधिनियम की प्रस्तावना को बनाए रखा। यह बात अत्यंत अजीब है। सर्वप्रथम यदि प्रस्तावना व्यर्थ है, तो 1919 के अधिनियम के एक भाग के रूप में अधिनियमित प्रस्तावना को सुरक्षित रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे, यदि 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना आवश्यक थी तो इसे 1935 के अधिनियम के एक भाग के रूप में नए तरीके से अधिनियमित कर देना चाहिए था, जिसे ब्रिटिश सरकार नहीं करेगी। इसकी बजाए उसने इस बात को वरीयता दी कि सिर को धड़ से अलग करके विचित्र दृश्य प्रसतुत किया जाए। अब इसका सिर 1919 के निरस्त अधिनियम और धड़ 1935 के वर्तमान अधिनियम के रूप में है। तीसरे, भारतीय लोग एक ऐसी प्रस्तावना चाहते थे, जिससे औपनिवेशक राज्य परिलक्षित हो, जैसा कि लॉर्ड इर्विन के घोषणा-पत्र में इसका उल्लेख किया गया है। 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना सिर्फ उत्तरदायी सरकार की बात कहती है। इसमें औपनिवेशिक राज्य की कोई बात नहीं कही गई है और 1919 के अधिनियम में प्रस्तावना को बनाए रखने का अर्थ यह था कि जहां तक संभव हो, इस मूर्खतापूर्ण कार्य के बारे में कम से कम कहा जाए।

ब्रिटिश संसद ने लक्ष्य के रूप में औपनिवेशिक राज्य को परिभाषित करने वाली प्रस्तावना को अधिनियमित करने से क्यों इंकार कर दिया? ब्रिटिश संसद मांग को स्वीकृति प्रदान करने की बजाए इधर-उधर क्यों देखती रही? इस संबंध में आमतौर पर यही स्पष्टीकरण

दिया जाता है कि यह एलबियोन (इंग्लैंड) का विश्वासघात है। मेरा अपना विचार इससे नितांत भिन्न है। ब्रिटिश संसद ने प्रस्तावना के अधिनियम द्वारा औपनिवेशक राज्य का वचन इसलिए नहीं दिया क्योंकि उसने यह अनुभव किया कि इस वचन का पालन कर पाना उसकी शक्ति से परे है। ब्रिटिश संसद में ईमानदारी का अभाव नहीं था। वास्तव में यह उसकी ईमानदारी थी, जिसके कारण ऐसी प्रस्तावना को अधिनियम करने से उसने इंकार कर दिया, क्योंकि उसे यह पता था कि वह इस प्रकार की प्रस्तावना को लागू नहीं कर सकेगी। उसमें साहस का अभाव था कि भारतीयों को यह बता सके कि संघीय योजना में औपनिवेशिक राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

संघीय योजना के अंतर्गत औपनिवेशिक राज्य क्यों संभव नहीं है? यह इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि उत्तरदायी सरकार प्राप्त करना संभव नहीं है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस प्रकार का औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त करने के लिए भारत को सर्वप्रथम उत्तरदायी सरकार प्राप्त करनी होगी। एक उत्तरदायी सरकार प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आरक्षित विषयों को हस्तांतरित वर्ग में कर दिया जाए। यह औपनिवेशिक राज्य के विकास की प्रक्रिया की प्रामि अवस्था है।

आपमें से कुछ इन कारणों को जानना चाहेंगे कि मैं यह क्यों कहता हूं कि आरक्षित विषय हस्तांतरित विषय नहीं बन सकते। उन्हें अवश्य याद होगा कि प्रांतीय योजना में वे आरक्षित विषय थे, जैसा कि वे संघीय योजना में हैं और वे यह जानना चाहेंगे कि यदि आरक्षित विशय 20 वर्ष के अंतराल में हस्तांतरित विषय हो गए हैं, तो ऐसी क्या कठिनाई हो सकती है कि इस प्रकार की बातें संघीय पद्धति में न हों। चूंकि यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, अतः मैं इस संबंध में अपने तर्क देता हूं। सर्वप्रथम, प्रांतों का सादृश्य (समानता) सही नहीं है। इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि यह समानता ठीक क्यों नहीं है? यह इसलिए ठीक नहीं है कि प्रांतीय योजना में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के बीच भेद प्रशासकीय क्षमता की आवश्यकताओं पर आधारित था। आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के मध्य भेद संघीय योजना में विधिसम्मत आवश्यकता पर आधारित होता है, प्रशासकीय क्षमता पर आधारित नहीं होता तथा इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। साइमन कमीशन ने केन्द्र में द्वैध शासन की सिफारिश क्यों नहीं की, उसका एक कारण यह है, क्योंकि उसने महसूस किया कि सभी विभागों की दक्षता को प्रभावित किए बिना प्रशासकीय दृष्टि से दो विभागों में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों का विभाजन करना संभव नहीं था, और भारत सरकार के साइमन कमीशन के संबंध में व्यक्तव्य पर इस विचार की पूर्णतया सहमति हुई। इसलिए यह विभाजन अपने आधार पर प्रशासकीय नहीं है। यह विधिसम्मत आवश्यकता का परिणाम है। यह आधारभूत भेद है और इसके संबंध में कभी भी अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिए।

यह विधिसम्मत आवश्यकता किस प्रकार उत्पन्न होती है? मेरा कहना है कतिपय विषयों को आरक्षित करने की विधिसम्मत आवश्यकता देशी राज्यों के कारण उत्पन्न होती

है। मैं यह भी कहता हूं कि कतिपय विषयों को आरक्षित मानने के लिए आवश्यकता नहीं होगी, यदि संघीय शासन ब्रिटिश भारत के प्रांतों तक ही सीमित कर दिया जाए। विषयों का आरक्षण संघीय शासन में देशी राज्यों के प्रवेश का प्रत्यख परिणाम है।

देशी राज्यों की स्थिति में यह क्या है कि कतिपय विषयों को आरक्षित विषय मानना आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व मैं आपका ध्यान भारत सरकार अधिनियम की धारा 180 की ओर आकर्षित करना चाहूंगा। धारा 180 में बताया गया है :

> भारत मंत्री द्वारा अथवा उनकी ओर से इस अधिनियम के भाग-3 के लागू होने से पूर्व सम्राट के देशी राज्यों के साथ संबंधों के कार्यों का संपन्न करने के बारे में कोई भी अनुबंध अधिनियम के भाग-3 के लागू होने से प्रभावी माना जाएगा, मानों वह संविदा महामहिम सम्राट की ओर से किया गया है तथा तदनुसार भारत मंत्री-इन-काउंसिल को इस अनुबंध के दिए गए संदर्भों का अर्थ लगाया जाएगा।

यह धारा उस विचार को वैधानिक रूप देती है, जिसे राजाओं ने बटलर समिति के समक्ष प्रस्तुत किया था और समिति ने स्वीकार कर लिया था कि देशी राज्यों की संधि इंग्लैंड के सम्राट के साथ है, न कि भारत सरकार के साथ।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस सिद्धांत से क्या निष्कर्ष निकलता है। अब इस सिद्धांत से जो कुछ भी निष्कर्ष निकलता है, वह अत्यंत जटिल है, परन्तु दुर्भाग्यवश उचित सावधानी और ध्यान के बिना इसे आगे बढ़ जाने दिया गया है। राजाओं ने निश्चयपूर्वक कहा है कि चूंकि देशी राज्यों की संधि इंग्लैंड के सम्राट के साथ है, अतः संधियों के अंतर्गत आने वाले दायित्वों को पूरा करने का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व इंग्लैंड के सम्राट के ही हाथ में है, अतः ऐसी स्थिति में इंग्लैंड के सम्राट को इन दायित्वों को निभाने के लिए सर्वदा तैयार रहना चाहिए।

वह दायित्व क्या हैं, जो राजाओं के साथ के संधियों के कारण इंग्लैंड के सम्राट पर आते हैं? इंग्लैंड के सम्राट पर आए दायित्व के नियम और संधियों के अनुकूल इंग्लैंड के सम्राट द्वारा यह दायित्व स्वीकार किया गया है कि राजाओं को आंतरिक विद्रोह तथा बाह्य आक्रमण से बचाया जाए।

सम्राट इस दायित्व को किस प्रकार पूरा कर सकता है? यह तर्क दिया जाता है कि सम्राट के लिए इस दायित्व को निभाने का एक ही उपाय है कि ब्राह्य मामलों तथा सेना को सम्राट द्वारा ही विशेष नियंत्रण में रखा जाए।

अब आप समझ सकते हैं कि मैं यह क्यों कहता हूं कि आरक्षित विषयों की आवश्यकता वैधिक आवश्यकता के कारण है। यह वैधिक आवश्यकता सम्राट के संधि संबंधी दायित्वों के कारण पैदा होती है और जब तक संधि के अनुसार संबंधों का आधार बना रहता है, जैसा कि धारा 180 में कहा गया है, तब तक आरक्षित विषय हस्तांतरित नहीं हो सकते। चूंकि आरक्षित विषय हस्तांतरित विषय नहीं हो सकते, अतः उत्तरदायी सरकार के लिए कोई स्थान नहीं है और औपनिवेशिक राज्य की तो और भी कम संभावना है।

मैंने अंतिम लक्ष्य की दृष्टि से संविधान का विश्लेषण किया है और उससे मेरा विश्वास है कि किसी को भी यह कहने में हिचक नहीं होगी कि यह संविधान एक स्थिर और कठोर संविधान है। इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, अतः इसका विकास नहीं हो सकता। यह ऐसा संविधान है, जिसकी जड़ पर ही कुठाराघात किया गया है और यह भारत के लोगों के लिए ही विचार करने योग्य है कि क्या वे इसे स्वीकार करेंगे।

अपने लक्ष्य की दृष्टि से मैंने इतने लंबे समय तक संविधान की जांच की है और मैं यह महसूस करता हूं कि इससे आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए आपसे क्षमायाचना करूं। इस प्रश्न पर कुछ लोगों के दृष्टिकोण के कारण ही मैंने इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन करने का प्रयास किया है ओर इस संबंध में मैं यही सफाई दे सकता हूं। मैं यह महसूस करता हूं कि कोई भी संविधान पूर्ण नहीं हो सकता। अपूर्णताएं रह जाती हैं। परंतु मैं सोचता हूं कि अपूर्णताओं और आंतरिक तथा सहज कमियों के बीच अंतर स्पष्ट कर लेना चाहिए। अपूर्णताओं को दूर किया जा सकता है। परंतु सहज कमियों को पूरा नहीं किया जा सकता। कांग्रेस अथवा उदारवादी संघ के प्रस्तावों में की गई मांगें यदि मान भी ली जाएं, तो वे अपूर्णताओं को दूर कर लेंगी। परंतु क्या वे कमियों को दूर करेंगी? मैं अपूर्णताओं की ओर ध्यान नहीं दूंगा, यदि मुझे आश्वस्त कर दिया जाए कि कोई कमियां नहीं हैं। इस संविधान की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह औपनिवेशिक राज्य की ओर अग्रसर नहीं होगा। कांग्रेस अथवा उदारवादी संघ में से कोई भी इस तथ्य से अवगत नहीं है कि यह कमी विद्यमान है। उनकी मांगों का भारत के राजनीतिक विकास के लक्ष्य से कोई संबंध नहीं है। वे उसका उल्लेख भी नहीं करते। यह आश्चर्यजनक बात है कि कांग्रेस के सदस्य राजनीतिक सत्ता हथियाने की संभावनाओं पर इतने मोहित हो गए हैं कि ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उनकी मांगों में इस दिशा में ब्रिटिश सरकार की घोषणा का कोई उल्लेख नहीं है। परंतु यदि कांग्रेस भूल भी जाती है तो भारत के लोग नहीं भूल सकते और उन्हें भूलना भी नहीं चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो यह घातक सिद्ध होगा। यह स्थिति किसी व्यक्ति विशेष के लिए उतनी ही घातक हो सकती है, जितनी कि लोगों के लिए यह भूल जाने पर होगी कि मार्ग का पड़ाव घर नहीं होता तथा बिना यह जाने हुए कि क्या वह मार्ग घर को जाता है अथवा नहीं, किसी भी मार्ग का अनुसरण करना अपने आपको गलत रास्ते पर ले जाना और गर्त में गिराना है।

आप मुझे गलत न समझें। मैं उतावला आदर्शवादी नहीं हूं। मैं अनुक्रमवाद में विश्वास करने वाले उस व्यक्ति की भर्त्सना नहीं करता, जो प्रतीक्षा करने तथा चीजों को किस्तों में लेने के लिए तैयार है, यद्यपि यह ऐसा व्यक्ति होता है जो एक रुपये के वैध दावे का अधिकारी है, परन्तु केवल एक आना मांगता है और उस समय अपनी विजय घोषित करता है, जब उसे एक पाई मिल जाती है। ऐसे व्यक्ति को दया का पात्र ही मानना चाहिए। मैं जो कुछ भी चाहता हूं, वह यह है कि यदि परिस्थितियां अनुक्रमवादी बनने के लिए बाध्य करें तो हमें यथार्थवादी बनने से नहीं चूकना चाहिए। किसी भी एक किस्त के स्वीकार करने से पूर्व, हमें सावधानीपूर्वक इसकी जांच कर लेनी चाहिए और अपने को इस बात

से संतुष्ट कर लेना चाहिए कि वह पूरे दावे की प्राप्ति का द्योतक है, अन्यथा जैसा प्रायः घटित होता है कि जो एक क्षण के लिए अति श्रेष्ठ है, वह दूसरे ही क्षण बेहतर स्थिति के लिए शत्रु बन जाता है।

आपमें से कुछ पूछना चाहेंगे कि भारत किस प्रकार औपनिवेशक राज्य बन सकता है। मेरा उत्तर यह है कि भारत तभी औपनिवेशिक राज्य बन सकता है, जब संघ में सम्मिलित राजा इसको स्वीकार करने की अनुमति दें। यदि राजा लोग भारत के औपनिवेशिक राज्य बनने में आपत्ति करते हैं तो भारत को औपनिवेशिक राज्य का दर्जा प्राप्त नहीं हो सकता। संघ भारत के राजनीतिक विकास की डोर राजाओं के हाथों में थमाए हुए हैं। भारत का भाग्य राजाओं के द्वारा नियंत्रित किया जाएगा।

भविष्य के इस विचार को आप में से अधिकांश लोग अधिक अनोखा महसूस करेंगे। हम सभी संसद की सार्वभौमिकता के संबंध में डायसी के विचार से संतृप्त हैं। हम सभी ने उनसे सीखा है कि संसद सर्वोच्च है, यहां तक कि वह इतनी सर्वोच्च मानी जाती है कि वह पुरुष को महिला और महिला को पुरुष बनाने के सिवाय सब कुछ कर सकती है। यह अस्वाभाविक नहीं होगा कि आप में से कुछ यह पूछें कि राजा लोग इस मार्ग में किस प्रकार से अवरोध पैदा कर सकते हैं, जबकि ब्रिटिश संसद सर्वोच्च है। आप इस प्रस्थापना को स्वीकार करने के लिए कुछ प्रयत्न करेंगे कि ब्रिटिश संसद को भारतीय संघ के संबंध में कोई सर्वोच्चता प्राप्त नहीं है। संघीय संविधान के परिवर्तन के संबंध में उसका प्राधिकार अब भारत सरकार अधिनियम में बहुत ही सीमित है।

भारतीय राजनीतिज्ञों ने अपने दुख और आक्रोश की भावना को उस तथ्य से अभिव्यक्त किया है कि भारतीय विधायकों को अधिनियम द्वारा कोई भी निर्वाचनकारी शक्ति नहीं दी गई है।

भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत संघीय विधान–मंडल अथवा प्रांतीय विधान–मंडल में से किसी के पास भी संविधान में परिवर्तन अथवा संशोधन करने की शक्तियां नहीं है। इस अधिनियम की धारा 308 के अनुसार केवल संघीय विधान–मंडल और प्रांतीय विधान–मंडल को यह अनुमति दी गई है कि वे संविधान में किसी भी परिवर्तन की सिफारिश करने हेतु कोई प्रस्ताव पारित कर सकते हैं और भारत मंत्री को इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि वह उस प्रस्ताव को संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत करे। यह बात अमरीका, आस्ट्रेलिया, जर्मन फेडरेशन और स्विट्जरलैंड के संविधान में वर्णित उपबंधों के विपरीत है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि भारत में विधान–मंडलों को कतिपय परिभाषित सीमाओं में इस प्रकार की संविधान निर्वाचनकारी शक्तियां नही दी जाएं, जबकि वे सभी वर्गों और सभी हितों के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। चाहे जो कुछ भी हो, तथ्य यह है कि भारतीय विधान–मंडल संविधान में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकते और आरक्षित विषयों को स्थानांतरित विषयों में नहीं बदल सकते। यदि संविधान में परिवर्तन किया जाना है तो इसका प्राधिकार केवल ब्रिटिश संसद के पास ही है। परंतु कुछ ही लोग इस तथ्य से अवगत हैं कि संसद भी संघीय संविधान में परिवर्तन करने की कोई शक्ति नहीं रखती। यह सत्य है और जितनी जल्दी हम इसका अनुभव कर सकें, उतना ही अच्छा है।

इस दृष्टि से अनुसूची-2 का महत्व आवश्यकता से अधिक नहीं समझा जा सकता। मुझे खेद है कि इसने इतना अधिक ध्यान आकर्षित नहीं किया, जितना कि इसे करना चाहिए था। अनुसूची-2 न केवल एक चार्टर है, अपितु एक चार्ट भी है, जिसके साथ संविधन गतिशील हो सकता है। इस पूरी अनुसूची का सावधानी से अध्ययन करना आवश्यक है। अनुसूची-2 में क्या कहा गया है? अनुसूची-2 में बताया गया है कि भारत सरकार अधिनियम के कतिपय उपबंधों को संसद द्वारा संशोधित किया जा सकता है और अधिनियम के कुछ अन्य निश्चित उपबंधों को संसद द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता। यह कहने का एक अन्य सरल तरीका है कि संसद सर्वोच्च नहीं है और संविधान में परिवर्तन करने का उसका अधिकार सीमित है।

उस समय क्या होगा यदि संसद उस अधिनियम के उपबंधों को संशोधित करे, जिसके संबंध में अनुसूची-2 में कहा गया है कि उन उपबंधों को संसद द्वारा संशोधित नहीं किया जाएगा? इस संबंध में उत्तर की दृष्टि से अनुसूची-2 में कहा गया है कि इस प्रकार का अधिनियम संघ में देशी राज्यों के विलय को प्रभावित करेगा, जिसका अर्थ होगा कि विलय-पत्र के संयोजनकारी स्वरूप को नष्ट करना। अर्थात् यदि संसद द्वारा इस अधिनियम के किसी भी उपबंध में संशोधन किया जाता है, जिसके बारे में अनुसूची-2 में बताया गया है कि ऐसे उपबंध में संशोधन नहीं किया जाएगा, तो राजाओं को संघ से अलग होने का अधिकार प्रापत हो जाएगा। मैं इस तथ्य से अवगत हूं कि कुछ प्रख्यात अधिवक्ताओं ने अलग विचार प्रस्तुत किया है। उनकी धारणा है कि यदि एक बार राजा लोग संघ में शामिल हो जाते हैं तो वे इससे बाहर नहीं जा सकते। मैं अपने मत को पहले ही अभिव्यक्त कर चुका हूं और उसे आप जितना योग्य समझें इतनी मान्यता दें, पर मैं यह कहना चाहूंगा कि मेरा मत नितांत आधारहीन नहीं है।

चाहे कुछ भी क्यों न हो हाउस ऑफ कॉमन्स में भारत सरकार के बिल पर बहस के दौरान महान्यायवादी और भारत मंत्री ने इसी प्रकार की व्याख्या की है, जैसा कि मैं अभिव्यक्त कर रहा हूं।

महान्यायवादी ने कहा था :

> देशी राज्य ऐसे संघीय ढांचे में सम्मिलित होने के लिए सहमत नहीं होंगे, जो सीमाओं में निश्चित और असंदिग्ध है तथा स्पष्टतया हम बाद में इस ढांचे को पूर्णतया बदल नहीं सकते। इस वाक्य खंड का उद्देश्य यह है कि उन मामलों को प्रस्तुत करना चाहिए, जो आधारभूत अथवा विलय-पत्र से टकराए बिना परिवर्तित किए जा सकते हैं। ...यदि इस संरचना को आधारभूत ढंग से परिवर्तित किया गया तो अलगत्ता देशी राज्यों को यह स्पष्ट रूप से कहने का अधिकार मिल जाएगा कि यह ऐसा संघ नहीं है, जिसमें हमने अपने सम्मिलित होने की स्वीकृति दी।

भारत मंत्री ने कहा था :

> यदि आप उस बिल के कुछ भागों में संशोधन करते हैं जो देशी राज्यों को प्रभावित

करता है, तो स्पष्टतया आप उन शर्तों में परिवर्तन करेंगे, जिनके अनुसार वे संघ में सम्मिलित होने के लिए स्वीकृति दे चुके हैं और निश्चय ही इससे एक ऐसी स्थिति पैदा होगी, जिसमें राजा लोग सही अर्थ में यह दावा कर सकेंगे कि उनके विलय-पत्र में परिवर्तन किया गया है। इसका निश्चय ही यह अर्थ है कि हम उस बिल के किसी भाग में संशोधन नहीं कर सकते, जो संधियों को प्रभावित करता है और जिनके अंतर्गत राजाओं ने सहमति व्यक्त की। यदि हम उनके विलय-पत्र को प्रभावित करने वाले बिल में कोई परिवर्तन करते हैं तो स्पष्टतया इससे वह समझौता भंग हो जाएगा, जो राजाओं और संसद के बीच में किया गया है तथा इसके बाद राजा लोग मुक्त हो जाएंगे।

प्रत्येक व्यक्ति द्वारा यह स्वीकार किया जाएगा कि राज्यों से जब संघीय ढांचे में सम्मिलित होने के लिए कहा जाएगा तो इस बिल की सामान्य योजना के अंतर्गत उन्हें संघ के कतिपय पक्षों के बारे में जानने का अधिकार होगा। यह एक बेतुकी स्थिति होगी, यदि किसी राज्य से इस महीने संघ में सम्मिलित होने के लिए कहा जाए और फिर यह सदन अगले महीने संघ के उपबंधों के आधारभूत पक्षों में परिवर्तन करे, जिसके लिए राज्य विलय के लिए तैयार हुआ था। इसलिए इस प्रकार की कोई अनुसूची आवश्यक है। इस बिल के वर्गीकरण द्वारा संवैधानिक कार्यप्रणाली में बदलाव लाए बिना संशोधन किया जाना चाहिए, जिसमें राज्यों ने विलय के लिए स्वीकृति दी है। अनुसूची की योजना अधिनियम के उपबंधों के बनाने के लिए है, जिनके संशोधन से राज्य के विलय-पत्र की वैधता प्रभावित नहीं होती है।

कोई सोचता है कि बिल के उन भागों को निर्धारित कर दिया जाए, जिसके संशोधन से राज्य के विलय-पत्र की वैधता प्रभावित नहीं हो और इसके विपरीत ऐसे विषयों को वर्गीकृत कर दिया जाए, जिनके संशोधन से विलय की वैधता प्रभावित होगी। इस प्रकार की अनुसूची तैयार करते समय इसकी परिभाषा करने में अधिक सावधानी रखी जानी चाहिए कि ऐसे क्या वैध मामले हैं, जिनमें राज्यों के शासकों को यह कहने का अधिकार है कि उनकी सहमति के बिना कोई संशोधन नहीं किया जाएगा। अलबत्ता कुछ सीमांत मामले भी होंगे। ऐसी स्थिति में लघु संशोधन किए जा सकते हैं, जिनसे वर्तमान स्थिति में कोई बड़ा अंतर वास्तव में न होगा और यह अत्यंत अतार्किक होगा, यदि राज्य इस प्रकार के संशोधनों पर आपत्ति उठाएं और यह कहें कि 'हम इस विचार बिंदु पर अपने अधिकारों के लिए खड़े हैं, जो हमारे विलय-पत्र की वैधता को प्रभावित करता है।' यह सही है कि कोई भी मामला जिसे मैं शक्ति का सामान्य संतुलन कह सकता हूं, जो वास्तव में कार्यकारी नियंत्रण के आरक्षण के प्रश्न तथा ऐसे मामले हैं जिन्हें गवर्नर-जनरल अपने विवेक द्वारा निपटा सकता है और ऐसे मामले जो संघ के निर्माण के लिए अधिक महत्व रखते हैं और राज्यों से जिन्हें स्वीकार करने को कहा गया है, उनकी सहमति के बिना उनमें संशोधन नहीं किया जाना चाहिए। गवर्नर-जनरल में विहित विशेष शक्तियों का कुल क्षेत्र संघ के आवश्यक लक्षणों में से एक

लक्षण है। यह एक ऐसा भाग है, जिसके लिए राज्यों को यह कहने का अधिकार है, 'वह एक परिवर्तन है' अथवा 'उसे परिवर्तित किया गया है।' परंतु इससे भारत का विकास किसी प्रकार से रुक नहीं सकता है। राज्यों के साथ विचार-विमर्श के लिए कुछ विषय हो सकते हैं, क्योंकि वे उस संघ से पृथक किसी अन्य प्रकार के संघ की रचना करेंगे, जिसमें विलय के लिए राज्य तैयार हुए हैं।

इसलिए यह प्रश्न उठता है कि उस समय क्या होगा, जब संसद इस प्रकार के परिवर्तन करे जो अनुसूची-2 के अनुसार ऐसे परिवर्तन समझे जाते हैं जो विलय-पत्र को प्रभावित करेंगे, इस संबंध में उत्तर यह है कि राजाओं को यह अधिकार होगा कि वे संघ से बाहर हो जाएं। अतः इस परिवर्तन का परिणाम यह होगा क संघ भंग हो जाएगा।

ऐसे कौन से परिवर्तन है, जो विलय-पत्र को प्रभावित किए बिना नहीं किए जा सकते हैं? मैं आपका ध्यान कुछ ऐसे उपबंधों की ओर आकर्षित करना चाहूंगा, जिनके संबंध में अनुसूची-2 में कहा गया है कि विलय-पत्र को प्रभावित किए बिना संसद द्वारा संशोधन नहीं किए जा सकते। अनुसूची-2 के अनुसार संविधान में कोई भी ऐसे परिवर्तन नहीं किए जा सकते, जिनका संबंध (1) संघ के कार्यकारी प्राधिकार का गवर्नर-जनरल द्वारा प्रयोग; (2) गवर्नर-जनरल के कार्यों की परिभाषा; (3) संघ का कार्यकारी प्राधिकार; (4) मंत्रिपरिषद के कार्य और मंत्रियों का चयन तथा आह्वान और उनकी कार्याविधि; (5) गवर्नर-जनरल के निर्णय करने का अधिकार कि क्या उसे यह अधिकार होगा कि वह अपने विवेक से कार्य करे अथवा अपने व्यक्तिक निर्णय का प्रयोग करे; (6) बाह्य मामलों और रक्षा के संबंध में गवर्नर-जनरल के कार्य; (7) भारत अथवा भारत के किसी भाग की शांति और अमन से संबंधित गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व; (8) संघीय शासन की वित्तीय स्थिरता और साख; (9) देशी राज्यों के अधिकार और उनके शासकों के अधिकार तथा उनकी प्रतिष्ठा; (10) इस अधिनियम के द्वारा अथवा इसके अधीन अपने विवेक से कार्यों का निपटान अथवा अपने व्यक्तिक निर्णय का प्रयोग; (11) गवर्नर-जनरल को महामहिम के लिखित अनुदेशों; और (12) संघीय शासन के कार्य के संबंध में गवर्नर-जनरल के लिए भारत मंत्री के तत्वावधीन में अपने विवेक से सूचना के आदान-प्रदान तथा प्रेषण हेतु नियम बनाने।

अनुसूची-2 उन बातों का व्यापक संग्रह है, जिसमें यह दिया गया है कि संविधान के अंतर्गत क्या न करें। मैंने इनमें से कुछ बातों का उल्लेख किया है। परंतु ये बातें यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि संविधान में परिवर्तन करने के लिए संसद के पास कितने सीमित प्राधिकार हैं।

संसद का प्राधिकार सीमित क्यों है? इस बात को समझने के लिए यह आवश्यक है कि संसद के प्राधिकार की सही सीमाओं को जाना जाए। कानून के अनुसार संसद का प्राधिकार कानून बनाने तक होता है और यह केवल ऐसे देशों पर लागू होता है, जो सम्राट के अधीनस्थ क्षेत्र हैं। राज्य सम्राट के अधीन नहीं हैं और उनमें से कोई भी, यहां तक कि उनमें से सर्वोत्तम राज्य भी संसद के कानून बनाने के प्राधिकार के अधीन नहीं हैं।

भारत सरकार अधिनियम से राज्यों की इस स्थिति में कोई अंतर नहीं आता। राज्य संघ के बावजूद विदेशी राज्य-क्षेत्र हैं, जैसे कि वे संघ से पूर्व थे। यह भारतीय संघ के बारे में सबसे असाधारण स्थिति हैं, अर्थात् अलग-अलग इकाइयां अपने में ही विदेशी राज्य हैं। चूंकि यह अधिनियम राज्यों को सम्राट के अधीनस्थ क्षेत्र नहीं मानता, अतः संसद को कोई अधिकार नहीं है कि वह उनके बारे में कोई कानून बनाए। संसद विलय-पत्र के कारण राज्यों पर अपना प्राधिकार रखती है। ऐसा होने के कारण संसद का प्राधिकार जो उसे राज्यों ने विलय-पत्र द्वारा हस्तांतरित किया है वहीं तक ही सीमित हो सकता है। यदि क्योंकि प्रीवी काउंसिल की ही भाषा का प्रयोग किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि कोई भी धारा अपने स्रोत से ऊपर नहीं उठ सकती, इसी प्रकर संसद के पास विलय-पत्र द्वारा दिए गए प्राधिकार से बढ़कर राज्यों पर प्राधिकार नहीं हो सकता। इसी से यह स्पष्ट होता है कि संशोधन के बारे में संसद का प्राधिकार सीमित क्यों है।

अभी तक जो विश्लेषण किया गया है, उससे यह प्रतीत होता है कि विलय-पत्र द्वारा परिवर्तन करने के लिए संसद को दिया गया प्राधिकार सीमित है और प्राधिकार में किसी भी आधिक्य के लिए राजाओं से पूर्व सहमति ली जानी चाहिए। इस अधिनियम के उपबंधों के वैधिक प्रभाव के रूप में यह स्तब्धकारी नहीं हो सकता। परंतु इस तथ्य पर विचार किया जाए कि जिन उपबंधों में परिवर्तन करने की संसद को कोई शक्ति नहीं है, उनमें से ऐसे उपबंध शामिल हैं, जो रक्षा और विदेशी मामलों को आरक्षित विषयों के वर्ग से हस्तांतरित विषयों में परिवर्तन करने से संबंधित हैं और उसके पास तब तक कोई शक्ति नहीं होगी, जब राजा लोग स्पष्ट रूप से यह पुष्टि करने के लिए सहमति न दे दें कि यह संसद का प्राधिकार है और उसे ऐसा करने की अनुमति है। आप यह अनुभव करने की स्थिति में होंगे कि ऐसे संघ के परिणाम कितने भयंकर हो सकते हैं। संघ की स्थापना का अर्थ यह है कि स्वामित्व की शक्ति संसद के हाथों से निकल कर राजाओं के हाथों में चली गई है। यह संघ राजाओं को अपना भाग्य-विधाता बनाता है। उनकी सहमति के बिना भारत राजनीतिक रूप से प्रगति नहीं करर सकता।

इस संघ के अन्य परिणामों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मैं इस समय केवल एक परिणाम का उल्लेख करूंगा। वह यह है कि यदि इस संघ को स्वीकार कर लिया जाए तो ब्रिटिश भारत के लोगों की परिवर्तन के लिए उनके संघर्ष की स्थिति कमजोर हो जाएगी। अभी तक भारतीय लोग और ब्रिटिश संसद के बीच संघर्ष की स्थिति में ब्रिटिश संसद सदैव ही कमजोर रही है। उसके पास अपनी इच्छा-शक्ति के सिवा लोगों के परिवर्तन के अधिकार का विरोध करने के लिए कुछ भी न था। संघ के विपरीत स्थिति हो जाएगी। भारतीय लोग कमजोर स्थिति में होंगे और संसद की स्थिति अधिक मजबूत हो जाएगी। संघ के बाद संसद यह कहने की स्थिति में होगी कि वह परिवर्तन की मांग को स्वीकार करने के लिए इच्छुक है, परन्तु परिवर्तन के लिए उसका प्राधिकार सीमित है, इसलिए परिवर्तन की मांग उठाने से पूर्व भारतीयों को राजाओं की सहमति प्राप्त कर लेनी चाहिए। ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे संसद को यह मुद्दा बनाने से रोका जाए।

भारतीय उस स्थिति में क्या उत्तर देंगे, यदि वे एक बार संघ को स्वीकार कर लेते हैं और इसके परिणामस्वरूप इसमें विहित लक्ष्यार्थों को स्वीकार कर लेते हैं?

8
संघ की नियति

हम देशी राज्यों का क्या करेंगे? यह ऐसा प्रश्न है, जो प्रायः पूछा जाता है। गणतंत्र में आस्था रखने वालों की इच्छा है कि देशी राज्यों का पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाए। जो लोग सरकार के स्वरूप के बारे में चिंता नही करते, वे इस विचार को रद्द कर देंगे। परंतु उन्हें भी इस विचार का पालन करना चाहिए कि जो सर्वोत्तम ढंग से कार्य करता है, वही सर्वोत्तम है। क्या यह कहा जा सकता है कि देशी राज्य सर्वोत्तम ढंग से कार्य करेंगे? मैं यह नहीं जानता कि कोई इस बारे में ऐसा सकारात्मक उत्तर देने के लिए तैयार होगा, जो सभी राज्यों पर लागू होगा। राज्यों का आंतरिक प्रशासन कुप्रबंध के लिए तिरस्कृत है। कुछ ही राज्य इस आरोप से परे होंगे।

लोग सदैव यह पूछते हैं कि राज्यों में इस प्रकार का कुप्रबंध और कुप्रशासन क्यों है? इसका प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि यह व्यक्तिक शासन का परिणाम है। प्रत्येक क्षेत्र से यह मांग की जाती है कि व्यक्तिक शासन के स्थान पर लोकप्रिय सरकार होनी चाहिए। मुझे इस मांग की प्रभावोत्पादकता पर भारी संदेह है। मैं नहीं समझता कि अधिकांश मामलों में लोकप्रिय सरकार की स्थापना से राज्यों के लोगों की परेशानियों का उपचार हो जाएगा, क्योंकि मैं इस बात से आश्वास्त हूं कि लोगों की परेशानियां के कुशासन से जितनी उत्पन्न होती हैं, उतनी ही संसाधनों के अभाव से पैदा होती हैं। कुछ ही व्यक्तियों को यह आभास है कि देशी राज्यों के संसाधन कितने कम हैं।

मैं कुछ तथ्य देना चाहूंगा। कुल 627 राज्यों में से केवल दस राज्य ऐसे हैं, जिनका वार्षिक राजस्व एक करोड़ रुपये से अधिकार है। इन दस राज्यों में से केवल पांच राज्यों का राजस्व लगभग एक करोड़ रुपये हैं, तीन राज्यों का राजस्व दो-सवा दो करोड़ रुपये के बीच में है, एक राज्य का राजस्व लगभग सवा तीन करोड़ रुपये है और केवल एक ही ऐसा राज्य है, जिसका राजस्व लगभग 8 करोड़ रुपये है। नौ राज्य ऐसे हैं, जिनका राजस्व एक करोड़ और 50 लाख रुपये के बीच में रहता है। लगभग 12 राज्य ऐसे हैं, जिनका राजस्व 25 से 50 लाख रुपये के बीच में रहता है और 30 राज्यों का राजस्व 10 से 25 लाख रुपये के बीच में रहता है। शेष 566 राज्यों में से प्रत्येक का वार्षिक राजस्व 10 लाख रुपये से कम है। फिर भी, इससे यह अनुमान नहीं लग पाता कि कुछ राज्य कितने छोटे हैं, जिनका राजस्व 10 लाख रुपये से कम है। इसलिए कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन 566 राज्यों में से एक राज्य का राजस्व

500 रुपये है और उसकी जनसंख्या 206 है। एक राज्य का राजस्व 165 रुपये है और उसकी जनसंख्या 125 है। एक अन्य राज्य का राजस्व 128 रुपये है और जनसंख्या 147 है। एक राज्य ऐसा भी है, जिसका राजस्व 80 रुपये है और इसकी जनसंख्या 27 है। इनमें से प्रत्येक राज्य स्वशासी राज्य है। भले ही इनमें से एक राज्य का राजस्व 80 रुपये है और उसकी जनसंख्या 27 है।

इन राज्यों के स्वशासी होने का अर्थ यह है कि उनमें से प्रत्येक राज्य को अपने ऊपर यह उत्तरदायित्व लेना चाहिए कि वह अपन प्रजा को ऐसी सभी सेवाओं की आपूर्ति करे, जिनका संबंध कानून और व्यवस्था के अंतर्गत राजस्व, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मामलों से हो और ऐसी सभी सेवाओं की आपूर्ति की जानी चाहिए जो सार्वजनिक कल्याण कार्य, जैसे शिक्षा, सफाई, सड़क, आदि को प्रभावित करती हैं। हम बंबई के लोग 12 करोड़ रुपये के राजस्व से शिष्ट प्रशासन के मानक को बनाए रखने में कठिनाई महसूस करते हैं। अन्य प्रांतों में भी समान राजस्व के होते हुए भी इसी प्रकार की कठिनाई रहती है। ऐसी स्थिति में अल्प राजस्व और अल्प जनसंख्या वाले ये छोटे राज्य अपने लोगों की किसी भी मांग को कैसे पूरा कर सकते हैं? सर्वोत्तम आदर्श और उद्देश्य से प्रेरित राजा के होते हुए भी यह कार्य नैराश्यपूर्ण है।

अब केवल यही मार्ग है कि देशी राज्यों द्वारा अधिकृत कुल क्षेत्र का पुनर्गठन किया जाए। इसका उचित समाधान यह होगा कि निश्चित आकार और निश्चित राजस्व वाले क्षेत्र को निर्धारित किया जाए और इसे एक प्रांत में संगठित कर लिया जाए तथा इन क्षेत्रों के शासकों को पेंशन दे दी जाए। केवल ऐसे ही राज्यों को बनाए रखना चाहिए, जिनके क्षेत्र और राजस्व को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे अपने संसाधनों के कारण ऐसी स्थिति में हैं कि प्रशासन का उत्तम मानक उपलब्ध करा सकते हैं। जो राज्य इस परीक्षण में खरे नहीं उतरते, उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। इसके अलावा कोई अन्य मार्ग नहीं है। मेरी धारणा है कि ऐसा करना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

मैं समझता हूं कि कुछ लोग यह मानेंगे कि राजा को अपने राज्य-क्षेत्र में शासन करने का अधिकार विरासत में मिला है। परंतु मैं यह जानना चाहता हूं कि राजा के अधिकार और प्रजा के कल्याण में अधिक महत्वपूर्ण क्या है? मैं इस बात से आश्वस्त हूं कि राज्यों के सबसे अच्छे मित्र भी यह नहीं कहेंगे कि राजा के अधिकार प्रजा के कल्याण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि इन दोनों में संघर्ष है तो किसे हट जाना चाहिए? इस बारे में मुझे विश्वास है कि राज्यों के सबसे अच्छे मित्र भी यह नहीं कहना चाहेंगे कि राजा के अधिकारों को बनाए रखने के लिए लोगों के कल्याण की बलि दे दी जाए।

देशी राज्यों के पुनर्गठन का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं है। मेरे विचार में यह विशुद्ध प्रशासकीय और आवश्यक प्रश्न है। इसका समाधान न करना राज्यों के उन लाखों लोगों की भर्त्सना करना है, जो निरंतर दुखी और असुरक्षित जीवन बिता रहे हैं। मैं जिस उपाय का सुझाव दे रहा हूं, वह कोई क्रांतिकारी उपाय नहीं है। किसी

राजा को पेंशन देना और उसके राज्य पर अधिकार करना विधिसम्मत मार्ग है और यह भूमि अधिग्रहण अधिनियम के उन नियमों के अंतर्गत है, जिनसे हम परिचित हैं और जिनके द्वारा सार्वजनिक हित के लिए निजी अधिकारों और संपत्तियों के अर्जन के लिए अनुमति दी जाती है।

दुर्भाग्यवश देशी राज्यों के प्रश्न का समाधान अभी तक इस दृष्टिकोण से नहीं किया गया है। एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूं, यह है कि संघ की स्थापना के बाद क्या इस प्रश्न का समाधान करने में आप स्वतंत्र होंगे। मैं कहता हूं कि ऐसा नहीं होगा। शायद आप पूछना चाहेंगे कि ऐसा क्यों है और इस प्रकार का निष्कर्ष कैसे निकाला है?

मैं पहले ही बता चुका हूं कि संघ में सम्मिलित होने के संबंध में प्रांतों और राज्यों का अलग-अलग आधार है। प्रांतों के समक्ष कोई विकल्प नहीं है। उन्हें संघ की इकाइयां बनने के लिए सहमत होना चाहिए। राज्यों के समक्ष विकल्प है। वे संघ में सम्मिलित हो सकते हैं अथवा संघ में सम्मिलित होने से इंकार कर सकते हैं। यह स्थिति प्रांतों के दृष्टिकोण और राज्यों के दृष्टिकोण की वजह से है। संघ के दृष्टिकोण से कया स्थिति है? क्या संघ राज्यों के प्रवेश के मामले में कोई विकल्प रखता है? क्या संघ किसी राज्य को अपने में सम्मिलित करने से इंकार कर सकता है? इसका उत्तर नकारात्मक है। संघ को इंकार करने का कोई अधिकार नहीं हैं। राज्य को संघ में प्रवेश करने का अधिकार है, परन्तु संघ को बीस वर्ष तक के लिए किसी भी दशा में उसके प्रवेश करने से इंकार करने का कोई अधिकार नहीं है। स्थिति यह है। अब किसी भी राज्य के संघ में प्रवेश करने का क्या अर्थ है? मेरे विचार से राज्य के संघ में प्रवेश करने का अर्थ है, राज्य की प्रभुसत्ता को मान्यता देना। उसकी प्रभुसत्ता को मान्यता देने का अर्थ उसके अस्तित्व को मान्यता देना है, जिसका अर्थ यह है कि उसे अपने राज्य-क्षेत्र तथा आंतरिक प्रशासन की शक्तियों की गारंटी की सत्यनिष्ठा का अधिकार है। यह बात उस राज्य पर भी लागू होगी, जिसकी जनसंख्या 27 है और जिसका राजस्व 80 रुपये है। संघ में राज्य के प्रवेश के निहितार्थों को ध्यान में रखते हुए मैं यह सुझाव देने में पूर्णतया न्यायसंगत हूं कि देशी राज्यों के राज्य-क्षेत्र का पुनर्गठन संघ की स्थापना के बाद संभव नहीं होगा और देशी राज्यों के लोग कुशासन और कुप्रशासन के सदैव शिकार रहेंगे।

क्या ब्रिटिश भारत अब इस मामले में कुछ कर सकेगा? मेरे विचार से ब्रिटिश भारत ऐसी स्थिति में नहीं है कि इस मामले मे कुछ कर सके। यदि ब्रिटिश भारत ने अपने लिए उत्तरदायी सरकार प्राप्त कर ली होती तो वह अधिकारपूर्वक यह कहने की स्थिति में होता कि किस राज्य को प्रवेश करने देना चाहिए और इसके लिए क्या शर्तें होंगी। वह संघ में प्रवेश के लिए राज्यों पर उनके राज्य-क्षेत्र को बड़ी इकाइयों में पुनर्गठित करने की पूर्व शर्त लगाने की स्थिति में होता। दुर्भाग्यवश ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार नहीं है। वास्तव में केन्द्र में उत्तरदायी सरकार रखने के उसके अधिकार को

नकार दिया गया है और राज्यों के प्रवेश पर उसे आश्रित बना दिया गया है। अब ब्रिटिश भारत का भाग्य यह है कि 'कोई राज्य नहीं और कोई उत्तरदायित्व नहीं।' अब ब्रिटिश भारत ऐसी स्थिति में नहीं है कि राज्यों के सामने शर्तें रख सके। वह ऐसा तभी कर सकता था जब उसकी उत्तरदायी सरकार होती, यही कारण है कि मैंने कहा है और सदैव इस बात को स्वीकार किया है कि ब्रिटिश भारत के लोगों को सबसे पहले संघ की और ब्रिटिश भारत तक सीमित उत्तरदायित्व की मांग करनी चाहिए। यदि एक बार उसे प्राप्त कर लिया जाता है, तो चहुं ओर स्वतंत्रता और श्रेष्ठ सरकार के आधार पर अखिल भारतीय संघ के लिए संभव मार्ग होगा। यह संभावना समाप्त हो जाएगी, यदि यह संघ अस्तित्व में आता है।

मैं पहले ही संघीय योजना की कतिपय कमियों की ओर आपका ध्यान आकर्षित कर चुका हूं। अभी मैंने कमी की अपेक्षा कुछ अन्य गहन बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया है। यह संघ की नियति है। जहां तक राज्यों के लोगों का संबंध है, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। यह ऐसा है कि यदि एक बर कार्यान्वित कर लिया गया तो उससे कभी भी छुटकारा नहीं मिलेगा।

देशी राज्य की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसका, मेरा विश्वास है, सर्वोपरि सत्ता द्वारा उन उपायों से निराकरण किया जा सकता है, जिनके बारे में मैंने सुझाव दिया है अथवा किसी ऐसी युक्ति से उसका समाधान किया जा सकता है, जो जनता के कल्याण में बराबर लगी हुई है, यदि वे समस्या का हल करना चाहते हैं। सर्वोपरि सत्ता हिन्दू धर्म की त्रिमूर्ति के समान है। यह ब्रह्मा है, क्योंकि इसने राज्यों को जन्म दिया है। यह विष्णु है, क्योंकि इसने उनका संरक्षण किया है। यह शिव है, क्योंकि उसमें उनको नष्ट करने की शक्ति है। सर्वोपरि सत्ता ने राज्यों के संबंध में अलग-अलग समय पर यह सभी भूमिकाएं अदा की हैं। एक समय इसने शिव की भूमिका अदा कि। अब यह विष्णु की भूमिका अदा कर रही है। राज्यों के संबंध में विष्णु की भूमिका का निर्वाह लोगों का भला करने की दृष्टि से क्रूरतम कार्य है। क्या ब्रिटिश भारत को इसका एक पक्ष होना चाहिए? यह बात आपके विचार करने के लिए है।

9
राज्यों के बिना संघ

एक अन्य दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार संघ के मामले में विचार-विमर्श किया जाता है। अब मुझे उस तर्क की जांच करनी चाहिए।

यह तर्क दिया जाता है कि संविधान स्वशासी प्रांतों का सृजन करता है। प्रांतों की स्वायत्तता का अर्थ स्वतंत्रता है और इसलिए ब्रिटिश भारत की एकता का खंडन होता है। इसका विरोध किया जाना चाहिए। कुछ बाध्यकारी शक्ति दी जानी चाहिए, ताकि प्रांतों को एक साथ एकता और समानता में बांध लिया जाए और गत 100 वर्षों के ब्रिटिश प्रशासन

के फलस्वरूप निर्मित एकता और समानता को अक्षुण्ण रखा जा सके।

यह तर्क काफी ठोस है, यदि इसका केवल यही अर्थ है कि स्वशासी प्रांतों का सृजन केन्द्रीय सरकार के निर्माण की एक आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि इस प्रस्ताव को सर्वत्र स्वीकृति प्राप्त होगी। सभी गोलमेज सम्मेलनों में स्वर्गीय सर मोहम्मद इकबाल ही एकमात्र ही एकमात्र ऐसे प्रतिनिधि थे, जिन्होंने केन्द्रीय सरकार की स्थापना का विरोध किया था। अन्य सभी प्रतिनिधियों ने, चाहे वे किसी भी जाति व मत के क्यों न रहे हों, उनसे मतभेद व्यक्त किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि स्वशासी प्रांतों के सृजन से केन्द्रीय सरकार की स्थापना स्पष्ट तथा अनिवार्य है और उसके बिना स्वायत्तता अराजकता में परिवर्तित हो जाएगी।

परंतु यह तर्क अपने वैधिक कार्य-क्षेत्र से परे है। यह अखिल भारत के लिए केन्द्रीय सरकार की स्थापना को न्यायसंगत ठहराता है। ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार की स्थापना को न्यायसंगत ठहराने वाला यह तर्क समस्त भारत के लिए केन्द्रीय सरकार को न्यायसंगत बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। और आपको इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या ब्रिटिश भारत में स्वशासी प्रांतों के निर्माण की दृष्टि से देशी राज्यों को सम्मिलित करते हुए समस्त भारत के लिए केन्द्रीय सरकार को न्यायसंगत कहा जा सकता है। मेरा तर्क यह है कि स्वशासी प्रांतों के निर्माण के लिए समस्त भारत हेतु केन्द्रीय सरकार के निर्माण की आवश्यकता नहीं है।

ब्रिटिश भारत में स्वशासी प्रांतों की स्थापना के लिए दो बातें आवश्यक होंगी-(1) ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार होगी, और (2) केन्द्रीय सरकार अपने स्वरूप में संघीय होगी तथा एकात्मक नहीं होगी। संघ का सार केन्द्रीय सरकार और इकाइयों में विधि द्वारा विधायी और कार्यकारी शक्तियों के विभाजन अथवा आबंटन में विहित होता है। इकाइयों और केन्द्र की शक्तियों को परिभाषित किया जाता है तथा उन्हें अलग-अलग किया जाता है। उनमें से किसी को अधिकार नहीं होता कि वे दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप करें। प्रांतों की स्वायत्तता का अर्थ है कि उनकी शक्तियों को परिभाषित किया जाता है और उनमें विहित किया जाता है। यदि प्रांतीय स्वायत्तता को वास्तविक बनाना है तो केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को भी सीमित किया जाना चाहिए, अन्यथा वह प्रांतों के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की स्थिति में होगी। यदि इस बात को सहज रूप से कहा जाए तो स्वायत्तता का अर्थ कानून द्वारा शक्तियों की परिभाषा और परिसीमन है और जहां कहीं भी इन दोनों राजनीतिक इकाइयों के बीच शक्तियों की परिभाषा और परिसीमन है, वहां संघ है और इसे होना चाहिए। अब आप यह समझेंगे कि मैंने क्यों कहा था कि प्रांतीय स्वायत्तता की सभी मांगों का सार है कि ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार का स्वरूप संघीय होगा। इससे अखिल भारतीय संघ न्यायसंगत नहीं ठहरता। यह क्यों आवश्यक है कि सभी राज्यों को संघ में लाया जाए। अभी तक इस प्रश्न का उत्तर शेष है और वे सभी लोग इस प्रश्न का उत्तर देंगे, जो इस अखिल भारतीय संघ को ब्रिटिश भारत संघ से अलग समझते हैं।

जैसा कि बताया है कि यह आवश्यक है कि ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार का स्वरूप संघीय होगा और इस तथ्य को संविधान द्वारा मान्यता दी गई है।

अनेक व्यक्ति यह देखने में असफल हो गए हैं कि भारत सरकार अधिनियम, 1935 दो अलग-अलग संघ स्थापित करता है। इनमें से एक संघ ब्रिटिश भारत के प्रांतों के लिए है और दूसरा संघ ब्रिटिश भारत के प्रांतों और देशी राज्यों के लिए है। यह बात आश्चर्यजनक है कि कई व्यक्तियों ने इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया। भारत सरकार अधिनियम दो संघों की स्थापना करता है और यह बात विवाद से परे है। यदि इसमें किसी को कोई संदेह है तो फिर उन्हें खंड 3 और खंड 13 को एक साथ तथा खंड 2 तथा खंड 3 को एक साथ पढ़ना चाहिए। खंड 2 और खंड 3 यह स्पष्ट करते हैं कि एक अखिल भारतीय संघ है और उस संघ का संविधान बताते हैं। खंड 3 और खंड 13 इस बात को बताते हैं कि राज्यों से अलग ब्रिटिश भारत के प्रांतों का एक संघ है और उस संघ का संविधान दिया गया है। खंड 13 का संबंध उन उपबंधों से है, जो परिवर्ती कहलाते हैं और ब्रिटिश भारत योजना को संघ से कम नहीं बनाते, क्योंकि कानून कानून है, चाहे यह सीमित अवधि के लिए हो अथवा सार्वकालिक हो।

यह अधिनियम ब्रिटिश भारत के प्रांतों के लिए संघ की स्थापना करता है और अखिल भारतीय संघ से भी इंकार नहीं करता। इन दोनों संघों के बीच क्या अंतर है? क्या संघ की विधायी शक्तियों में कोई अंतर है? इसका उत्तर नकारात्मक है। संघीय विधायी सूची एक जैसी बनी रहती है, चाहे कार्यशील संघ ब्रिटिश भारत संघ हो या अखिल भारतीय संघ हो। समवर्ती सूची भी एक जैसी रहती है, चाहे कार्यशील संघ पहला या दूसरा हो।

क्या वित्तीय शक्तियों में कोई अंतर है? इसका उत्तर भी नकारात्मक है।

कर निर्धारण की शक्तियां भी एक जैसी रहती हैं, चाहे वह अखिल भारतीय संघ हो अथवा ब्रिटिश भारत संघ।

क्या संघ के न्यायिक संगठन में कोई परिवर्तन होता है? इसका उत्तर नकारात्मक है। संघीय न्यायालय की आवश्यकता अखिल भारतीय संघ और ब्रिटिश भारत संघ के लिए समान रूप से होती है।

यह दोनों संघ किस प्रकार एक-दूसरे से अलग हैं? इन दोनों में अंतर केवल एक ही दिशा में होता है। यदि आप यह अंतर जानना चाहते हैं तो धारा 313 की तुलना धारा 8 से करें। इस तुलना से यह विदित होगा कि यदि संघ ब्रिटिश भारत का संघ है तो इस संघ का कार्यकारी प्राधिकार परिषद के गवर्नर-जनरल को होगा अैर यदि यह संघ अखिल भारतीय संघ है तो हस्तांतरित मामलों में कार्यकारी प्राधिकार विधान–मंडल के लिए उत्तरदायी मंत्रियों के परामर्श पर कार्य करने वाले गवर्नर-जनरल को प्राप्त होता। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि ब्रिटिश भारत संघ है तो केन्द्र का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, जब तक कि अखिल भारतीय संघ न हो।

इसका अर्थ यह है कि राज्यों का प्रवेश ब्रिटिश भारत को उत्तरदायित्व सौंपने के लिए

एक शर्त है। अतः आप पूछेंगे कि राज्यों का प्रवेश क्यों आवश्यक है?

सभी संघ इकाइयों की सुरक्षा और अखंडता को प्रभावित करने वाले बाह्य खतरों के कारण अस्तित्व में आए हैं। उत्तरी अमरीका के राज्य एक संघ में इसलिए परिवर्तित हो गए, क्योंकि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा राज्यों पर अधिकार करने का भय था। कनाडा के प्रांत एक संघ में बदल गए, क्योंकि उन्हें संयुक्त राज्य द्वारा आक्रमण या विलय किए जाने का खतरा था। आस्ट्रेलिया के उपनिवेश एक संघ में इसलिए परिवर्तित हुए, क्योंकि उन्हें जापान द्वारा आक्रमण का भय था। यह स्पष्ट है कि भारतीय संघ ऐसी परिस्थितियों का परिणाम नहीं है। भारत की सीमा पर कोई भी नया आक्रमणकारी नहीं है, जो ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों पर झपटने की प्रतीक्षा कर रहा हो। यह संघ इसलिए भी नहीं है कि ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के बीच शांति स्थापित करना आवश्यक है। इस बात में कई तथ्य नहीं है कि ब्रिटिश भारत सम्राट की प्रभुसत्ता के अधीन है और देशी राज्य सम्राट के अधिराजस्व के अधीन है। जहां तक विदेशी संबंधों की बात है, उनमें शांति और युद्ध भी शामिल है, दोनों एक और समान प्राधिकारी, अर्थात् सम्राट के अधीन है। यही कारण है कि दोनों में शांति बनी हुई है। यही कारण है कि ये दोनों युद्ध नहीं करेंगे और युद्ध नहीं कर सकते हैं। इस अखिल भारतीय संघ का उद्देश्य बाह्य आक्रमण से सुरक्षा अथवा आंतरिक शांति बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर, इस संघ का क्या उद्देश्य है? राज्यों को संघ में प्रवेश करने के लिए क्यों आमंत्रित किया गया? उनके प्रवेश के लिए केन्द्र को उत्तरदायी बनाने की पूर्व शर्त क्यों लगाई गई? यदि स्पष्ट रूप से कहा जाए तो उद्देश्य यह है कि राज्यों को साम्राज्यिक हितों को समर्थन देने के लिए सामने लाया जाए और ब्रिटिश भारत में लोकतंत्र के उठते ज्वार को नष्ट कर दिया जाए। इसके सिवाय मैं अन्य कोई स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। राजाओं को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्यों को सफल बनाने के लिए संघ में लाने की आवश्यकता है, यह बात विवादहीन है। भारत मंत्री ने संसद में भारत सरकार के बिल पर बहस के दौरान यह स्वीकार किया कि 'हम सभी को स्थिरता और साम्राज्य की भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले राजाओं का भारत की केन्द्रीय सरकार में एक महान शक्ति के रूप में प्रवेश का स्वागत करना चाहिए।' ब्रिटिश भारत में लोकतंत्र के दमन का भले ही कोई उद्देश्य न हो, फिर भी मेरा विश्वास है कि संघ में राजाओं का प्रवेश इसका परिणाम होगा।

संघ में राजाओं के प्रवेश के लिए क्या कीमत चुकाई गई है? जो कुछ मैंने कहा है उसे मैं दोहराना नहीं चाहता। यदि आप यह स्मरण करेंगे कि मैंने भेदभाव के संबंध में क्या कहा है, जो प्रतिनिधित्व, कर निर्धारण, प्रशासन, विधायिका, आदि के संबंध में राजाओं के पक्ष में किए गए हैं, तो आप यह जानेंगे कि ब्रिटिश भारत द्वारा क्या लाभ प्रदत्त किए गए हैं, क्या अधिकार सौंपे गए हैं, क्या छूट प्रदान की गई है, ताकि राजाओं को प्रेरित किया जा सके कि वे संघ में सम्मिलित हो जाएं और इसके बदले में ब्रिटिश भारत को क्या मिला है?

यदि संघीय संविधान ने पूरी तरह उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की होती तो ब्रिटिश

भारत को उस मूल्य के लिए कुछ प्रतिकार मिल जाता, जो उसने राजाओं को संघ में सम्मिलित होने के लिए चुकाया है। परंतु ब्रिटिश भारत को कोई भी जिम्मेदारी नहीं दी गई, जिसका उल्लेख किया जाए। ब्रिटिश भारत को जो मिला, वह एक ऐसी पद्धति है जिसमें जिम्मेदारी को अलग-अलग भागों में विभाजित किया गया है तथा शर्तों और प्रतिबंधों द्वारा सार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है। यही नहीं कि ब्रिटिश भारत ने राजाओं के लिए संघ को सरल बनाने के लिए जो त्याग किए उसके अनुरूप उसे केन्द्र में उत्तरदायित्व प्राप्त नही हुआ, अपितु उसने अपने ही अधिकार से और राजाओं से स्वतंत्र रूप से औपनिवेशिक राज्य के दावे को खो दिया है। अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि अखिल भारतीय संघ के कार्य-व्यापार में ब्रिटिश भारत ने क्या खोया है और वह क्या खोएगा। नया संविधान ब्रिटिश भारत के लोगों के संघर्ष का परिणाम है। यह ब्रिटिश भारत के लोगों का विद्रोह और यातनाओं का परिणाम है, जो इस संविधान के पीछे बल लगाती रही है। वह क्या अधिकार था, जिसे ब्रिटिश भारत के लोगों ने अपने लिए दावा किया था? जैसा कि मैंने कहा है कि उनका पहला दावा यह था कि ब्रिटिश भारत में एक श्रेष्ठ सरकार गठित की जाए। उसके बाद उन्होंने ब्रिटिश भारत के लिए उत्तरदायी स्वशासी सरकार का दावा किया। अंत में उन्होंने ब्रिटिश भारत के लिए औपनिवेशिक राज्य की मांग की। इन दावों में से प्रत्येक दावे को ब्रिटिश संसद द्वारा स्वीकार कर लिया गया। 1917 में ब्रिटिश संसद ने उत्तरदायी सरकार के लक्ष्य को स्वीकार किया। 1929 में अंग्रेजों ने औपनिवेशिक राज्य के लक्ष्य को भी स्वीकार कर लिया। अब इस बात पर बल देना चाहिए कि प्रत्येक समय पर जो दावा किया गया, वह ब्रिटिश भारत के लोगों के नाम पर किया गया। प्रत्येक अवसर पर ब्रिटिश भारत के लोगों के संबंध में इसे स्वीकार किया गया। संघ के फलस्वरूप ब्रिटिश भारत की स्थिति क्या होगी? ब्रिटिश भारत की स्थिति यह है कि केन्द्र में वे कभी भी कोई जिम्मेदारी प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि राजा लोग इस योजना के अंतर्गत नहीं आ जाते। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटिश भारत ने अपने ही लिए अपने नाम में और राजाओं से स्वतंत्र होकर उत्तरदायी सरकार के दावे के अधिकार को खो दिया है। यह अधिकार एक विहित अधिकार था, क्योंकि यह किए गए और स्वीकृत दावे का परिणाम था। यह अधिकार खो दिया गया है, क्योंकि ब्रिटिश भारत को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राज्यों की इच्छाओं पर आश्रित होना पड़ा है। संघ के दोनों भागों में से ब्रिटिश भारत प्रगतिशील भाग है और राज्य प्रगतिहीन भाग है। प्रगतिशील भाग को प्रगतिहीन रथ के साथ बांध दिया जाना और उसके मार्ग तथा लक्ष्य को प्रगतिहीन भाग पर आधारित किया जाना, इस संघ का सबसे दुखद पहलू है।

इस त्रासदी के लिए आप अपने ही राष्ट्रीय नेताओं को दोषी ठहराएं। सौभाग्यवश मैं आपके राष्ट्रीय नेताओं में से नहीं हूं। सबसे ऊंची पदवी जो मुझे मिली है; वह अस्पृश्यों का नेता होना है। मैं यह भी देखता हूं कि मुझे इस पदवी से भी वंचित कर दिया गया है। ठक्करबापा, महात्मा गांधी के बांए हाथ हैं। मैं उन्हें उनका बाया हाथ इसलिए कहता हूं कि वल्लभभाई पटेल उनके दाएं हाथ हैं। ठक्करबापा ने कुछ ही समय पूर्व यह कहा था कि मैं महारों का ही नेता हूं। वह मुझे बंबई प्रेसिडेंसी के अस्पृश्यों का नेतृत्व भी देना

नहीं चाहेंगे। ठक्करबापा ने जो कुछ भी कहा, वह द्वेषपूर्ण था अथवा सत्यता के प्रेम से ओतप्रोत, इसकी मुझे कोई चिंता नहीं है, क्योंकि राजनीति मेरे लिए प्रथम प्रेम नहीं है और न मैं राष्ट्रीय नेतृत्व को अपने जीवन का लक्ष्य मानता हूं। दूसरी ओर, जब मैं देखता हूं कि आपके राष्ट्रीय नेताओं ने देश में कितनी विपदाएं उत्पन्न कर दी हैं तो मुझे यह जानकर निश्चित रूप से राहत मिलती है कि मैं उन महान नेताओं की भीड़ में सम्मिलित नहीं हूं। जब मैं यह कहता हूं कि आपके रष्ट्रीय नेताओं में से कुछ नेता संविधान निर्माण के कार्य के लिए एकदम तैयार नहीं थे तो मेरा विश्वास कीजिए। वे संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के बिना ही गोलमेज सम्मेलन में शामिल हुए और उन्होंने उन समस्याओं के समाधान के लिए कोई भी प्रतिपादन नहीं किया, जो उनके सम्मुख प्रस्तुत की गई। अन्य नेता निस्संदेह इस समस्या के समाधान के लिए समक्ष थे, परंतु वे उन छोटे बच्चों के समान थे, जिनमें संघवाद का आदर्श कूट-कूट कर भरा हुआ था और उन्होंने इस बात की चिंता नहीं की कि वे जो निर्माण कर रहे हैं, वह आदर्श संघ या संघ के नाम पर धोखा है। यह त्रासदी पूर्णतया गलत नेतृत्व के कारण उत्पन्न हुई। मैं नहीं जानता कि जो कदम उठाए गए हैं, क्या वे वापस लिए जा सकते हैं। और जो पराजय हुई है, क्या उसे फिर से विजित किया जा सकता है। परंतु मेरा मत है कि यह बात ठीक है कि ब्रिटिश भारत के लोगों को यह जानना चाहिए कि उन्होंने क्या खोया है। उनका अपना ही संघ है और वे यह अधिकार रखते हैं कि अपने संघ के लिए उत्तरदायित्व की मांग करें।

एक अन्य कारण से भी यह वांछनीय होगा कि संघ केवल ब्रिटिश भारत से ही बने। ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों का संघ सद्भाव से कार्य नहीं कर सकता। ये ऐसे दो तत्व हैं, जिनके बारे में मुझे विश्वास है कि वे ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न करेंगे। पहला तत्व ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की स्थिति में अंतर होने से उत्पन्न होता है। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि स्वतंत्र होंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि राजनीतिक विभाग के बंधुआ व्यक्ति होंगे। संघीय विधान–मंडल में प्रतिनिधियां के दोनों वर्गों के अधिदेश के स्रोत अलग-अलग होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि मंत्रियों के प्राधिकार के विस्तार में लगे रहेंगे। राज्यों के प्रतिनिधि निश्चय ही मंत्रियों के विरुद्ध गवर्नर-जनरल के प्राधिकार को समर्थन देंगे और उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित किया जाएगा। यह संघर्ष अनिवार्य है और यह सुनिश्चित है कि ब्रिटिश भारत की भावनाएं देशी राज्यों के विरुद्ध कटुतापूर्ण होंगी। ठीक यही स्थिति प्रांतों के गत शासन में उत्पन्न हुई थी। निर्वाचित सदस्यों की भावनाएं पुरानी प्रांतीय परिषदों के नामांकित सदस्यों की ओर निश्चित ही शत्रुवत थीं। मुझे विश्वास है कि ऐसा अनुभव संघीय विधान–मंडल में फिर से दोहराया जाएगा। ऐसा ही होना स्वाभाविक है, जब कि सदन का एक भाग यह महसूस करता है कि सदन का दूसरा भाग उसकी इच्छाओं को निष्फल करने के लिए है और वह विधान–मंडल के नियंत्रण के बाहर किसी शक्ति के औजार के रूप में कार्य कर रहा है। यह असंगति का एक तत्व है। असंगति का दूसरा तत्व संघ के अंतर्गत ब्रिटिश भारत के राज्यों की स्थिति में अंतर है। कानून के समक्ष समता एक मूल्यवान वस्तु है,

परन्तु सभी व्यक्ति उसे एक ही कारण के लिए मूल्यवान नहीं समझते। अधिकांश लोग उसे आदर्श के रूप में चरितार्थ करते हैं। कुछ ही व्यक्ति यह महसूस कर पाते हैं कि वह जटिल क्यों है। कानून के समक्ष समता व्यक्तियों को इस बात पर बाध्य करती है कि वे उन लोगों के साथ एक आम मुद्दा बना लें, जो समान रूप से प्रभावित हुए हैं। यदि कोई समता नहीं है और यदि कुछ ही व्यक्तियों का पक्ष लिया जाता है तथा अन्य व्यक्तियों को बोझिल कर दिया जाता है तो विशेष रूप से अनुकंपा प्राप्त व्यक्ति उन लोगों के साथ सम्मिलित होने से इंकार ही नहीं करते, अपितु वास्तव में उनके विरुद्ध कार्य करते है। एक तानाशाह प्राचीनकाल के सम्राटों के समान कुछ व्यक्तियों के एक के बाद दूसरे दांत उखाड़ देता है और अन्य व्यक्तियों के क्रोध को उत्तेजित किए बिना ऐसा कर लेता है। इसके विपरीत, अन्य व्यक्ति धावे में शामिल हो जाएंगे। परंतु मान लीजिए कि एक कानून बनाया गया कि सभी व्यक्तियों को तानाशाह को उतना धन देना होगा जितना वह मांगता है और नहीं देने पर दंड स्वरूप उनके दांत निकाल दिए जाएंगे तो सभी व्यक्ति इसके विरोध में उठ खड़े होंगे। संघ के अंतर्गत ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में कोई समानता नहीं है। देशी राज्य कई लाभों का आनंद उठाते हैं और उन्हें कई छूट मिल जाती हैं, जिनसे ब्रिटिश भारत वंचित रह जाता है। यह स्थिति विशेष कर-निर्धारण के मामले में है। इससे ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के बीच गहन कटुता उत्पन्न हो जाएगी कि सबसे पहले इस कर-भार को कौन स्वीकार करे। देशप्रेम उस समय गायब हो जाता है, जब आप किसी की जेब में हाथ डालते हैं, और मैं इस बात से आश्वस्त हूं कि राज्यों के प्रतिनिधि आम आदमी की आवश्यकताओं की तुलना में अपने वित्तीय हित को वरीयता देना चाहेंगे और इसके लिए विधान–मंडल के प्रति कार्यपालिका को उत्तरदायी बनाना चाहेंगे।

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों को एक ही विशाल भवन में स्थान देने का क्या लाभ है, यदि वे दोनों एक-दूसरे से लड़ते रहेंगे?

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में प्रचलित सरकारी स्वरूपों में पूर्ण असमानता है तथा उनके अंतर्निहित नियमों में भी समानता नहीं है। इन असमानताओं से देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत के बीच बैरभाव उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है, यदि ये दोनों अपने अलग-अलग क्षेत्रों में प्रगति करना चाहते हैं। जब तक देशी राज्यों में सरकार का स्वरूप ऐसे मामलों के निर्णय में कारक नहीं बन जाता है जो ब्रिटिश भारत को प्रभावित करते हैं, तो ब्रिटिश भारत को सरकार के उन स्वरूपों को सहन करना चाहिए, चाहे वे कितने ही पुराने क्यों न हों। परंतु संघ उन्हें कारक बनाता है और एक सशक्त कारक बनाता है तथा ब्रिटिश भारत उनके प्रति विमुख नहीं हो सकता। वास्तव में संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत को इस बात के लिए बाध्य करेगा कि देशी राज्यों में प्रचलित सरकार के स्वरूपों को क्रांतिकारी बनाने के लिए अपने ही हित में आंदोलन प्रारंभ करे।

यह संघ का अनिवार्य परिणाम होगा। क्या यह ऐसी निष्पत्ति है, जिसे राज्य तत्परतापूर्ण ढंग से चाहते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर वे विचार करना चाहेंगे।

क्या ब्रिटिश भारत इस संभावना का स्वागत करता है? जहां तक मेरा संबंध है, मैं इसका स्वागत नहीं करूंगा। यह असंभव होगा कि इतने बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ा जाए। राज्य इतने अधिक हैं कि वे केन्द्रित आक्रमण नहीं होने दे सकते। राज्य इस संरचना का एक भाग हैं, अतः आप उन पर आक्रमण नहीं कर सकते और अपने आक्रमण को संवैधानिक कार्य नहीं बता सकते। दूसरे, आप अपने को ऐसी कठिनाई में क्यों डालते हैं? कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति यह सोचता है कि वह संपत्ति खरीद रहा है, जबकि तथ्य यह है कि वह मुकदमेबाजी मोल ले रहा है। ब्रिटिश भारत के लिए संघ को स्वीकार किया जाना विपत्ति को खरीदने के समान है। तीसरे, यह संविधान एक बंदोबस्त है, जिसमें से औपनिवेशक राज्य को अधिकांशतया निर्मतापूर्वक निकाल दिया गया है, जो केवल वर्तमान समय के लिए ही नहीं, अपितु भविष्य के लिए भी है।

किसी भी दृष्टिकोण से इस बात को देखा जाए तो मेरे लिए सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण तरीका यह है कि राज्यों को वहीं छोड़ देना चाहिए, जहां वे हैं। ब्रिटिश भारत को अपने विकास और अपने लिए संघ की ओर बढ़ना चाहिए।

10
विभिन्न दृष्टिकोणों से संघ

अलग-अलग लोग इस संघ को विभिन्न दृष्टिकोणों से देख रहे हैं। राजाओं का भी अपना दृष्टिकोण है। हिन्दुओं, मुसलमानों और कांग्रेस का भी अपना दृष्टिकोण है। सौदागर और व्यापारियों का भी अपना दृष्टिकोण है। इनमें से प्रत्येक का दृष्टिकोण अपने विशेष हितों के कारण है।

इस संघ में राजाओं का क्या हित है? यदि आप राजाओं के उद्देश्य को समझना चाहते हैं तो आपको बटलर कमेटी की कार्यवाहियों को देखना चाहिए। राजाओं ने सर्वोपरिसत्ता के सिद्धांत के अंतर्गत अपने संधि के अधिकारों पर भारत सरकार के राजनीतिक विभाग के अतिक्रमण की शिकायत की थी। राजा इस बात पर जोर दे रहे थे कि राजनीतिक विभाग को राज्यों के विरुद्ध अधिक अधिकार नहीं थे, सिवाय उन अधिकारों के जो उनके और ब्रिटिश सरकार के बीच की गई संधियों द्वारा दिए गए थे। दूसरी ओर, राजनीतिक विभाग का यह दावा था कि संधियों में दिए गए अधिकारों के अतिरिक्त सम्राट को भी ऐसे अधिकार प्राप्त थे, जो राजनीतिक व्यवहारों और प्रथाओं में संदर्भ योग्य थे। इस विवाद का समाधान करने के लिए भारत मंत्री ने बटलर कमेटी की नियुक्ति के लिए अपनी सहमति प्रदान की। राजाओं को यह आशा थी कि बटलर कमेटी उनके विचारों को स्वीकार कर लेगी और संधियों में दिए गए अधिकारों तक सर्वोपरि सत्ता के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देगी। दुर्भाग्यवश राजा लोग इस संबंध में हताश हो गए, क्योंकि बटलर कमेटी ने यह रिपोर्ट दी कि प्रभुसत्ता सर्वोच्च है और इसकी न तो कोई परिभाषा की जा सकती है और न इसका सीमांकन। बटलर कमेटी के

निर्णय का अर्थ यह था कि राजा लोग भारत सरकार के राजनीतिक विभाग के पूर्णतया अधीन थे और वे लोग इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से छुटकारा पाने की तलाश में लगे हुए थे, जिसमें कि वे घिर गए थे और उन्होंने यह ठीक ही पाया कि केवल एक समाधान है जो उन्हें राजनीतिक विभाग के अत्याचार से छुटकारा दिला सकता है और वह संघ है, क्योंकि जिस सीमा तक संघीय प्राधिकार बना हुआ था, उससे राजनीतिक विभाग का प्राधिकार समाप्त हो जाएगा और संघीय विधान–मंडल और संघीय कार्यपालिका द्वारा संघीय प्राधिकार प्रयोग किया जा सकेगा, क्योंकि संघीय विधान–मंडल और संघीय कार्यपालिका में उनका स्वर मुखर होगा, उन्होंने संघ के पक्ष में निर्णय लिया। राजाओं की समस्या के संघीय समाधान ने उनके समक्ष दो लाभ प्रस्तुत किए। इनमें से पहला यह था कि राज्यों की ऐसी आंतरिक स्वायत्तता सुरक्षित होगी, जिसके लिए वे अधिक व्यग्र थे, क्योंकि इकाइयों को संघीय बनाने का सार यह है कि उनके हाथों में सभी शक्तियां बनी रहें, सिवाय उन शक्तियों के जिन्हें उन्होंने स्वेच्छा से केन्द्र को सौंप दिया है और जिन पर वे स्वयं भी किसी सीमा तक नियंत्रण करने के अधिकारी हैं। संघ का दूसरा लाभ यह था कि संघीय प्राधिकार के कार्य-क्षेत्र तक प्रभुसत्ता समाप्त हो जाएगी। इसलिए राजाओं का उद्देश्य स्वार्थ से भरा हुआ था और उनका प्रमुख उद्देश्य यह था कि वे यथासंभव भारत सरकार के राजनीतिक विभाग के प्राधिकार से मुक्त हो जाएं। यह राजाओं के प्रमुख हितों में से एक हित था। राजाओं को सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरा हित यह था कि यथासंभव उनके नागरिक और सैन्य सरकार की अपनी शक्तियों को सुरक्षित किया जाए। वे संघ को इतना दुर्बल बनाना चाहते थे, जितना कि संभव था, ताकि संघ उन पर कठोरता से व्यवहार न करे। राजाओं का हित दोहरा है। वे प्रभुसत्ता से बचना चाहते थे। दूसरे, वे नहीं चाहते थे कि संघ के प्राधिकार के अंतर्गत उन पर अधिक आधिपत्य रखा जाए। राजाओं ने संघ पर विचार करते हुए अपने सामने दो प्रश्न रखे। यह संघ उन्हें प्रभुसत्ता के अत्याचार से कितना बचा पाएगा? दूसरे, संघ की यह योजना उनकी प्रभुसंपन्नता और आंतरिक सरकार की उनकी शक्तियों को किस सीमा तक ले लेगी? वे पहले दृष्टिकोण से बहुत कुछ पाना चाहते थे और दूसरे में कम से कम देना चाहते थे।

मुसलमानों का जो हित था उसने उनकी पूर्ण दृष्टि को न केवल रंग दिया, बल्कि उसे इतना सीमित कर दिया कि उन्होंने कुछ और देखने की चिंता ही नहीं की। उनका हित अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में ही था। वे अपने बचाव के लिए केवल यही जानते थे कि हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग से कैसे छुटकारा पाया जाए। इसके फलस्वरूप उन्होंने अलग निर्वाचक-मंडल तथा प्रतिनिधित्व में अधिकता के साथ सीटों के आरक्षण के लिए मांग की। 1930 में उन्होंने यह पाया कि मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग को बचने के लिए एक अन्य प्रभावशाली तरीका है। वह यह था कि नए प्रांत बना लिए जाएं, जिनमें मुस्लिम बहुसंख्यक हों और हिन्दू अल्पसंख्यक। यह उन प्रांतों के प्रतिक्रियास्वरूप था, जहां

हिन्दू बहुसंख्यक थे और मुसलमान अल्पसंख्यक वर्ग के थे। उन्होंने इस पद्धति पर इसलिए बल दिया, क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि प्रांतों के संतुलन की इस पद्धति से मुसलमानों को मुस्लिम बहुल प्रांतों में हिन्दू अल्पसंख्यकों को अपने प्रांतों में बंधक जैसी स्थिति में रखने का अवसर मिलेगा, ताकि हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग उन प्रांतों में मुसलमानों के साथ भला व्यवहार करें, जहां मुसलमान अल्पसंख्यक वर्ग के थे। उनका सबसे प्रबल हित यह था कि मुस्लिम बहुल प्रांत बना दिए जाएं और उन्हें मजबूत तथा शक्तिशाली बनाया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुसलमानों ने सिंध को अलग कराने की मांग की और उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत में उत्तरदायी सरकार गठित कराने के लिए कहा, ताकि मुसलमान चार प्रांतों पर अपना शासन कर सकें। उन्होंने प्रांतों को शक्तिशाली बनाने के लिए इस बात पर जोर दिया कि केन्द्र को कमजोर कर दिया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन स्वरूप मुसलमानों ने यह मांग की कि शेष शक्तियों को प्रांतों को दे दिया जाना चाहिए और केन्द्र में हिन्दू प्रतिनिधित्व को कम कर देना चाहिए। ब्रिटिश भारत की कुल नियत सीटों में से एक तिहाई सीटों को ही मुसलमानों को न दिया जाए, बल्कि राजाओं के लिए कुल आबंटित सीटों में से भी एक तिहाई सीटें मुसलमानों को दे दी जाएं।

हिन्दू महासभा के माध्यम से प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दुओं को केवल एक बात की चिंता थी कि इस स्थिति का कैसे मुकाबला किया जाए, जिसे वे मुसलमानों की धमकी मानते थे। हिन्दू महासभा ने यह महसूस किया कि राज्यों का विलय हिन्दू शक्ति की अभिवृद्धि है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। उनके मत के अनुसार किसी भी मूल्य पर संघ की स्थापना आवश्यक थी।

एक अन्य वर्ग भारतीय व्यापारी समुदाय है, जिसका दृष्टिकोण विचार करने योग्य है। वाणिज्यिक समुदाय निस्संदेह भारत जैसे विशाल देश में एक लघु समुदाय है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समुदाय का दृष्टिकोण वस्तुतः किसी अन्य समुदाय के दृष्टिकोण की तुलना में अधिक निर्णायक है। यह समुदाय कांग्रेस का समर्थक रहा है। यह वही समुदाय है, जो कांग्रेस को संघर्ष के लिए संचालन-शक्ति उपलब्ध कराता है और यह जानता है कि कांग्रेस कैसे उनकी इच्छा की पूर्ति करा सकती है। व्यापारी समुदाय मुख्यतया वाणिज्यिक विभेद रुचि रखता है, और उसके साथ ही साथ विनिमय दर को भी घटाना चाहता है। यह बहुत ही संकुचित और सीमित दृष्टिकोण था। भारतीय व्यापारी समुदाय इस बात के लिए तत्पर है कि यूरोपवासियों को व्यापार और वाणिज्यि से अलग कर दिया जाए और वह उनका स्थान ले ले। उसका दावा है कि वह यह सब कुछ राष्ट्रीयता के नाम पर कर रहा है। वह चाहता है कि विनिमय दर घटा दी जाए और इस प्रकार वह अपने विदेशी व्यापार में लाभ उठाना चाहता है। यह भी वह राष्ट्रीयता के नाम पर करने का दावा करता है। सौदागर और व्यापार अपना ही लाभ कमाने के अतिरिक्त कोई अन्य विचार नहीं रखते।

मैं कांग्रेस के बारे में क्या कहूं? उसका क्या दृष्टिकोण था? मुझे विश्वास है कि मैं तथ्यों की न तो अतिशयोक्ति कर रहा हूं और न उनके बारे में कोई भ्रम पैदा कर रहा हूं, जब मैं यह कहता हूं कि गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का दृष्टिकोण था कि कांग्रेस ही भारत में अकेली पार्टी है और अन्य किसी पार्टी ने अपना स्थान नहीं बनाया, अतः ब्रिटिश सरकार को केवल कांग्रेस से ही समझौता करना चाहिए। गोलमेज सम्मेलन में श्री गांधी के गीत की यही टेक थी। वह अपने इस दावे को स्थापित करने में ही व्यस्त रहे कि उन्हें भारत के प्रमुख के रूप में ब्रिटिश द्वारा मान्यता दी जाए और वह यह पूर्णतः भूल गए कि महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं था कि किसके साथ समझौता किया जाना चाहिए, अपितु समझौते की शर्तें क्या हैं। जहां तक समझौते की शर्तों का संबंध है, श्री गांधी अपने इस कार्य में असमर्थ रहे। जब वह लंदन गए तो वह यह भूल गए कि उनके सामने वे लोग नहीं हैं, जो उनके पास परामर्श लेने के लिए आते हैं और उनका आशीर्वाद लेकर वापस चले जाते हैं। परन्तु उनके सामने ऐसे व्यक्ति थे, जो उन्हें एक ऐसा व्यक्ति समझेंगे, जैसा कि एक अधिवक्ता जिरह कक्ष में किसी व्यक्ति को समझता है। श्री गांधी यह भी भूल गए कि वह एक राजनीतिक सम्मेलन में जा रहे थे। वह वहां ऐसे गए जैसे कि वह किसी वैष्णव मंदिर में नरसी मेहता के गीत गाते हुए जा रहे हैं। जब मैं इस पूरे प्रकरण के बारे में विचार करता हूं तो मैं आश्चर्यचकित रह जाता हूं कि क्या किसी देश ने राष्ट्रीय समझौते की शर्तों पर विचार-विमर्श के लिए ऐसा प्रतिनिधि भेजा, जो श्री गांधी जैसा अयोग्य व्यक्ति हो। श्री गांधी इस समझौते में विचार-विमर्श करने के लिए कितने अयोग्य थे, यह तथ्य इस बात से स्पष्ट होता है कि कोई भी यह मूहसूस कर सकता है कि भारत का राजदूत केवल प्रांतीय स्वायत्तता का समझौता करके भारत लौटने को तैयार था, जब कि वास्तव में उन्हें स्वतंत्रता के आधार पर विचार-विमर्श के लिए भेजा गया था। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसने गोलमेज सम्मेलन में भारत के हितों के लिए ऐसी दुखद स्थिति पैदा की हो, जैसी कि श्री गांधी ने पैदा कर दी थी। उनके बारे में जितना कम कहा जाए, उतना अच्छा है।

इन हितों में से प्रत्येक हित संघीय योजना से, जैसी कि आज संघीय योजना की स्थिति है, कितना संतुष्ट महसूस करता है, इसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। फिर भी, कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि क्या केवल ये ही दृष्टिकोण हैं, जिन पर यह निर्णय करने के लिए विचार किया जाए कि हम इस संघ का क्या करेंगे? मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि ऊपर बताए गए दृष्टिकोणों के अलावा अन्य दृष्टिकोण भी हैं, जिनकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। स्वतंत्र व्यक्ति का भी दृष्टिकोण होता है। गरीब आदमी का भी दृष्टिकोण होता है। वे संघ के बारे में क्या कहना चाहते हैं? संघ की व्याख्या में इन लोगों की बात नहीं कही गई है, फिर भी ये ऐसे लोग हैं, जिनका इस सबसे गहन संबंध है। क्या स्वतंत्र व्यक्ति यह आशा कर सकता है कि संघीय संविधान उसकी स्वतंत्रता में एक अवरोध नहीं होगा? क्या गरीब व्यक्ति यह महसूस करता है कि संविधान पुराने मूल्यों पर पुनर्मूल्यांकन करने योग्य उसे बना सकेगा और जो विहित अधिकार

हैं, वे क्या घटाए जा सकेंगे? मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि यह संघ अपने अस्तित्व में आता है तो स्वतंत्र व्यक्ति के लिए यह अनवरत चलने वाला संकट हो जाएगा और गरीब व्यक्ति के मार्ग में रोड़ा बन जाएगा। ऐसी स्थिति में क्या स्वतंत्रता हो सकती है, यदि आपको राजाओं की निरंकुशता के अधीन रहना हो, क्या बेहतर आर्थिक सुधार हो सकेंगे, जब द्वितीय चैंबरों के अपने ही हित में विहित अधिकार हों और जब संपत्ति को प्रभावित करने वाले कानून को प्रस्तुत करने के पहले और उसके पारित हो जाने के बाद, दोनों ही स्थितियों में सरकार द्वारा स्वीकृति लेनी हो?

11
निष्कर्ष

शायद मैंने आपका इतना अधिक समय ले लिया, जितना कि मुझे नहीं लेना चाहिए था। आप मुझे यह कहने की अनुमति देंगे कि इसमें पूरी तरह मेरा ही दोष नहीं है। एक कारण यह है कि विषय विशाल था, जिसके लिए मुझे आपको अधिक समय तक संबोधित करना पड़ा।

फिर भी, मैं यह स्वीकार करता हूं कि एक अन्य कारण भी है, जिसने मुझे इस भाषण को कम करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। आज हम ऐसे समय में खड़े हैं, जहां प्राचीन युग समाप्त होता है और नए युग का श्रीगणेश होता है। पुराना युग रानाडे, अगारकर, तिलक, गोखले, वाच्छा, सर फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का युग था। नया युग श्री गांधी का युग है और यह पीढ़ी गांधी की पीढ़ी कहलाती है। यदि कोई व्यक्ति पुराने युग के बारे में कुछ भी जानता है और नए युग के बारे में भी कुछ जानता है तो मैं समझता हूं कि इन दोनों में निश्चय ही अंतर है। नेतृत्व में पर्याप्त परिवर्तन आया है। रानाडे के युग में नेताओं ने भारत के आधुनिकीकरण के लिए संघर्ष किया। गांधी के युग में नेता देश को पुरातन का जीवित नमूना बना रहे हैं। रानाडे के युग में नेता अपने विचारों और कृत्यों के सुधार के उपाय के लिए अनुभव पर आश्रित रहा करते थे। आज के युग में नेता अपने मार्गदर्शक की अंतरात्मा के स्वर पर निर्भर करते हैं। उनकी विचार पद्धति में ही अंतर नहीं, अपितु बाह्य छवि से संबंधित उनके दृष्टिकोण में भी अंतर है। पुराने युग के नेता इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि वे पूर्ण परिधान धारण करें, परंतु आज के युग में नेता लोग अर्द्धनग्न रहने में आनंद उठाते हैं। गांधी युग के नेता इस अंतर से भी भली-भांति अवगत हैं। परंतु अपने दृष्टिकोण और अपनी छवि से झेंपने की बजाए दावा करते हैं कि गांधी का भारत रानाडे के भारत से अधिक श्रेष्ठ है। उनका कहना है कि श्री गांधी का युग उत्तेजना और आशा का युग है, जबकि श्री रानाडे का युग ऐसा नहीं था।

रानाडे युग और गांधी युग, दोनों में ही जो व्यक्ति रहें हैं, वे स्वीकार करते हैं कि उन दोनों युगों में अंतर है। इसके साथ ही वे इस बात पर भी बल देना चाहेंगे कि

यदि रानाडे का भारत कम उत्तेजित था तो वह अधिक ईमानदार था, यदि रानाडे का भारत कम आशा रखता था तो वह अधिक प्रबुद्ध था। रानाडे युग ऐसा युग था, जिसमें पुरुष और महिलाएं अपने जीवन के तथ्यों के अध्ययन और जांच करने में गंभीरता से व्यस्त थे और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि रुढ़िवादी जनसमूह के विरोध में उन्होंने अपने जीवन और चरित्र को ऐसा स्वरूप दिया जो उस दृष्टिकोण के अनुसार था, जिसे उन्होंने अनुसंधान के फलस्वरूप प्राप्त किया था। रानाडे के युग में राजनीतिज्ञ और विद्यार्थी के बीच में संबंध विच्छेद नहीं था, जैसा कि गांधी युग में पाया जाता है। रानाडे के युग में यदि कोई राजनीतिक विद्यार्थी नहीं था तो उसे अवांछित व्यक्ति माना जाता था, चाहे उसे खतरा न समझा जाए। श्री गांधी के युग में सीखने की प्रवृत्ति को यदि हेय नहीं समझा जाता है तो निश्चय ही उसे राजनीतिज्ञ की आवश्यक योग्यता नहीं माना जाता है।

मेरे विचार से इसमें कोई संदेह नहीं है कि गांधी युग भारत का अंधकार युग है। यह ऐसा युग है, जिसमें लोग भविष्य में अपने आदर्शों को फलीभूत देखने की बजाए पुरावशेष की ओर लौट रहे हैं। यह ऐसा युग है, जिसमें लोगों ने अपने बारे में विचार करना बंद कर दिया है और चूंकि उन्होंने विचार करना बंद कर दिया है, इसलिए उन्होंने अपने जीवन के तथ्यों का अध्ययन और उनकी जांच करना भी बंद कर दिया है। अनभिज्ञ लोकतंत्र के भाग्य के बारे में विचार करना शोचनीय है, क्योंकि ऐसा लोकतंत्र विद्वता और अनुभव द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण नहीं करता है और रहस्यवादियों तथा महत्वाकांक्षियों के अंधकारपूर्ण मार्ग में टटोल कर चलना पसंद करता है। मैंने यह विचार किया कि संघीय योजना की केवल विवरणात्मक रूपरेखा देने से कहीं अच्छा है कि इस युग का मूल्यांकन किया जाए। इसको ऐसे उपचार की आवश्यकता है, जो पूर्ण होते हुए भी लंबा नहीं है, जो सही होते हुए भी हठधर्मी नहीं है; ताकि इसको संघीय योजना के उद्‌घाटन से उत्पन्न होने वाले खतरों के प्रति सचेत कर दिया जाए। यही कार्य है, जिसे मैंने अपने भाषण को तैयार करने में विचार बिंदु बनाया है। क्या मैं इस कार्य में असफल या सफल रहा? यह बात आपके सोचने, समझने और कहने के लिए है। यदि यह भाषण लंबा है और इस कमी को विचारों की गहनता से पूरा नहीं किया गया है तो मैं केवल यह कह सकता हूं कि मैंने अपने अर्जित ज्ञान तथा अनुभव से अपने कर्त्तव्य को निभाने का प्रयास किया है।

मैं संघीय सरकार का विरोधी नहीं हूं। मैं स्वीकार करता हूं कि मैंने एकल सरकार के लिए पक्षपात किया है। मेरा विचार है कि भारत को इसकी आवश्यकता है। परंतु मैं यह महसूस करता हूं कि संघीय सरकार अनिवार्य है, यदि प्रांतीय स्वायत्तता दी जाती है। परंतु मैं भारत सरकार अधिनियम में दी गई संघीय योजना से अधिक भयभीत हूं। मैंने पर्याप्त कारण देकर अपने विरोध का औचित्य सिद्ध किया है। मैं चाहता हूं कि आप सभी इस बात की जांच करें और अपने निष्कर्षों पर पहुंचें। फिर भी, हमें यह मसहूस

करना चाहिए कि प्रांतीय स्वायत्तता का मामला संघीय योजना से कहीं भिन्न है। मैं उन लोगों से दो बातें कहना चाहता हूं, जो ये विचार करते हैं कि संघ स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। यदि गवर्नर-जनरल उन्हीं आधारों पर यह आवश्वासन दें, जैसा कि गवर्नरों द्वारा विचार किया गया था कि वे अपने विशेष उत्तरदायित्वों में अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। सबसे पहले मैं इस बात से आश्वसत हूं कि गवर्नर-जनरल इस प्रकार का आश्वासन नहीं दे सकते, क्योंकि वह सम्राट के हित में ही इन शक्तियों का प्रयोग नहीं करते, अपितु राज्यों के हित में भी इन शक्तियों का उपयोग करते हैं। दूसरे, यदि उन्होंने ऐसा किया तो इससे संघीय योजना की प्रकृति में परिवर्तन नहीं हो सकता। जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि नामाकंन से निर्वाचन तक राज्य के प्रतिनिधित्व की पद्धति में परिवर्तन संघ को कम आपत्तिजनक बनाएगा, उनसे मैं यह कहना चाहता हूं कि वे मामले के विवरण की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं, जब कि यह मामला आधारभूत है। हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि आधारभूत क्या होता है और आधारभूत क्या नहीं होता। इस बारे में कोई भूल नहीं होनी चाहिए और इस बारे में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। हमने इन दोनों स्थितियों के बारे में पर्याप्त जान लिया है। असली प्रश्न उत्तरदायित्व का विस्तार और उसकी समृद्धि का है। क्या यह संभव है? यही मूल प्रश्न है। हमें यह भी महसूस करना चाहिए कि प्रांतीय स्वायत्तता से चिपके रहने और केन्द्र में उत्तरदायित्व के प्रश्न को लटकाए रखने से कोई लाभ नहीं है। मैं इस बात से आश्वस्त हूं कि केन्द्र में वास्तविक उत्तरदायित्व के बिना प्रांतीय स्वायत्तता सारहीन है।

हमें अपने दृष्टिकोण पर बल देना चाहिए। इस संबंध में विचार-विमर्श करने के लिए यह उचित स्थान नहीं है। यदि मैंने आपको इस संघीय योजना के खतरों के बारे में सम्यक विचार देने में सफलता पाई है तो यह पर्याप्त है।

3

सांप्रदायिक गतिरोध और उसके समाधन के उपाय

बंबई में 6 मई, 1945 को आयोजित
अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ
के अधिवेशन में दिया गया भाषण

1945 में प्रकाशित

सांप्रदायिक गतिरोध और उसके समाधन के उपाय

अध्यक्ष महोदय,

मैं वास्तव में आपका अत्यंत आभारी हूं कि आपने मुझे अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ के वार्षिक अधिवेशन को संबोधित करने के लिए आमंत्रित करने की कृपा की। मुझे अनुसूचित जातियों के इस विशाल जनसमूह को यहां देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। यह देखते हुए कि इस परिसंघ की स्थापना को अभी कुछ ही समय हुआ है, परिसंघ का यह विकास हर दृष्टि से अद्‌भुत है। भारत-भर की अनुसूचित जातियां इस संघ में सम्मिलित हुई हैं और यह बात निर्विवाद है कि लोगों का यह पक्का इरादा है कि वे इस संघ को ही अपना प्रतिनिधि संगठन बनाएंगे। इस संघ का इतने कम समय में जो विस्तार हुआ है, उसका तब तक अनुमान नहीं किया जा सकता, जब तक कि हमारे संगठन के मार्ग में आने वाली जबरदस्त कठिनाइयों को भली प्रकार न समझ लिया जाए। अन्य राजनीतिक संगठनों के कुछ ऐसे एजेंट हैं, जो हमारे लोगों को झूठे प्रलोभन देकर उनसे झूठे वायदे करके और झूठे प्रचार से उन्हें फुसलाते रहते हैं। यह हमारे अपने ही लोगों की अज्ञानता है, जो उस संकट-काल को नहीं जानते, जिसमें हम रह रहे हैं और वे यह भी नहीं जानते कि हमारे राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का कितना महत्व है। हमारे पास जो साधन हैं, वे बहुत ही कम हैं। हमारे पास धन नहीं है। हमारा अपना कोई समाचार-पत्र नहीं है। हमारे लोगों पर भारत-भर में आए दिन जो निर्मम अत्याचार होते हैं, उनका जिस प्रकार दमन किया जाता है, उसकी सूचना समाचार-पत्रों में नहीं छपती। यहां तक कि समाचार-पत्र हमारे सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से संबंधित विचारों को जान-बूझकर जनता के सामने नहीं आने देते और यह सब समाचार-पत्रों की सुसंगठित साजिश का नतीजा है। हमारे पास धन नहीं है कि हम कोई ऐसी व्यवस्था कायम कर सकें, जिससे अपने लोगों की सहायता की जाए और उन्हें शिक्षित किया जाए, आंदोलित किया जाए तथा उन्हें संगठित किया जा सके।

यही वे कठिनाइयां हैं, जिनसे हमें निपटना है। इन कठिनाइयों के बावजूद हमारे परिसंघ का इतना विस्तार होना हमारे ही उन लोगों के प्रयासों का परिणाम है, जिन्होंने अपने अथक परिश्रम और निस्वार्थ भावना के साथ समर्पित होकर अपने को इस संगठन

के निर्माण में लगाया है। मुझे विश्वास है कि आप यह चाहेंगे कि मैं बंबई नगर अनुसूचित जाति परिसंघ के अध्यक्ष श्री गणपति महादेव जाधव के कार्य की प्रशंसा में दो शब्द कहूं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उनमें अद्‌भुत संगठनात्मक क्षमता है। मुझे विश्वास है कि इस अधिवेशन की सफलता अधिकांशतः उन्हीं के प्रयासों का परिणाम है और इस सफलता का श्रेय उन लोगों को भी जाता है, जो उनके सहयोगी रहे हैं।

साधारणतः ऐसी जनसभा में मुझे अनुसूचित जातियों की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं में से किसी पर भाषण देना चाहिए था और हमारे लोग भी यही चाहेंगे कि मैं किसी ऐसी ही समस्या पर बोलूं। परन्तु मेरा ऐसे सांप्रदायिक विषय पर भााषण देने का कोई इरादा नहीं है। मैं तो ऐसे विषय पर भाषण देना चाहूंगा, जा सामान्य है और जिसमें लोगों की व्यापक रुचि हो, जैसे कि भारत के भावी संविधान का आकार और स्वरूप।

मेरे लिए यह बता देना भी अनुचित न होगा कि मेरे इस निर्णय के क्या कारण हैं। फिलहाल अनुसूचित जातियों के आंदोलन का नेतृत्व करने तथा दिन-प्रतिदिन की इसकी समस्याओं का सामना करने का दायित्व मेरे कंधों पर नहीं है। मैं अपने कार्यभार के कारण इस कार्य से बाहर हूं, न ही इस भार को स्वीकार करने की मेरी कोई इच्छा है यही एक ऐसा कारण है जिससे मैं इस सांप्रदायिक विषय पर नहीं बोलना चाहता, जो केवल अनुसूचित जातियों से ही संबंधित है।

अनुसूचित जातियों पर प्रायः यह दोषारोपण किया जाता है कि वे स्वार्थी हैं और उनकी अपने में ही रुचि होती है तथा उनके पास देश की राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए भी कोई रचनात्मक सुझाव नहीं है। यह आरोप झूठा है और यदि यह सच भी है तो अस्पृश्य ही ऐसे नहीं हैं जो इसके दोषी पाए जाएं। भारत के अधिसंख्य लोगों का यही हाल है कि वे रचनात्मक सुझाव नहीं देते। इसका कारण यह नहीं कि उन लोगों में रचनात्मक सुझाव देने की क्षमता नहीं है। सभी रचनात्मक विचार क्यों प्रकट नहीं हो पाते, इसका कारण यह है कि एक दीर्घकालीन और अनवरत प्रचार ने आम लोगों के मन में यह बात बैठा दी है कि कोई भी बात तब तक आदरभाव से नहीं देखी जानी चाहिए और स्वीकार नहीं की जानी चाहिए, जब तक कि वह बात कांग्रेस ने न उठाई हो। यही वह भावना है, जिसने इस देश के रचनात्मक विचार के स्रोतों को नष्ट कर दिया है। साथ ही, मेरा विचार है कि अनुसूचित जातियों के विरुद्ध लगाए गए इस आरोप का सकरात्मक ढंग से प्रतिवाद किया जाना चाहिए और यह दिखा देना चाहिए कि अनुसूचित जातियां देश की सामान्य राजनीति उन्नति के लिए रचनात्मक सुझाव देने में सक्षम हैं, जिन्हें यदि यह देश चाहे तो उन पर विचार कर सकता है। यह दूसरा कारण है जिसने मुझे इस अवसर पर सामान्य रुचि के विषय का चयन करने के लिए प्रेरित किया है।

2
संविधान के निर्माण के लिए उत्तरदायित्व

इससे पूर्व कि मैं संवैधानिक प्रस्तावों को जो मेरे मस्तिष्क में हैं, ठोस रूप में प्रस्तुत करूं, मैं दो प्रारंभिक विषय उठाना चाहता हूं। पहला विषय है : भारत का संविधान कौन तैयार करे? इस प्रश्न का उठाया जाना इसलिए आवश्यक है कि भारत में ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्होंने यद्यपि यह मांग तो नहीं की है, परन्तु उन्हें यह आशा जरूर है कि ब्रिटिश सरकार इस गतिरोध को समाप्त करके भारत के संविधान का निर्माण करेगी। मैं सोचता हूं कि यह विचार सर्वथा भ्रामक है, जिसका भंडाफोड़ करना आवश्यक है। ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया और भारतीयों पर थोपा गया संविधान अतीत के लिए ही पर्याप्त था। परंतु यदि उस भावी संविधान की प्रकृति को समझा जाए जिसकी मांग भारतीय कर रहे हैं और उस संविधान को ध्यान में रखा जाए, तो यह स्पष्ट है कि आरोपित संविधान से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी।

भारत के पूर्वकालिक संविधानों तथा भावी संविधान में मौलिक अंतर है, और यदि लोग अब भी भारत का संविधान तैयार करने के लिए अंग्रेजों पर विश्वास करते हैं, तो यह लगता है कि उन लोगों ने इस अंतर को अभी तक महसूस नहीं किया है। यह अंतर इस बात से स्पष्ट है कि पूर्वकालिक संविधानों में शासन-भंग खंड शामिल किया गया था। परंतु भारत के भावी संविधान में इस प्रकार शासन-भंग खंड शामिल नहीं किया जा सकता। भारत के लोग शासन-भंग खंड की निंदा करते हैं, जो कि अभी तक भारत सरकार अधिनियम, 1935 की कुख्यात धारा 93 रही है। वे यह नहीं जानते कि इस अधिनियम में क्यों और कैसे इस धारा को स्थान दिया गया। यदि किसी समुदाय के राजनीतिक जीवन को प्रशासित करने वाले दो महत्वपूर्ण विचार ध्यान में रखे जाएं, तो इसका महत्व स्पष्ट हो जाएगा। इनमें से प्रथम विचार यह है कि कानून और व्यवस्था राष्ट्र के लिए एक प्रकार की औषधि है और जब राष्ट्र में विकार उत्पन्न हो जाए तो इस औषधि का प्रयोग किया जाना चाहिए। वास्तव में, यह विचार इतना महत्वपूर्ण है कि यदि इस औषधि का सेवन न कराया जाए तो इसे समाज और सभ्यता के विरुद्ध अपराध समझा जाना चाहि। दूसरा विचार यह है कि यद्यपि यह सत्य है कि किसी भी सरकार का शासन करने का निहित अधिकार नहीं होता, पर यह भी उतना ही सच है कि शासन करने के लिए कोई न कोई सरकार होनी चाहिए-जिससे मेरा तात्पर्य कानून और व्यवस्था स्थापित करने से है-जब तक कि कोई बेहतर सरकार उसका स्थान न ग्रहण करे। शासन-भंग करने वाले खंड से इन दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है। इस प्रकार लोगों के अमन-चैन के लिए इसका भारी महत्व है। यही एकमात्र उपाय है, जिससे देश को अराजकता से बचाया जा सकता है, क्योंकि जब संवैधानिक सरकार असफल हो जाती है, तब शासन-भंग करने वाले खंड में कम से कम सरकार को बनाए रखने की क्षमता तो होती है।

गत वर्षों में संवैधानिक सरकार और ऐसी सरकार में भेद व्यवहार्य समझा जाता था, जिसके लिए यह प्रावधान किया गया था कि यदि संवैधानिक सरकार असफल हो जाए तो उसके स्थान पर वह सरकार स्थान ग्रहण कर सकती है। यह व्यवहार्य था, क्योंकि एक ओर ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को संवैधानिक सरकार बनाने का अधिकार दिया था, तो दूसरी ओर उसने संवैधानिक सरकार असफल हो जाने की स्थिति में शासन करने का अधिकार अपने ही हाथ में रखा था। भारत के भावी संविधान में इस भेद को बनाए रखना संभव नहीं होगा। ब्रिटिश सरकार के लिए ही यह संभव नहीं होगा कि भारतीयों को संवैधानिक सरकार बनाने का अधिकार दिया जाए और उस स्थिति में शासन करने का अधिकार वह अपने ही हाथ में रखे, जब कि संवैधानिक सरकार भंग हो जाए। इसका कारण स्पष्ट है। भारत के गत संविधानों में भारत को औपनिवेशिक राज्य नहीं समझा गया था। भावी संविधान इस परिकल्पना पर बनाया जाएगा कि भारत एक औपनिवेशिक राज्य होगा। संवैधानिक सरकार के असफल हो जाने पर शासन-भंग खंड अथवा सरकार के हस्तक्षेप की संभावना का समाधान उस देश में ही किया जा सकता है, जो कि औपनिवेशिक राज्य की स्थिति में न हो। लेकिन औपनिवेशिक राज्य होने पर इन दोनों में समाधान नहीं किया जा सकता। औपनिवेशिक राज्य अथवा किसी स्वतंत्र देश के मामले में या तो संवैधानिक सरकार होती है अथवा विद्रोह होता है।

इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि शासन-भंग होने की संभावना होने पर भारतीय औपनिवेशिक राज्य के लिए संविधान तैयार किया जाना असंभव है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि संविधान ऐसा तैयार किया जाना चाहिए कि सभी न केवल उसका पालन करें, बल्कि उसका सम्मान भी करें और सभी अथवा यदि सभी न हों तो कम से कम भारत के राष्ट्रीय जीवन के सभी महत्वपूर्ण तत्व इसको बनाए रखने के लिए तैयार रहें और इसका समर्थन करें। यह तभी हो सकता है, जब संविधान भारतीयों द्वारा भारतीयों के लिए तैयार किया जाए और इस कार्य के लिए भारतीयों की स्वैच्छिक अनुमति ली जाए। यदि संविधान ब्रिटिश सरकार द्वारा आरोपित किया जाता है और इसे कोई एक वर्ग स्वीकार करता है और दूसरा वर्ग उसका विरोध करता है, तो देश में एक ऐसा तत्व उभरेगा, जो संविधान के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाएगा और उसकी शक्ति संविधान को लागू करने की बजाए उसे भंग करने में लग जाएगी। संविधान विरोधी दल संविधान को नष्ट करना ही अपना कर्तव्य समझेगा और वह वास्तविक लैटिन अमरीकी शैली में संविधान लागू करने वाले दल के विरुद्ध प्रचार करने में ही व्यस्त रहेगा।

ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत के लिए संविधान बनाना निरर्थक है, क्योंकि वे उस संविधान को लागू करने के लिए यहां रहेंगे ही नहीं। एक सशक्त वर्ग द्वारा अथवा ऐसे ही अन्य वर्गों के समूह द्वारा अन्य वर्गों पर संविधान को आरोपित करने का भी यही परिणाम होगा। इसलिए मेरा यह दृढ़ मत है कि यदि भारतीय औपनिवेशिक राज्य का दर्जा चाहते हैं, तो वे अपने संविधान निर्माण के अपने दायित्व से बच नहीं सकते। इस प्रकार यह स्थिति अपरिहार्य है।

3

संविधान सभा

मैं जो दूसरा प्रश्न उठाना चाहता हूं, वह यह है : क्या संविधान सभा होनी चाहिए, जिसे संविधान निर्माण करने का कार्य सौंपा जाए? संविधान सभा का जिक्र प्रत्येक व्यक्ति की जबान पर है। कांग्रेस दलों ने अपने प्रस्तावों में, जो कांग्रेस मंत्रिमंडल के त्याग-पत्र देने से पूर्व पारित किए थे, यह मांग की थी कि भारत के संविधान का निर्माण भारतीयों द्व ारा बनाई गई संविधान सभा द्वारा किया जाए। क्रिप्स के प्रस्तावों में संविधान सभा के गठन का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। सप्रू सीमित ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया है।

मैं यह बताना चाहूंगा कि मैं संविधान सभा के प्रस्ताव के पूरी तरह विरुद्ध हूं। यह बहुत ही अनावश्यक है। मैं मानता हूं कि यह एक ऐसी खतरनाक योजना है, जो इस देश को गृह-युद्ध में झोंक सकती है। पहले तो मेरी समझ में यही नहीं आता कि संविधान सभा की क्यों आवश्यकता है। भारतीयों की वैसी स्थिति नहीं है, जैसी कि अमरीका के संविधान-निर्माताओं की उस समय थी, जब उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान बनाया था। उन्हें ऐसे विचार प्रस्तुत करने थे, जो स्वतंत्र लोगों के संविधान के लिए उपयुक्त थे। उनके सामने संविधान के ऐसे नमूने नहीं थे, जिनका संदर्भ-सामग्री के रूप में उपयोग किया जा सके। लेकिन भारतीयों के संबंध में ऐसी स्थिति नहीं हो सकती। संवैधानिक विचार और संवैधानिक प्रारूप सुलभ हैं। फिर भी चयन की बहुत कम गुंजाइश है। दो या तीन संविधान से अधिक संविधानों के नमूने उपलब्ध नहीं हैं, जिनमें से चयन किया जाए। तीसरे, शायद ही कोई बड़ा और केवल संवैधानिक प्रश्न हो, जिसके बारे में यह कहा जा सके कि भारतीयों में अधिक विवाद है। इस प्रश्न पर सहमति है कि भावी भारतीय संविधान संघीय होना चाहिए। यह भी लगभग तय हो चुका है कि कौन-कौन से विषय केन्द्र सरकार के पास रहेंगे और कौन-कौन से विषय प्रांतों को सौंपे जाएंगे। राजस्व के विभाजन के बारे में केन्द्र और प्रांतों के बीच कोई विवाद नहीं है और मताधिकार के बारे में भी कोई विवाद नहीं है। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका का विधायिका और कार्यपालिका के साथ क्या संबध होगा, इस पर भी कोई विवाद नहीं है। विवाद का जो मुद्दा अनिर्णित है, वह अवशिष्ट शक्तियों के प्रश्न से संबंद्ध है कि क्या ये शक्तियां केन्द्र के हाथ में रहें अथवा प्रांतों को दे दी जाएं। परंतु यह मामला मामूली है। वास्तव में, वर्तमान भारत सरकार अधिनियम में दी गई व्यवस्था को श्रेष्ठ समझौते के रूप में अपनाया जा सकता था।

इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं यह नहीं समझ पा रहा कि संविधान के निर्माण के लिए संविधान सभा क्यों आवश्यक है। भारत सरकार अधिनियम, 1935 में भारत का संविधान पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ऐसा लगता है कि संविधान सभा गठित करना केवल उसी कार्य की पुनरावृत्ति जान पड़ती है, जो एक बार फिर किया जाना है। अब केवल यह करना आवश्यक है कि भारत सरकार अधिनियम, 1935 की उन सभी धाराओं को निकाल

दिया जाए, जिनमें औपनिवेशिक राज्य के दर्जे का विरोध किया गया है।

संविधान सभा के लिए केवल एक ही कार्य शेष है कि सांप्रदायिक समस्या का किस प्रकार समाधान किया जाए। मेरा दृढ़ विचार है कि संविधान सभा के विचारार्थ विषय कुछ भी क्यों न हों, सांप्रदायिक प्रश्न को उनमें सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। सप्रू समिति ने जो सुझाव दिए हैं, उनके अनुसार संविधान सभा के गठन पर विचार करना चाहिए। कुल सदस्यों की संख्या 160 निर्धारित की गई है। प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अंतर्गत चुनाव होगा और उपस्थिति तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के तीन चौथाई बहुमत से निर्णय लिया जाएगा। क्या अल्पसंख्यक वर्ग इस संविधान सभा को सुरक्षित संस्था मान सकते हैं, जिसकी निष्पक्षता के प्रति वे पूर्ण रूप से आश्वस्त हो सकें? इस प्रश्न का उत्तर दो अन्य प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करता हैः क्या इससे यह गारंटी मिल सकेगी कि संविधान सभा में निर्वाचित अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि वर्ग के प्रतिनिधि इसके सच्चे प्रतिनिधि होंगे? दूसरे, क्या इससे यह गारंटी मिल सकती है कि किसी विशेष अल्पसंख्यक वर्ग के दावों के संबंध में संविधान सभा का निर्णय वास्तव में किसी अल्पसंख्यक वर्ग पर आरोपित नहीं किया जाएगा? इन प्रश्नों में से किसी भी प्रश्न पर मैं विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि अल्पसंख्यक वर्ग को डरने की आवश्यकता नहीं है।

इन प्रश्नों को उठाने से पूर्व मैं यह बताना चाहूंगा कि संविधान सभा के बारे में क्रिप्स समिति और सप्रू समिति की योजना में क्या अंतर है :

(1) सप्रू समिति ने संविधान सभा के कुल सदस्यों की सुख्या 160 निर्धारित की है। सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने कोई भी संख्या निर्धारित नहीं की। परंतु उनके प्रस्ताव में यह व्यवस्था की गई है कि संविधान सभा में प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों की कुल संख्या का 10 प्रतिशत भाग होगा, अर्थात् यह संख्या निर्धारित कर दी गई है जो लगभग 158 होती है। इसमें केवल दो सदस्यों का अंतर है।

(2) सप्रू समिति द्वारा संविधान सभा के चुनाव का जो तरीका बताया गया है, वह आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अंतर्गत संयुक्त चुनाव-पद्धति से हुआ चुनाव है। इस तरीके में संविधान सभा के गठन के लिए क्रिप्स योजना तथा सप्रू योजना में कोई अंतर नहीं है।

(3) क्रिप्स योजना के अंतर्गत संप्रदाय आधारित आरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं था। इस प्रकार सप्रू योजना क्रिप्स योजना से भिन्न है, क्योंकि इसके अनुसार निर्धारित अनुपात में विशेष समुदायों के लिए स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था है। यह अंतर केवल साधारण-सा है। यद्यपि क्रिप्स योजना में संख्या का निर्धारण नहीं किया गया, तथापि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की योजना का वास्तव में यही परिणाम होता कि इस प्रकार का आरक्षण हो। इन दोनों योजनाओं के अंतर्गत प्रतिनिधित्व के कोटा का अंतर आगे दी गई तालिका में दिखाया गया है।

समुदाय और उनके हित	संविधान सभा की सीटों का कोटा	
	क्रिप्स योजना के अंतर्गत	सप्रु योजना के अंतर्गत
हिन्दू	77	51
मुसलमान	50	51
अनुसूचित जातियां	15	20
सिख	3	8
भारतीय ईसाई	2	7
आंग्ल भारतीय	1	2
यूरोपीय	6	1
आदिवासी जनजातियां	2	3
विशेष हित	-	16
अन्य	2	1
	158	160

सप्रू समिति ने संविधान सभा के गठन में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों की संख्या ही निर्धारित नहीं की, बल्कि इस समिति ने मुसलमानों को हिन्दुओं के बराबर स्थान देने का प्रस्ताव किया। इस विचलन के लिए समिति का तर्क यह है कि इस प्रस्ताव के प्रतिफल के रूप में उसने संविधान सभा में चुनाव के लिए आधार के रूप में संयुक्त चुनाव-पद्धति की मांग की है। इस संबंध में यह कहना चाहिए कि समिति ने क्रिप्स के प्रस्तावों को बिल्कुल गलत समझा है। क्रिप्स के प्रस्तावों में संयुक्त चुनाव-पद्धति की पहले ही व्यवस्था कर दी गई थी क्योंकि उनमें एक खंड इस प्रकार है- 'प्रांतीय विधान-मंडलों के अवर सदनों के सदस्यों से एकल निर्वाचक-मंडल गठित होगा।' इसी बात को दूसरे तरीके से इस प्रकार कहा जा सकता है कि चुनाव संयुक्त चुनाव-पद्धति द्वारा किया जाएगा। इससे एक पक्ष को तो बिना किसी शर्त के कुछ दे दिया गया है और ऐसा करके अन्य समुदायों के लिए संकट पैदा कर दिया गया है।

(4) क्रिप्स प्रस्ताव के अंतर्गत सभा का निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत तथा मतदान से किया जाना था। सप्रू प्रस्ताव के अंतर्गत निर्णय उपस्थित सदस्यों में से तीन चौथाई सदस्यों के बहुमत तथा मतदान से किया जाता है।

अब दोनों प्रश्नों पर फिर से विचार कर लिया जाए। प्रथम प्रश्न के संबंध में स्थिति क्या है? इसके बारे में कोई मत प्रकट करने के लिए पहले यह आवश्यक है कि प्रांतीय विधान सभाओं की सदस्यता का संप्रदाय आधारित वितरण जान लिया जाए। अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में उस स्थिति का संक्षिप्त सार दिया गया है।

प्रांतीय विधान सभाओं में समुदायों के आधार पर सीटों का वितरण*

समुदाय	सामान्य	महिलाएं	विश्वविद्यालय	मजदूर संघ	वाणिज्य	जमींदार	योग
1	2	3	4	5	6	7	8
1. हिन्दू	651	26	7	33	31	22	770
2. मुसलमान	482	10	1	5	6	13	517
3. अनुसूचित जातियां	151	-	-	-	-	-	151
4. भारतीय ईसाई	20	1	-	-	-	-	21
5. आंग्ल भारतीय	11	1	-	-	-	-	12
6. सिख	34	1	-	-	-	1	36
7. यूरोपीय	26	-	-	-	19	1	46
8. आदिवासी	24	-	-	-	-	-	24
योग	1,399	39	8	38	56	37	1,577

क्या सप्रंदाय आधारित आरक्षण का सप्रू समिति ने जो प्रस्ताव किया है और जो क्रिप्स प्रस्ताव में नहीं पाया जाता, कोई महत्व है? यह इस बात पर निर्भर करता है कि एक समुदाय किस प्रकार अन्य समुदायों के सदस्यों के चुनाव को प्रभावित कर पाएगा। इस संबंध में क्या संभावनाएं हैं? मैं एक और तालिका में इसे स्पष्ट करता हूं :

स्थानों (सीटों) की तुलना में मतदाताओं की संख्या

समुदाय	संविधान सभा के लिए मतदाता	संविधान सभा में सीटों का कोटा	कोटा के अनुसार चुनाव के लिए आवश्यक मतों की संख्या	(+) मतदाताओं की संख्या में अधिकता (-) मतदाताओं की आवश्यक संख्या से कमी
1	2	3	4	5
1. हिन्दू	778	51	561	+217
2. मुसलमान	561	51	517	+44

* (1) विश्वविद्यालयों, (2) मजदूर संघों, (3) वाणिज्य, और (4) समुदायों में जमीदारों के लिए सीटों के वितरण में दिए गए आंकड़े वास्तविक आंकड़े नहीं हैं। वे इस अनुमान पर आधारित है कि सापेक्ष स्थिति को ध्यान में रखते हुए समुदायों में उनका विभाजन किस प्रकार किया जा सकता है।

1	2	3	4	5
3. अनुसूचित जातियां	151	20	220	-69
4. भारतीय ईसाई	21	7	77	-56
5. सिख	36	8	88	-52
6. यूरोपीय	46	1	11	+35

इस तालिका से ये निष्कर्ष निकलते हैं :

(1) यदि कुल मत 1,577 हों और निर्वाचित किए जाने वाले सदस्यों की कुल संख्या 160 हो, तो आनुपातिक प्रतिनिधि पद्धति के अंतर्गत कोटा मोटे तौर पर 10 + 1 = 11 होगा।

(2) यदि 11 को कोटा मान लिया जाए तो हिन्दुओं के 217, मुसलमानों के 44 और यूरोपीयों के 35 मत अतिरिक्त होंगे, जब कि अनुसूचित जातियों को 69, भारतीय ईसाइयों को 56 और सिखों को 52 मतों की कमी होगी।

इसी बात को दूसरे तरीके से इस प्रकार कहा जा सकता है :

(1) हिन्दू अपने 217 अतिरिक्त मतों से ऐसे 20 गैर-हिन्दुओं का चुनाव कर सकते हैं, जो उन्हीं पर आश्रित होंगे। मुसलमान अपने 44 अधिक मतों से चार ऐसे गैर-मुसलमानों का चुनाव कर सकते हैं, जो उन्हीं पर आश्रित होंगे और यूरोपीय अपने 35 अधिक मतों से तीन गैर-यूरोपीयों का चुनाव कर सकते हैं, जो उन्हीं पर आश्रित होंगे।

(2) अनुसूचित जातियां 69 मतों की कमी के साथ अपने ही मतों के केवल 13 सदस्यों का निर्वाचन कर सकेंगी और सात सीटों के लिए उन्हें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूरोपीय मतदाताओं पर आश्रित होना होगा। भारतीय ईसाई 56 मतों की कमी के साथ अपने ही मतों से केवल दो सदस्यों का निर्वाचन कर सकेंगे। शेष पांच सीटों के लिए उन्हें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूरोपीय मतदाताओं पर आश्रित होना पड़ेगा। इसी प्रकार सिख 52 मतों की कमी के साथ अपने ही मतों से केवल तीन सदस्यों का निर्वाचन कर सकेंगे। शेष पांच सीटों के लिए हिन्दू, मुसलमान अथवा यूरोपीय मतदाताओं पर आश्रित होना पड़ेगा।

वस्तुस्थिति यह है। यह स्पष्ट है कि छोटे अल्पसंख्यक समुदायों को जो अतिरिक्त प्रतिनिधित्व दिया गया है, वह केवल बहाना है। उनके प्रतिनिधित्व को इतना आश्रित बना दिया गया है कि किसी भी प्रकार उसे वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं कहा जा सकेगा।

अब मैं दूसरा प्रश्न उठाता हूं। क्या सप्रू समिति द्वारा संविधान सभा के लिए स्वीकार किए गए निर्णय का नियम सुरक्षित नियम है? क्रिप्स प्रस्ताव ने केवल बहुमत का नियम स्वीकार किया है। यह ऐसा बेतुका सुझाव था, जिसे कोई भी समझदार व्यक्ति पेश नहीं कर सकता था। मुझे ऐसा कोई भी मामला ज्ञात नहीं है, जहां संविधान से संबंधित प्रश्नों का निर्णय साधारण बहुमत द्वारा किए जाने के लिए छोड़ दिया गया हो।

क्रिप्स प्रस्तावों में बहुमत के नियम को अपनाने के लिए यह सफाई दी गई है कि अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ और व्यवस्था की जानी है। इस व्यवस्था को, इससे पूर्व कि संसद अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करके भारत को स्वतंत्रता दे, ब्रिटिश सम्राट और भारतीय संविधान सभा के बीच एक संधि का रूप लेना था। इस संधि के प्रस्ताव का तभी अर्थ होता, जबकि संधि संविधान पर अभिभावी होती। परंतु इस प्रस्ताव को कार्यान्वित किया जाना असंभव था, क्योंकि क्रिप्स योजना के अंतर्गत भारत को अपनी इच्छानुसार औपनिवेशिक राज्य अथवा स्वतंत्र देश होने की स्वतंत्रता दी गई थी। यदि भारत औपनिवेशिक राज्य बन जाता है तो वह स्वतः उस समस्त वैधिक शक्ति को प्राप्त कर लेगा, जिसे अधिनियम घोषित करने का अधिकार होगा कि संधि संविधान पर अभिभावी नहीं होगी। ऐसी स्थिति में यह संधि उस कैलेंडर के समान होती, जिसे अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य इच्छानुसार अपने घरों की दीवारों पर टांग लेते। यह वही स्थिति है, जो आयरलैंड की संधि की हुई थी। आयरिश संधि आयरलैंड के संविधान पर तब तक अभिभावी रही, जब तक कि आयरलैंड औपनिवेशिक राज्य नहीं बन गया। परंतु ज्यों ही आयरलैंड औपनिवेशिक राज्य बना, संधि की शक्ति स्वतंत्र आयरलैंड के राज्य की संसद ने एक संक्षिप्त तथा साधारण अधिनियम पारित करके समाप्त कर दी और ब्रिटिश संसद कुछ भी न कर पाई, क्योंकि ब्रिटिश संसद को यह मालूम था कि आयरलैंड एक औपनिवेशिक राज्य है और इसीलिए वह कुछ नहीं कर सकती। मेरी समझ में यह नहीं आता कि अल्पसंख्यक वर्ग को आश्वस्त करने के लिए इतने प्रतिष्ठित व्यक्ति ने इतना बेतुका प्रावधान किस तरह प्रस्तुत कर दिया।

सप्रू प्रस्तावों में की गई व्यवस्थाएं कुछ बेहतर जान पड़ती हैं। परंतु क्या वास्तव में स्थिति में उनसे कोई सुधार हुआ? मेरा विश्वास है कि उनसे कोई सुधार नहीं हुआ है। 160 के तीन चौथाई बहुमत का अर्थ यह है कि यदि किसी विचार को स्वीकार कराना है, तो 120 सदस्यों के समर्थन की आवश्यकता है। इससे पूर्व कि उसे सुधार के रूप में स्वीकार किया जाए, यह जानना आवश्यक है कि 120 सदस्यों के इस दल को गठित करने की क्या संभावना है। यदि हिन्दू और मुसलमान मिल जाते हैं तो वे 102 सदस्यों का दल बना लेंगे, और इस संख्या को 120 करने के लिए केवल 18 सदस्यों की आवश्यकता होगी। अधिकांश विशेष सीटें तथा कुछ और अन्य सीटें इस गठबंधन के हाथों में आसानी से आ जाएंगी। यदि ऐसा हो जाता है तो संविधान सभा का निर्णय स्पष्ट रूप से अनुसूचित जातियों, सिखों, भारतीय ईसाइयों, आदि पर थोपा हुआ माना जाएगा। यदि मुसलमानों को अलग कर दिया जाता है तो यह निर्णय संयुक्त निर्णय नहीं होगा, बल्कि गैर-मुसलमानों द्वारा मुसलमानों पर आरोपित किया जाएगा। मुझे खेद है कि सप्रू समिति ने कुछ समुदायों द्वारा दूसरों को हराने अथवा चकमा देने के प्रयोजन से क्रम परिवर्तन और संयोजन की संभावनाओं पर विचार नहीं किया है। यदि सप्रू समिति यह व्यवस्था देती कि तीन चौथाई बहुमत में प्रत्येक वर्ग का कम से कम 50 प्रतिशत भाग शामिल होगा, तो कुछ न कुछ सुरक्षा हो जाती।

संयुक्त राज्य में संविधान तैयार करने के लिए अपनाई गई प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए सप्रू समिति को एक उपबंध भी जोड़ना चाहिए था ताकि सभा के बाहर अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा सभा के निर्णय के कम से कम संप्रदायिक भाग को किसी भी दशा में अभिपुष्टि संभव हो जाती। सप्रू समिति ने संविधान सभा के लिए जो योजना बनाई है, उसमें इस प्रकार का कोई उपबंध नहीं है। इसके फलस्वरूप संविधान सभा केवल एक मजाक बनकर रह गई है।

संविधान सभा की योजना के विरुद्ध अन्य अनेक तर्क है। मैं एक तर्क प्रस्तुत करता हूं और यह स्वीकार करता हूं कि इसी ने मुझे अधिक प्रभावित किया है। जब मैंने स्कॉटलैंड और इंग्लैंड के बीच संघ के इतिहास का अध्ययन किया, मुझे स्कॉटलैंड की संसद को जीतने के लिए भ्रष्ट तरीकों और रिश्वत का इस्तेमाल किये जाने पर बहुत दुख हुआ। संपूर्ण स्कॉटलैंड संसद को खरीद लिया गया। निहित स्वार्थों द्वारा वांछित निर्णयों के लिए भारतीय संविधान सभा में भ्रष्ट तरीकों से सदस्यों को खरीदने की संभावनाएं अधिक वास्तविक लगती हैं। मेरा विश्वास है कि उसके प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि ऐसा होता है तो संविधान सभा न केवल उपहास का विषय बन जाएगी, बल्कि मुझे तो पक्का विश्वास है कि उसके निर्णयों को लागू करने से गृहयुद्ध छिड़ जायेगा। यह मेरा सुविचारित मत है कि संविधान सभा का प्रस्ताव लाभ तो क्या पहुंचाएगा, उससे खतरे और बढ़ जाएंगे और इसलिए इसकी उपेक्षा की जानी चाहिए।

4

नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता

मुझसे यह पूछा जाएगा कि यदि संविधान सभा के पक्ष में मत देना सही दृष्टिकोण नहीं है तो इसका विकल्प क्या है? मैं जानता हूं कि मुझसे यह प्रश्न पूछा जाएगा। परंतु मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि सांप्रदायिक समस्या का समाधान करना कठिन है, तो इसका कारण यह नहीं है कि इसका समाधान हो ही नहीं सकता और न ही इसका यह कारण है कि हमने संविधान सभा की मशीनरी को अभी तक इस काम में नहीं लगाया है। इसका समाधान इसलिए नहीं हो सकता है कि उसके प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह बुनियादी रूप से गलत है। वर्तमान दृष्टिकोण में यह दोष है कि यह सिद्धांतों की अपेक्षा व्यवहार को महत्व देता है। वास्तव में कोई सिद्धांत है ही नहीं। तरीकों की ही भरमार है। यदि एक तरीका असफल हो जाता है तो दूसरा तरीका काम में लाया जाता है। एक तरीके से दूसरे तरीके तक जो छलांग लगाई जाती है, उससे सांप्रदायिक समस्या असाध्य बन जाती है। चूंकि कोई सिद्धांत है ही नहीं, अतः कोई ऐसा आश्वासन नहीं दिया जा सकता कि नया तरीका सफल होगा ही।

सांप्रदायिक समस्या के समाधान का प्रयत्न करना या तो किसी कायर की योजना है जो धौंस जमाने वाले के पीछे चलता है, अथवा यह किसी धौंसिए की योजना है जो दुर्बल पर हुक्म चलाता है। जब कभी कोई समुदाय सशक्त हो जाता है तथा कुछ

राजनीतिक लाभ मांगता है तो उसे कुछ रियायतें दे दी जाती हैं, ताकि उसकी सद्भावना प्राप्त हो जाए। उसके दावे की न्यायिक जांच नहीं की जाती, और न ही गुणों के आधार पर कोई निर्णय हो पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो मांगों की कोई सीमा रहती है और न ही रियायतों की। इसकी शुरूआत अल्पसंख्यक वर्ग के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग से की जाती है। यह मांग मान ली जाती है। इसके बाद किसी समुदाय विशेष के लिए पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग की जाती है और उस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि वह समुदाय अल्पसंख्यक वर्ग का है या बहुसंख्यक वर्ग का। यह मांग भी स्वीकार कर ली जाती है। इसके बाद जनसंख्या के आधार पर पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की जाती है। इसे भी मान लिया जाता है। फिर प्रतिनिधित्व में वरीयता का दावा किया जाता है और वह भी स्वीकार कर लिया जाता है। तत्पश्चात् पृथक निर्वाचन-क्षेत्र के अधिकार को बनाए रखने के साथ अल्पसंख्यक वर्गों के ऊपर संवैधानिक बहुसंख्यक वर्ग की मांग की जाती है। इसकी भी स्वीकृति दे दी जाती है। इसके बाद यह आवाज उठाई जाती है कि बहुसंख्यक वर्ग का अन्य समुदाय पर शासन असहनीय है और इसलिए बहुसंख्यक वर्ग के अन्य अल्पसंख्यक वर्ग पर शासन बनाए रखने के उसके अधिकारों पर विपरीत प्रभाव डाले बिना आघात करने वाले समुदाय का मत समाप्त करके उसे बराबरी पर ले आना चाहिए। इस अनवरत तुष्टीकरण की नीति से बढ़कर बेतुकी बात और क्या हो सकती है? यह एक ऐसी नीति है, जिसमें मांगों की कोई सीमा नहीं होती और जिसका परिणाम भी अनंत तुष्टीकरण होता है।

स्पष्ट कहा जाए तो मैं उस समुदाय को दोष नहीं देना चाहता, जो यह रणनीति अपनाता है। यह समुदाय इस रणनीति को इसलिए अपनाता है कि इससे उसे लाभ पहुंचता है। यह इसका अनुसरण इसलिए करता है कि सीमाएं निर्धारित करने के लिए कोई नियम नहीं है और उसका विचार है कि कानूनी तौर पर अधिक मांग की जा सकती है और उसे आसानी से पूरा कराया जा सकता है। दूसरी ओर एक अन्य समुदाय है, जो आर्थिक रूप से गरीब है, सामाजिक रूप से अवनत है, शैक्षिक रूप से पिछड़ा हुआ है और जिसका निर्लज्जता के साथ और पश्चात्ताप किए बिना शोषण किया जाता है, दमन किया जाता है तथा जिस पर अत्याचार किया जाता है। समाज इस समुदाय का बहिष्कार करता है, सरकार उसे अपना नहीं मानती तथा जिसके पास अपने संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है और इसे न्याय, ईमानदारी तथा समान अवसर दिलाने के लिए कोई गारंटी नहीं दी जाती। ऐसे समुदाय से कहा जाता है कि वह कोई सुरक्षा-साधन नहीं रख सकता। इसका कारण यह नहीं है कि उसे किसी सुरक्षा-साधन की आवश्यकता है, बल्कि ऐसे पुराने धमकाने वाले व्यक्तियों का जिन पर अधिकारों का विधेयक प्रस्तुत किया जाता है, विचार है कि समुदाय राजनीतिक रूप से संगठित नहीं है कि वह अपनी मांग के लिए समर्थन पा सके, अतः उसे सफलतापूर्वक डराया-धमकाया जा सकता है।

यह सारा भेदभावपूर्ण व्यवहार इस बात का परिणाम है कि कोई ऐसे सिद्धांत निर्धारित

नहीं किए गए हैं, जो अधिकृत हों तथा उन लोगों पर लागू हों, जो सांप्रदायिक प्रश्न में शामिल हों। सिद्धांतों के अभाव का एक और हानिकारक प्रभाव होता है। इसके कारण लोकमत के लिए अपनी भूमिका निभाना असंभव हो गया है। जनता केवल तरीके जानती है तथा यह समझती है कि एक तरीका असफल हो गया है और दूसरा सुझाया जा रहा है। जनता को यह ज्ञात नहीं होता कि एक तरीका असफल क्यों हो गया और दूसरे तरीके के लिए क्यों कहा जाता है कि उसके सफल होने की संभावना है। इसका परिणाम यह होता है कि जनता संगठित होकर दुराग्रही तथा हठी दलों को विवेक से काम लेने के लिए बाध्य करने की बजाय सांप्रदायिक प्रश्नों पर हो रही चर्चा को, जहां भी वह हो रही हो, केवल दर्शक बनकर देखती रहती है।

इसलिए मैं सांप्रदायिक समस्या के समाधान के लिए जो दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहा हूं, वह इन दो विचारों पर आधारित हैं :

(1) सांप्रदायिक समस्या के समाधान की दिशा में बढ़ने के लिए आवश्यक है कि उन शासी सिद्धांतों की परिभाषा दी जाए, जिसका आह्वान अंतिम समाधान को सुनिश्चित करने के लिए किया जा सके, और

(2) शासी सिद्धांत कुछ भी क्यों न हो, वे सभी पक्षों पर भय अथवा पक्षपात के बिना समान रूप से लागू किए जाने चाहिए।

5

सांप्रदायिक समस्या के समाधन के लिए प्रस्ताव

मैंने कतिपय प्रारंभिक मुद्दों के बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है और अब मैं इस विषय पर चर्चा करना चाहूंगा।

सांप्रदायिक समस्या से तीन प्रश्न उभरते हैं :

(1) विधान–मंडल में प्रतिनिधित्व का प्रश्न,

(2) कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का प्रश्न, और

(3) लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व का प्रश्न।

लोक सेवाओं में प्रतिनिधत्व

अंतिम प्रश्न पर सबसे पहले चर्चा कर ली जाए। इसे विवादास्पद प्रश्न नहीं कहा जा सकता। भारत सरकार ने यह स्वीकार कर लिया है कि सैद्धांतिक रूप से सभी समुदायों को लोक सेवाओं में निर्धारित अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए और किसी भी एक समुदाय को एकाधिकार की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इस सिद्धांत का समावेश भारत सरकार के 1934 और 1943 के प्रस्ताव में कर लिया गया है और इसे कार्यान्वित किए जाने के लिए नियम बिना दिए गए हैं। यह भी निर्धारित किया गया है कि यदि इन नियमों के विरुद्ध कोई नियुक्ति की जाती है तो उसे रद्द माना जाएगा। केवल इतना ही आवश्यक

है कि प्रशासकीय प्रथा को संवैधानिक दायित्व में परिवर्तित कर दिया जाए। ऐसा तभी किया जा सकता है, जब भारत सरकार अधिनियम में एक अनुसूची जोड़ दी जाए। इसमें इन प्रस्तावों में दिए गए उपबंध और अलग-अलग प्रांतों के लिए इसी प्रकार के उपबंध सम्मिलित किए जाएंगे तथा यह अनुसूची संविधान के कानून का एक भाग होगी।

कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का प्रश्न

इस प्रश्न से तीन बातें सामने आती हैं :

(1) कार्यपालिका में प्रतिनिधियों की संख्या,
(2) कार्यपालिका का स्वरूप, और
(3) कार्यपालिका में स्थानों को भरने का तरीका।

कार्यपालिका मं प्रतिनिधियों की संख्या

इस प्रश्न के समाधान के लिए जो सिद्धांत अपनाया जाना चाहिए, वह यह है कि हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व विधान–मंडल के अपने प्रतिनिधित्व की मात्रा के बराबर होना चाहिए।

जहां तक सिख, भारतीय ईसाई और आंग्ल भारतीय जैसे अन्य अल्पसंख्यक वर्गों का प्रश्न है, यह कठिन है कि विधान–मंडल के अपने प्रतिनिधित्व के सही अनुपात में उन्हें कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व दिलाया जाए। यह कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि उनकी संख्या बहुत कम है। यदि उन्हें अपनी संख्या के ठीक अनुपात में कार्यपालिका में स्थान दिए जाते हैं तो कार्यापालिका को असामान्य रूप से बढ़ाना होगा। इसलिए यह सभी कुछ तब हो सकता है, जब उनके प्रतिनिधित्व के लिए मंत्रिमंडल में एक-दो स्थान सुरक्षित कर लिए जाएं तथा एक परिपाटी स्थापित की जाए कि उन्हें उन ससंदीय सचिवों में सही अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाएगा, जिनकी संख्या में उस समय वृद्धि की जाएगी, जब नवीन संविधान लागू हो जाएगा।

कार्यपालिका का स्वरूप

मैं कार्यपालिका के गठन के लिए नीचे दिए गए सिद्धांतों का प्रस्ताव करूंगा :

(1) यह स्वीकार करना चाहिए कि भारत जैसे देश में, जहां बहुसंख्यक वर्ग तथा अल्पसंख्यक वर्ग में अनवरत विद्वेष है और इस कारण अल्पसंख्यक वर्ग के विरुद्ध बहुसंख्यक वर्ग द्वारा सांप्रदायिक भेदभाव का खतरा अल्पसंख्यक वर्ग के लिए सतत् संकट बना हुआ है, विधायी शक्ति की अपेक्षा कार्यकारी शक्ति का अधिक महत्व हो जाता है।

(2) उपर्युक्त (1) के अनुसार, यदि ऐसी पद्धति के अंतर्गत चुनाव में किसी पार्टी ने बहुमत प्राप्त कर लिया है तो उस पार्टी को इस परिकल्पना के आधार पर सरकार बनाने का अधिकार होगा कि उस पार्टी को बहुमत का विश्वास प्राप्त है, जब कि भारतीय परिस्थितियों में यह असमर्थनीय है। भारत में बहुसंख्यक

वर्ग सांप्रदायिक बहुसंख्यक वर्ग है, न कि राजनीतिक बहुसंख्यक वर्ग। इसी अंतर के कारण इंग्लैंड में जो कल्पना उभरती है, उसे भारत की परिस्थितियों में वैध परिकल्पना नहीं माना जा सकता।

(3) कार्यपालिका को विधान–मंडल में बहुमत वाली पार्टी की समिति नहीं होना चाहिए। इसका इस प्रकार निर्माण किया जाना चाहिए कि इसका आदेश विधानमंडल के बहुमत से ही नहीं लिया जाएगा, अपितु उसके अल्पमत से भी लिया जायेगा।

(4) कार्यपालिका का स्वरूप गैर-संसदीय होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वह विधान–मंडल की समयावधि से पूर्व हटाई नहीं जा सकेगी।

(5) कार्यपालिका का संसदीय स्वरूप होने का अर्थ है कि कार्यपालिका के सदस्य विधान–मंडल के सदस्यों में से चुने जाएंगे और उन्हें सदन में बैठने, बोलने, मत देने तथा प्रश्नों के उत्तर देने का अधिकार होगा।

कार्यपालिका में स्थानों के भरने का तरीका

इस संबंध में नीचे दिए गए सिद्धांतों को अपनाने का प्रस्ताव करूंगा :

(1) सरकार का कार्यकारी अध्यक्ष होने के नाते प्रधानमंत्री को पूरे सदन का विश्वास प्राप्त होना चाहिए।

(2) यदि मंत्रिमंडल में किसी अल्पसंख्यक वर्ग का कोई व्यक्ति प्रतिनिधित्व करता है तो उसे विधान–मंडल में अपने समुदाय के सदस्यों का विश्वास प्राप्त होना चाहिए, और

(3) मंत्रिमंडल के किसी सदस्य को तब तक नहीं हटाया जाएगा, जब तक कि भ्रष्टाचार अथवा देशद्रोह के आधार पर सदन में उस पर महाभियोग न लगाया गया हो।

इन सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए मेरा प्रस्ताव है कि प्रधानमंत्री तथा बहुसंख्यक वर्ग के समुदाय के मंत्रिमंडल के सदस्यों का चुनाव पूरे सदन द्वारा एकल परिवर्तनीय मत द्वारा किया जाना चाहिए तथा मंत्रिमंडल में अलग-अलग अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधियों का चुनाव विधान–मंडल के प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों द्वारा एकल परिवर्तनीय मत द्वारा किया जाना चाहिए।

विधानमंडल में प्रतिनिधित्व का प्रश्न

यह सबसे कठिन प्रश्न है। अन्य सभी प्रश्न इस प्रश्न के समाधान पर निर्भर हैं। इसमें दो मुद्दे उठते हैं :

(1) प्रतिनिधित्व की संख्या, और

(2) निर्वाचन-क्षेत्र का स्वरूप।

प्रतिनिधित्व की संख्या

मैं सर्वप्रथम अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करूंगा और उसके बाद उन सिद्धांतों की व्याख्या करूंगा, जिन पर ये प्रस्ताव आधारित है। इन प्रस्तावों को अलग पृष्ठ पर दी गई तालिकाओं में बताया गया है, जिनमें ब्रिटिश भारत के केन्द्रीय विधान–मंडल और प्रांतीय विधान–मंडल में अलग-अलग समुदायों के लिए प्रतिनिधित्व का क्रम दिया गया है।

विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व का प्रस्तावित अनुपात

टिप्पणी- नीचे दी गई तालिकाओं में जनसंख्या का प्रतिशत जनगणना के आंकड़ों से भिन्न है, क्योंकि उन्हें आदिवासी जातियों की जनसंख्या को घटाकर माना गया है।

1. केन्द्रीय सभा

समुदाय	**कुल जनसंख्या का प्रतिशत**	**प्रतिनिधित्व का प्रतिशत**
हिन्दू	54.68	40
मुसलमान	28.50	32
अनुसूचित जातियां	14.30	20
भारतीय ईसाई	1.16	3
सिख	1.49	4
आंग्ल भारतीय	0.05	1

2. बंबई

समुदाय	**कुल जनसंख्या का प्रतिशत**	**प्रतिनिधित्व का प्रतिशत**
हिन्दू	76.42	40
मुसलमान	9.98	28
अनुसूचित जातियां	9.64	28
भारतीय ईसाई	1.75	2
आंग्ल भारतीय	0.07	1
पारसी	0.44	1

3. मद्रास

समुदाय	**कुल जनसंख्या का प्रतिशत**	**प्रतिनिधित्व का प्रतिशत**
हिन्दू	71.20	40
अनुसूचित जातियां	16.53	30
मुसलमान	7.98	24
भारतीय ईसाई	4.10	5
आंग्ल भारतीय	0.06	1

4. बंगाल

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
मुसलमान	56.50	40
हिन्दू	30.03	33
अनुसूचित जातियां	12.63	25
भारतीय ईसाई	0.19	1
आंग्ल भारतीय	0.05	1

5. संयुक्त प्रांत

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	62.29	40
अनुसूचित जातियां	21.40	29
मुसलमान	15.30	29
भारतीय ईसाई	0.24	1
आंग्ल भारतीय	0.03	1

6. पंजाब

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
मुसलमान	57.06	40
हिन्दू	22.17	28
सिख	13.22	21
अनुसूचित जातियां	4.39	9
भारतीय ईसाई	1.71	2

7. मध्य प्रांत-बरार

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	72.20	40
अनुसूचित जातियां	20.23	34
मुसलमान	5.70	25
भारतीय ईसाई	0.36	1

8. बिहार

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	70.76	40
मुसलमान	15.05	30
अनुसूचित जातियां	13.80	28
भारतीय ईसाई	1.71	2

9. आसाम

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	45.60	40
मुसलमान	44.59	39
अनुसूचित जातियां	8.76	19
भारतीय ईसाई	0.48	2

10. उड़ीसा

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	70.80	40
अनुसूचित जातियां	17.66	36
मुसलमान	2.07	22
भारतीय ईसाई	0.37	2

11. सिंध

समुदाय	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
हिन्दू	23.08	40
मुसलमान	71.30	40
अनुसूचित जातियां	4.26	19
भारतीय ईसाई	0.29	1

6
अल्पसंख्यक वर्गों पर प्रभाव

भारत सरकार अधिनियम, 1935 में विहित तथा प्रस्तावों में निर्धारित अलग-अलग अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिनिधित्व में परिवर्तनों को निम्न तालिका में परिवर्तित करना वांछनीय प्रतीत होता है :

मुसलमानों पर प्रभाव

		प्रतिनिधित्व का अनुपात	
विधान–मंडल	**जनसंख्या का अनुपात**	**भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत**	**प्रस्तावित योजना के अंतर्गत**
केन्द्रीय	28.50	32.00	32
मद्रास	8.00	13.49	24
बंबई	10.00	17.40	28
संयुक्त प्रांत	15.30	28.95	29
मध्य प्रांत	5.70	12.50	25
बिहार	15.00	26.32	28
आसाम	44.60	31.48	38
उड़ीसा	2.00	6.66	22

अनुसूचित जातियों पर प्रभाव

		प्रतिनिधित्व का अनुपात	
विधान–मंडल	**जनसंख्या का अनुपात**	**भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत**	**प्रस्तावित योजना के अंतर्गत**
केन्द्रीय	14.30	7.60	20
मद्रास	16.50	13.90	30
बंबई	9.60	8.50	28
बंगाल	12.60	12.00	25
संयुक्त प्रांत	21.40	8.70	29
पंजाब	4.40	4.50	9
मध्य प्रांत	20.20	17.80	34
बिहार	13.80	9.80	28
आसाम	8.70	6.50	20
उड़ीसा	17.60	10.00	36
सिंध	4.20	शून्य	19

भारतीय ईसाइयों पर प्रभाव

		प्रतिनिधित्व का अनुपात	
विधान–मंडल	**जनसंख्या का अनुपात**	**भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत**	**प्रस्तावित योजना के अंतर्गत**
केन्द्रीय	1.16	3.00	3
मद्रास	4.10	4.20	5
बंबई	1.70	1.70	2
बंगाल	0.19	0.80	1
संयुक्त प्रांत	0.24	0.90	1
पंजाब	1.70	1.14	2
मध्य प्रांत	0.35	शून्य	1
बिहार	1.70	0.66	2
आसाम	0.48	0.90	2
उड़ीसा	0.37	0.16	2
सिंध	0.29	शून्य	1

सिखों पर प्रभाव

		प्रतिनिधित्व का अनुपात	
विधान–मंडल	**जनसंख्या का अनुपात**	**भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत**	**प्रस्तावित योजना के अंतर्गत**
केन्द्रीय	1.50	2.40	4
पंजाब	13.20	18.29	21

हिन्दुओं पर प्रभाव

		प्रतिनिधित्व का अनुपात	
विधान–मंडल	**जनसंख्या का** अनुपात	**भारत सरकार अधिनियम,** 1935 के अंतर्गत	**प्रस्तावित योजना** के अंतर्गत
बंगाल	30.00	20.00	33
पंजाब	22.10	20.00	28
सिंध	23.80	31.60	40

7
प्रस्तावों में विहित सिद्धांत

अब मैं उन सिद्धांतों को बताना चाहूंगा, जिनके आधार पर यह वितरण किया गया है। ये सिद्धांत इस प्रकार हैं :

(1) बहुसंख्यक वर्ग का शासन सैद्धांतिक रूप से असमर्थनीय और व्यवहार में असंगत होता है। बहुसंख्यक वर्ग को प्रतिनिधित्व का सापेक्ष बहुसंख्यक समुदाय स्वीकार किया जा सकता है, परंतु यह कभी भी पूर्ण बहुमत का दावा नहीं कर सकता।*

(2) विधान–मंडल में बहुसंख्यक समुदाय को दिए जाने वाले प्रतिनिधित्व का सापेक्ष बहुमत इतना बड़ा नहीं होना चाहिए कि बहुसंख्यक वर्ग सबसे छोटा अल्पसंख्यक वर्गों की सहायता से अपना शासन स्थापित कर ले।

(3) सीटों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि बहुसंख्यक वर्ग तथा प्रमुख अल्पसंख्यक वर्गों में से कोई वर्ग मिलकर उसे इतना बहुमत न दे दें कि वह अल्पसंख्यक वर्ग के हित के प्रति सर्वथा उदासीन हो जाए।

(4) वितरण ऐसा होना चाहिए कि यदि सभी अल्पसंख्यक वर्ग मिल जाएं तो वे बहुसंख्यक वर्ग पर आश्रित हुए बिना अपनी सरकार बना सकें।

(5) बहुसंख्यक वर्ग से ली गई वरीयता को अल्पसंख्यक वर्गों में उनकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति और शैक्षिक दशा के विपरीत अनुपात में वितरित किया जाना चाहिए, ताकि अल्पसंख्यक वर्ग को, जो बड़ा है और जिसकी सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है, उस अल्पसंख्यक वर्ग की अपेक्षा कम वरीयता मिलती है, जिसकी संख्या कम है और जिसकी शैक्षिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति अन्य वर्गों की अपेक्षा घटिया होती है।

यदि मैं ऐसा कहूं कि प्रतिनिधित्व संतुलित प्रतिनिधित्व है, तो कोई भी समुदाय ऐसी स्थिति में नहीं रहता कि वह अपने सदस्यों की अधिक संख्या के कारण अन्य समुदायों पर अपना आधिपत्य जमाए। मुसलमानों की हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग के प्रति शिकायत तथा हिन्दू और सिखों की मुसलमानों के बहुसंख्यक वर्ग के साथ शिकायत केन्द्र और प्रांतों में पूर्णतः समाप्त की जा चुकी है।

8
निर्वाचन-क्षेत्र की प्रकृति

निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रश्न के बारे में आगे दी गई प्रस्थापनाएं स्वीकार की जानी चाहिएं:

---

* मैंने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के लिए प्रतिनिधित्व की कोई भी योजना तैयार नहीं की है, क्योंकि अल्पसंख्यक वर्ग इतना छोटा है कि सापेक्ष बहुसंख्यक वर्ग का सिद्धांत भी उस पर लागू नहीं हो सकता।

(1) किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र अथवा पृथक निर्वाचन-क्षेत्र केवल निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के साधन का मामला है। यह कोई सैद्धांतिक मामला नहीं है।

(2) इसका उद्देश्य यह है कि अल्पसंख्यक वर्ग को विधान–मंडल के लिए ऐसे उम्मीदवारों का चयन करने के योग्य बना दिया जाए, जो वास्तविक होंगे और अल्पसंख्यक वर्ग के नाममात्र के प्रतिनिधि नहीं होंगे।

(3) यदि एक ओर पृथक निर्वाचन-क्षेत्र अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की पूर्ण गांरटी देता है कि उसके प्रतिनिधि केवल वही होंगे जिन्हें उसका विश्वास प्राप्त है, तो दूसरी ओर निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली में अल्पसंख्यक वर्गों को समान संरक्षण प्रदान किया जाता है। अतः इसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए।

(4) इसे संभावित विकल्प समझा जा सकता है कि चार सदस्यों के निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पसंख्यक वर्ग को दोहरा मत प्राप्त करने का अधिकार हो, बशर्ते कि उसे अलपसंख्यक वर्ग के मतों का न्यूनतम प्रतिशत प्राप्त हो।

9
वे मामले जिनके बारे में चर्चा नहीं की गई

विशेष सुरक्षा का प्रश्न

कुछ अल्पसंख्यक वर्गों की ओर से की गई अन्य मांगें इस प्रकार हैं :

(1) अल्पसंख्यक वर्गों की दशा के संबंध में जानकारी देने के लिए कानूनी अधिकारी की व्यवस्था,

(2) शिक्षा के लिए राज्य सहायता की कानूनी व्यवस्था, और

(3) भूमि बंदोबस्त के लिए कानूनी व्यवस्था। परंतु उनका स्वरूप सांप्रदायिक न हो। अतः मैं उनके बारे में यहां विस्तार से चर्चा करना नहीं चाहूंगा।

आदिवासी जनजातियां

यह स्पष्ट है कि मैंने प्रस्तावों में आदिवासी जनजातियों को शामिल नहीं किया है, यद्यपि उनकी संख्या सिखों, आंग्ल भारतीयों, भारतीय ईसाइयों और पारसियों से अधिक है। मैं कारण बताना चाहता हूं कि मैंने अपनी योजना में उन्हें क्यों शामिल नहीं किया है। आदिवासी जनजातियों ने अभी तक ऐसी राजनीतिक सूझबूझ हासिल नहीं की है, जिससे वे अपने राजनीतिक अवसरों का सर्वोत्तम उपयोग कर सकें। वे आसानी से बहुसंख्यक वर्ग अथवा अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों का खिलौना बन जाते हैं और इस प्रकार वे न केवल संतुलन बिगाड़ देते हैं, बल्कि अपना भी कोई भला नहीं कर पाते। उनके विकास की

वर्तमान अवस्था में मुझे लगता है कि इन पिछड़े समदुायों के लिए उचित मार्ग यही है कि उनके प्रशासन के लिए एक संवैधानिक आयोग की उसी आधार पर स्थापना कर दी जाए जिन्हें अब हम बहिष्कृत क्षेत्र कहते हैं, जो दक्षिण अफ्रीकी संविधान के लिए अपनाया गया था। प्रत्येक प्रांत में बहिष्कृत क्षेत्र स्थित हैं, अतः ऐसे प्रत्येक प्रांत पर दबाव डालना चाहिए कि वह इन क्षेत्रों के प्रशासन के लिए निर्धारित राशि का वार्षिक योगदान करे।

देशी राज्य

आप देखेंगे कि मेरे प्रस्तावों में देशी राज्य शामिल नहीं किए गए हैं। मैं देशी राज्यों को शामिल किए जाने का विरोधी नहीं हूं, परंतु उनके शामिल किए जाने के नियम और शर्तें इस प्रकार हैं :

(1) ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के मध्य विभाजित प्रभुसत्ता के द्विभाजन को पूर्ण रूप से प्राप्त कर दिया जाए,

(2) न्यायिक और राजनीतिक सीमाएं जो ब्रिटिश भारत को देशी राज्यों से अलग करती हैं, समाप्त हो जाएंगी। ब्रिटिश भारत या देशी राज्य जैसी कोई सत्ता शेष नहीं रहेगी और उनके स्थान पर केवल एक सत्ता होगी, जिसे भारत कहा जाएगा, और

(3) सम्मिलित किए जाने के निबंधन और शर्तें भारत को औपनिवेशिक राज्य के पूर्ण और समग्र अधिकारों को प्राप्त करने में बाधा नहीं डालतीं। मैंने देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत के विलय की एक योजना बनाई है, जिससे इन उद्देश्यों की सिद्धि हो जाएगी। मै। इस योजना का अधिक विवरण देकर अपने भाषण को बोझिल नहीं बनाना चाहता। इस समय यह ठीक है कि ब्रिटिश भारत देशी राज्यों के साथ मिलकर अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो।

10
प्रस्तावों के परिप्रेक्ष्य में पाकिस्तान

मेरे प्रस्ताव संयुक्त भारत के लिए हैं। ये प्रस्ताव इस आशा से प्रस्तुत किए गए हैं कि मुसलमान पाकिस्तान के स्थान पर इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि ये प्रस्ताव पाकिस्तान द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा की अपेक्षा अधिक सुरक्षा प्रदान करेंगे। मैं पाकिस्तान का विरोधी नहीं हूं। मेरा विश्वास है कि यह आत्म-निर्णय के सिद्धांत के आधार पर बनाया गया है और इसको अब चुनौती देने का समय व्यतीत हो चुका है। मैं उन्हें सिद्धांत का लाभ देने के लिए तैयार हूं, परन्तु शर्त यह है कि मुसलमान उस क्षेत्र में रहने वाले गैर-मुसलमानों को उन सिद्धांतों के लाभ से वंचित न करें। परंतु मेरा विचार है कि मैं मुसलमानों का ध्यान सुरक्षा की एक अन्य तथा अपेक्षाकृत अधिक हितकर योजना की ओर आकर्षित करूं। मेरा दावा है कि पाकिस्तान ने जो योजना बनाई है, उससे कहीं अधिक हितकर मेरी योजना है। मैं उन मुद्दों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा, जो

मेरी योजना के पक्ष में हैं। वे मुद्दे इस प्रकार हैं :

(1) मेरे प्रस्ताव के अंतर्गत सांप्रदायिक बहुसंख्यक वर्ग का खतरा, जिसके आधार पर पाकिस्तान का निर्माण होना है, हटा दिया जाए।

(2) मेरे प्रस्ताव के अंतर्गत इस समय मुसलमान जो लाभ उठा रहे हैं, उसे न छेड़ा जाए।

(3) गैर-पाकिस्तानी प्रांतों में मुसलमानों की स्थिति उनके प्रतिनिधित्व में वृद्धि करके बहुत मजबूत कर दी गई है, जिसे वे पाकिस्तान बन जाने पर प्राप्त नहीं कर सकते हैं और उनकी स्थिति इस समय के अपेक्षाकृत अधिक दयनीय हो जाएगी।

11
हिन्दुओं को चेतावनी

सांप्रदायिक प्रश्न की सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दुओं का इस बात पर जोर देना है कि बहुमत का शासन पवित्र है और इसे हर हालत में बनाए रखना है। हिन्दू इस तथ्य से अवगत नहीं हैं कि एक अन्य प्रकार का भी नियम होता है जो ऐसे क्षेत्रों में प्रचलित है, जहां व्यक्ति और देश के बीच महत्वपूर्ण विवाद उठते हैं और जहां सर्वसम्मति का नियम ही नियम माना जाना है। यदि वे उस स्थिति की जांच करने का कष्ट उठाएं तो वे यह महसूस करेंगे कि इस प्रकार का नियम कोई कापोल-कल्पित नहीं है, परंतु इसका अस्तित्व है। उन्हें जूरी-पद्धति का ही उदाहरण लेना चाहिए। जूरी में जांच सर्वसम्मति के सिद्धांत पर आधारित होती है। इसका निर्णय न्यायाधीश के लिए तभी बाध्यकारी होता है, जब जूरी ने सर्वसम्मति से निर्णय किया हो। एक अन्य उदाहरण लीग ऑफ नेशन्स का दिया जा सकता है। लीग ऑफ नेशन्स में निर्णयों का क्या नियम था? वह नियम सर्वसम्मति का था। यह स्पष्ट है कि यदि हिन्दुओं द्वारा सर्वसम्मति का नियम विधान–मंडल तथा कार्यपालिका में निर्णय लेने के लिए स्वीकार कर लिया जाए तो भारत में सांप्रदायिक समस्या जैसी कोई वस्तु नहीं होगी।

यह बात किसी हिन्दू से पूछी भी जा सकती है कि यदि वह अल्पसंख्यक वर्गों को संवैधानिक सुरक्षा देने के लिए सहमति नहीं देता है, तो क्या वह सर्वसम्मति के नियम के लिए सहमत है? दुर्भाग्यवश वह दोनों में से किसी बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

बहुसंख्यक वर्ग के शासन के बारे में हिन्दू किसी प्रकार की सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। वह ऐसा बहुमत चाहता है, जो पूर्ण बहुमत हो। उसे सापेक्ष बहुमत से संतोष नहीं होगा। उसे यह सोचना चाहिए कि क्या पूर्ण बहुमत के बारे में उसका आग्रह उचित है, जिसे राजनीति के पंडित स्वीकार कर सकें। वह इस तथ्य से अवगत

नहीं है कि अमरीका का संविधान भी बहुमत के एकाधिपत्य वाले शासन का समर्थन नहीं देता, जबकि हिन्दू उस बारे में बराबर आग्रह कर रहे हैं।

मैं इस बात को अमरीका के संविधान का उदाहरण देकर समझाना चाहूंगा। मौलिक अधिकारों का खंड ले लीजिए। इस खंड का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि जो मामले मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किए गए हैं, वे इतनी गहरी चिंता के विषय हैं कि केवल बहुसंख्यक वर्ग का शासन ही उनमें हस्तक्षेप करने के लिए पर्यापत नहीं है। अमरीका के संविधान से एक अन्य उदाहरण लिया जाए। उसमें यह प्रावधान किया गया है कि संविधान के किसी भाग में उस समय तक परिवर्तन नहीं किया जा सकता, जब तक तीन चौथाई बहुमत प्रस्ताव की स्वीकृति न दे दे और यह प्रस्ताव राज्यों द्वारा अनुमोदित न करा लिया जाए। इसका क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय है कि अमरीका के संविधान में कतिपय प्रयोजनों के लिए केवल बहुमत के शासन को ही सक्षम नहीं माना गया है।

इन सभी मामलों से अनेक हिन्दू अलबत्ता परिचित हैं। दुख इस बात का है कि वे उनसे सही पाठ नहीं सीखते। यदि वे ऐसा करें तो उन्हें यह महसूस होगा कि बहुमत के शासन का नियम उतना पवित्र नहीं है, जितना वे उसे समझते हैं। बहुमत के शासन को एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता बल्कि उसे एक नियम के रूप में मान लिया जाता है। मैं यह भी बताना चाहूंगा कि उसे क्यों मान लिया जाता। उसे दो कारणों से मान लिया जाता है : (1) बहुमत सदैव राजनीतिक बहुमत होता है, और (2) राजनीतिक बहुमत का निर्णय अल्पमत के दृष्टिकोण को उस सीमा तक स्वीकार और आत्मसात कर लेता है कि वह इस निर्णय के विरुद्ध विद्रोह करने की चिंता ही नहीं करता।

भारत में बहुमत राजनीतिक बहुमत नहीं होता। भारत में बहुमत पैदा होता है, इसका निर्माण नहीं किया जाता। सांप्रदायिकता बहुमत तथा राजनीतिक बहुमत में यही अंतर है। कोई भी राजनीतिक बहुमत स्थिर या स्थायी नहीं होता। यह केवल बहुमत ही है, जिसका सदैव निर्माण, खंडन और पुनर्निर्माण किया जाता है। सांप्रदायिक बहुमत स्थायी और इसका दृष्टिकोण स्थिर होता है। कोई भी उसका विनाश कर सकता है, परंतु उसका रूपांतरण नहीं कर सकता। यदि राजनीतिक बहुमत के लिए इतनी अधिक आपत्ति है, तो सांप्रदायिक बहुमत के लिए आपत्ति कितनी विनाशकारी होगी?

हिन्दू श्री जिन्ना से पूछ सकते हैं कि 1930 में उन्होंने 14 मुद्दे तैयार किये थे, तब उन्होंने बहुमत के शासन के सिद्धांत पर इस सीमा तक क्यों बल दिया था कि 14 मुद्दों में से एक मुद्दे की शर्त यह थी कि वरीयता प्रदान करते समय सीमाएं तय कर लेनी चाहिएं, जिससे बहुमत अल्पमत अथवा उसके समान न हो जाए। हिन्दू श्री जिन्ना से पूछ सकते हैं कि जब वह मुसलमानों के प्रांतों में मुसलमानों के बहुमत के पक्ष में हैं, फिर केन्द्र में वह हिन्दू बहुमत का विरोध क्यों करते हैं? परन्तु हिन्दुओं को यह महसूस करना चाहिए कि इन प्रश्नों का यह अभिप्राय हो सकता है कि श्री जिन्ना की स्थिति में परस्पर विरोध है।

उनसे बहुमत के शासन के सिद्धांत की पुष्टि की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

राजनीति में बहुमत शासन का सिद्धांत त्याग देने से हिन्दुओं के जीवन के अन्य पक्षों पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। सामाजिक जीवन के एक तत्व के रूप में वे बहुमत में ही रहेंगे। उनका व्यापार और वाणिज्यि का एकाधिकार होगा, जिसका वे लाभ उठाते हैं। उन्हें उस संपत्ति का एकाधिकार होगा, जो उनके पास है। मेरे प्रस्तावों में यह नहीं है कि वे सर्वसम्मति के सिद्धांत को स्वीकार करे। मेरे प्रस्तावों में यह भी नहीं है कि हिन्दू बहुमत के शासन के सिद्धांत का परित्याग कर दें। मै। उनसे केवल यही कहता हूं कि वे सापेक्ष बहुमत से संतुष्ट हो जाएं। क्या उनके लिए यह बात इतनी भारी है कि वे इसे स्वीकार न कर सकें?

ऐसे बलिदान के बिना बहुसंख्यक विश्व में कहीं भी यह कहने का औचित्य नहीं रखते कि अल्पसंख्यक भारत की स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक बने हुए हैं। यह मिथ्या प्रचार काम नहीं आएगा, क्योंकि अल्पसंख्यक ऐसा कुछ भी नहीं कर रहे हैं। वे स्वतंत्रता और उसमें जो खतरे हैं उसे झेलने के लिए तैयार हैं, किन्तु शर्त यह है कि उन्हें संतोषजनक सुरक्षा दी जाए। अल्पसंख्यक वर्ग का यह संकेत एक ऐसा मामला न समझा जाए, जिसके लिए हिन्दुओं को कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है। इसकी तुलना आयरलैंड में घटित घटना से करनी चाहिए। आयोग राष्ट्रवादियों के नेता श्री रेडमांड ने अल्स्टर के नेता श्री कार्सन से एक बार कहा थाः 'संयुक्त आयरलैंड के लिए समहति दें। आप जिस प्रकार की सुरक्षा की मांग करें, वह आपको दी जाएगी।' यह कहा जाता है कि उन्होंने मुड़कर कहा : 'धिक्कार है आपकी सुरक्षा पर, हम नहीं चाहते कि आप हम पर शासन करें।' भारत के अल्पसंख्यक वर्ग ने ऐसा नहीं कहा है। वे सुरक्षा के साधनों से संतुष्ट हैं। मैं हिन्दुओं से पूछना चाहता हूं कि क्या यह संतोष का विषय नहीं है? मुझे विश्वास है कि यह ऐसा ही है।

12
निष्कर्ष

मेरे मस्तिष्क में सांप्रदायिक समस्या के समाधान के लिये कुछ विचार हैं। वे अखिल भारतीय अनुसूचित जातियों के संघ को वचनबद्ध नहीं करते। मैं भी इन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं हूं। मैं उनका उल्लेख केवल इसलिए कर रहा हूं कि संभव है इससे कोई नया रास्ता निकल आए। मेरा बल विशेष रूप से उस सिद्धांत पर है जो मैंने प्रतिपादित किया है, वास्तविक प्रस्तावों पर नहीं। यदि सिद्धांत स्वीकार कर लिए जाते हैं तो मुझे विश्वास है कि सांप्रदायिक प्रश्न का समाधान इतना दुष्कर नहीं रहेगा, जितना गत वर्षों में रहा है।

भारतीय गतिरोध के समाधान की समस्या सरल नहीं है। मुझे याद है कि मैंने एक इतिहासकार की यह बात पढ़ी थी कि 1867 के महासंघ से पूर्व जर्मनी की दशा एक तरह

की 'दैवी उलझन' थी। चाहे यह बात जर्मनी के लिए सत्य हो अथवा असत्य, लेकिन मुझे यह लगता है कि यह भारत की वर्तमान परिस्थितियों का बहुत सही वर्णन है। जर्मनी तो इस उलझन से उबर गया। ऐसा भले ही एक बार में न हुआ हो, किंतु लगातार प्रयत्न होते रहे और युद्ध आरंभ होने से पूर्व जर्मनी उन लोगों का देश बन गया, जो एकता के सूत्र में बंधे थे वे अपने विचार में एक थे, वे अपने दृष्टिकोण में एक थे तथा समान भाग्य में अपने विश्वास में एक थे। भारत ने अभी तक अपनी उलझन से उबरने में सफलता नहीं प्राप्त की है। ऐसा नहीं है कि उसे ऐसा करने के लिए अवसर न मिला हो। वास्तव में ऐसे अनेक अवसर आए हैं। पहला अवसर 1927 में मिला था, जब लॉर्ड बर्किनहेड ने भारतीयों को चुनौती दी थी और उनसे कहा था कि वे भारत का संविधान तैयार करें। वह चुनौती स्वीकार कर ली गई। एक समिति का गठन किया गया, ताकि संविधान को तैयार किया जाए। एक संविधान तैयार किया गया और उसे 'नेहरू संविधान' की संज्ञा दी गई। परंतु भारतीयों ने इसे स्वीकार नहीं किया और जब उसे समाप्त कर दिया गया तो किसी ने आंसू नहीं बहाए। दूसरा अवसर भारतीयों को 1930 में दिया गया, जब वे गोलमेज सम्मेलन में एकत्र हुए थे। इस बार भी भारतीय अपने संविधान की विचरना करने की भूमिका अदा करने में असफल रह गए। एक तीसरा प्रयास अभी हाल में सप्रू समिति द्वारा किया गया। इस समिति के प्रस्ताव भी असफल रहे।

अब एक और प्रयास के लिए न तो उत्साह है और न आशा। लोग भाग्यवादी हो गए हैं, जिसका अर्थ है कि प्रत्येक प्रयास जब असफल ही होना है, तो प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? साथ ही मैं महसूस करता हूं कि किसी भी भारतीय को इतना हतोत्साहित अथवा इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि यह गतिरोध ऐसा बदबूदार हो जाए, जैसे कि कोई मरा हुआ कुत्ता, और कोई यह कहे कि वह राजनीतिक युद्ध को, जो देश में हो रहा है, उसे एक दर्शक की तरह देखने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। गत वर्षों की असफलताओं से किसी भी व्यक्ति को निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। मैं यह महसूस करता हूं कि यद्यपि यह सत्य है कि सांप्रदायिक प्रश्न पर समझौता करने के सभी प्रयास असफल हो गए हैं, किन्तु इस असफलता का कारण भारतीयों का जन्मजात दोष नहीं है, अपितु त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण इस असफलता का कारण है। मैं आश्वस्त हूं कि यदि मेरे प्रस्तावों पर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाए तो वे प्रस्ताव स्वीकार्य होंगे। इन प्रस्तावों में एक नया दृष्टिकोण है और इसलिए मैं अपने देशवासियों से इनकी सिफारिश करता हूं।

इससे पूर्व कि मैं अपना भाषण समाप्त करूं मैं अपने आलोचकों को यह चेतावनी देना चाहता हूं कि वे मेरे प्रस्तावों में कुछ हद तक संशोधन कर सकते हैं, परंतु उनके लिए यह आसान नहीं है कि वे इन्हें रद्द कर दें। यदि वे इन्हें रद्द करना ही चाहें तो उन्हें पहले उन सिद्धांतों का खंडन करना होगा, जिन पर ये आधारित हैं।

4

राज्य और अल्पसंख्यक

उनके अधिकार क्या हैं और उन्हें स्वतंत्र भारत के संविधान में कैसे सुनिश्चित किया जा सकता है

अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ की ओर से संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया अनुसूचित जातियों के सुरक्षोपायों से संबंधित ज्ञापन

प्रकाशन : 1947

प्रस्तावना

जब यह निश्चित हो गया कि भावी भारत का संविधान तैयार करने का कार्य संविधान सभा को सौंपा जाने वाला है, तो उसके बाद अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ की कार्य समिति ने मुझसे कहा कि मैं अनुसूचित जातियों के सुरक्षोपायों के विषय में एक ज्ञापन तैयार करूं, जिसे परिसंघ की ओर से संविधान सभा में प्रस्तुत किया जाए। मैंने सहर्ष यह काम अपने हाथ में ले लिया। मैंने जो कुछ श्रम किया, उसके परिणाम इस विवरण-पुस्तिका में उल्लिखित हैं।

इस ज्ञापन में मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों के अधिकारों और अनुसूचित जातियों के सुरपोक्षोपायों की परिभाषा दी गई है। जिन लोगों का यह विचार है कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक नहीं हैं, वे यह कह सकते हैं कि मैंने निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण किया है। यह धारणा कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक नहीं हैं, उच्च और शक्तिसंपन्न हिन्दू बहुसंख्यक की ओर से जारी की गई एक नई व्यवस्था है और अनुसूचित जातियों से कहा जाता है कि वे इस बात को मानकर चलें। लेकिन बहुसंख्यक वर्ग के प्रवक्ता ने इसकी व्याप्ति और इसका अर्थ नहीं बताया है। नवीन एवं स्वतंत्र विचारों वाला कोई भी व्यक्ति इसे सामान्य प्रस्ताव के रूप में देखते हुए जब यह कहेगा कि इसके दो निर्वचन किए जा सकते हैं, तो ऐसा कहना न्यायोचित होगा। मैं इसका निर्वचन यह करता हूं कि अनुसूचित जातियों की दशा अल्पसंख्यकां से भी खराब है और नागरिकों तथा अल्पसंख्यकों को जो भी संरक्षण दिए जाएंगे, वे अनुसूचित जातियों के लिए पर्यापत नहीं होंगे। दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय यह है कि अनुसूचित जातियों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति अन्य नागरिकों और अल्पसंख्यकों की तुलना में इतनी खराब है कि उन्हें उस संरक्षण के अलावा जिसे वे नागरिकों तथा अल्पसंख्यकों के नाते प्राप्त करेंगे, बहुसंख्यकों के अत्याचार और भेदभाव के विरुद्ध विशेष सुरक्षोपायों की जरूरत होगी। दूसरा निर्वचन यह है कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यकों से भिन्न हैं। अतः वे उस संरक्षण के लिए हकदार नहीं हैं, जिनका दावा अल्पसंख्यकों द्वारा किया जाए। यह निर्वचन मूर्खतापूर्ण दिखाई पड़ता है और किसी भी विवेकशील व्यक्ति को इस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। यदि अनुसूचित जातियां इस निर्वचन को स्वीकार न करें तो उन्हें क्षमा प्रदान की जाए। जो लोग मेरे इस निर्वचन को स्वीकार करते हैं कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक नहीं हैं वे, मुझे यकीन है, मेरे इस विचार से सहमत होंगे कि अनुसूचित जातियों के लिए मेरी यह मांग औचित्यपूर्ण है कि उन्हें नागरिकों के मूल अधिकारों की समस्त सुविधाएं, अल्पसंख्यकों की रक्षण संबंधी समस्त सुविधाएं दी जाएं और साथ ही उनके लिए विशेष सुरक्षोपाय किए जाएं।

यह ज्ञापन संविधान सभा में प्रस्तुत किया जाना था। इसे सार्वजनिक रूप से जारी करने का कोई इरादा नहीं था। लेकिन मेरे सवर्ण हिन्दू मित्रों ने मुझसे आग्रह किया कि इस ज्ञापन को व्यापक रूप से प्रचारित किया जाए। उन मित्रों को इसकी टंकित प्रति पढ़ने का मौका मिल गया था। यद्यपि यह संविधान सभा के सदस्यों के लिए है, फिर भी इसे जनसाधारण के लिए सुलभ कराने में मुझे कोई अनौचित्य दिखाई नहीं पड़ता। अतः मैं उनकी बात मानने के लिए राजी हो गया हूं।

अपने विचारों का उल्लेख सामान्य भाषा में करने की बजाए मैंने इस ज्ञापन का प्रारूप संविधान के अनुच्छेदों के रूप में तैयार किया है। मुझे विश्वास है कि सुनिश्चितता और सुस्पष्टता की दृष्टि से यह तरीका अधिक सहायक सिद्ध होगा। अनुसूचित जाति परिसंघ की कार्यकारणी की सुविधा के लिए मैंने कुछ व्याख्यात्मक टिप्पणियां और अन्य आंकड़े भी तैयार किये थे। चूंकि ये टिप्पणियां और आंकड़े सामान्य पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे, अतः मैंने इन्हें ज्ञापन के साथ-साथ छपवाना बेहतर समझा।

संविधान सभा के समक्ष अनेक समस्याएं आएंगी। उनमें से दो निश्चित रूप से अत्यंत जटिल हैं। पहली समस्या है अल्पसंख्यकों की और दूसरी है देशी राज्यों की। मैं देशी राज्यों की समस्या का छात्र रहा हूं। इस विषय पर मेरे कुछ निश्चित और स्पष्ट विचार हैं। मुझे आशा थी कि संविधान सभा मुझे देशी राज्यों की समिति के लिए चुनेगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि इस कार्य के लिए प्रतिभाशाली व्यक्ति मिल गए हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि चूंकि मैं उनके खेमे से बाहर का व्यक्ति हूं, अतः अवांछनीय हूं। शामिल न किए जाने पर मुझे कोई अफसोस नहीं है। मुझे खेद इसलिए है कि मैं उस अवसर से वंचित रह गया हूं, जिसकी मैं समिति के समक्ष अपने विचार पेश करने के लिए आशा कर रहा था। अतः अब मैंने यही उचित समझा है कि नागरिकों, अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जातियों के अधिकारियों के साथ-साथ उन्हें इस विवरणिका में शामिल करूं, ताकि अधिक से अधिक लोग उनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकें और उचित मूल्यांकन कर सकें तथा उनका उसी ढंग से इस्तेमाल कर सकें, जिसे वे उपयुक्त समझें।

भीमराव अम्बेडकर

राजगृह

दादर, बंबई-14

15-3-47

संयुक्त राज्य भारत का संविधान

प्रस्तावित उद्देशिका

स्पष्टीकरण के लिए
देखिए, पृष्ठ 189

प्रांत और केन्द्र प्रशासित क्षेत्र नामक प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित ब्रिटिश भारत राज्य-क्षेत्रों के और देशी राज्यों के राज्य-क्षेत्रों के हम लोग, इन राज्य-क्षेत्रों का एक परिपूर्ण संघ बनाने की दृष्टि से यह आदेश करते हैं कि प्रांत और केन्द्र प्रशासित क्षेत्र (जिन्हें बाद में राज्य कहा जाएगा) तथा देशी राज्य एक साथ मिलकर संयुक्त राज्य भारत नाम से विधायी, कार्यकारी और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए एक राज-निकाय का गठन करेंगे और इस प्रकार निर्मित संघ अविघटनीय होगा तथा इसका उद्देश्य इस प्रकार होगा :

(i) अपने लिए और अपनी भावी पीढ़ियों के लिए संपूर्ण संयुक्त राज्य भारत में स्वशासन तथा सुशासन, दोनों का वरदान प्राप्त करना,

(ii) प्रत्येक देशवासी के जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख प्राप्त करने और वाक्-स्वातंत्र्य एवं धर्म-स्वातंत्र्य संबंधी अधिकार का अनुरक्षण करना,

(iii) सुविधा-वंचित वर्गों को बेहतर अवसर सुलभ कराते हुए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमता को दूर करना,

(iv) प्रत्येक देशवासी के लिए अभाव और भय से मुक्ति दिलाने को संभव बनाना, और

(v) आंतरिक अव्यवस्था और बाह्य आक्रमण को रोकने की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त से हम संयुक्त राज्य भारत के लिए इस संविधान की स्थापना करते हैं।

प्रस्तावित अनुच्छेद 1

विस्तृत विश्लेषण

अनुच्छेद 1, अनुभाग 1 . देशी राज्यों का संघ में शामिल होना :

खंड 1. अर्हित देशी राज्य और संघ में उनका शामिल होना।

खंड 2. अर्हित देशी राज्यों का जो संघ में शामिल नहीं हुए हैं तथा अनर्हित देशी राज्यों का संयुक्त राज्य भारत से संबंध।

खंड 3. अनर्हित देशी राज्यों के राज्य-क्षेत्र का उपयुक्त प्रशासनिक इकाइयों में पुनर्गठन करने की संयुक्त राज्य भारत की शक्ति, ताकि संघ के राज्यों के रूप में उन्हें संघ में शामिल किए जाने के लिए अर्हित बनाया जा सके।

खंड 4. संघ के अंतर्गत नए राज्यों का निर्माण।

अनुच्छेद 1, अनुभाग 2 . संयुक्त राज्य भारत और नया राज्य.क्षेत्र :

खंड 1. संघ में विदेशी राज्यों का सम्मिलित होना

खंड 2. संयुक्त राज्य भारत द्वारा नए राज्य-क्षेत्र का अर्जन और उसका संघ के असमाविष्ट राज्य-क्षेत्र के रूप में प्रतिधारण।

अनुच्छेद 1 - अनुभाग 1

देशी राज्यों का संघ में शामिल होना

खंड 1

स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 189-190

संयुक्त राज्य भारत, आवेदन करने पर तथा संघ विधान-मंडल के समर्थकारी अधिनियम, जिसमें संविधान का प्रारूप अधिकथित किया गया है, द्वारा विहित शर्तों के पूरा होने पर किसी देशी राज्य को संघ में मिला सकता है, बशर्तें कि प्रवेश चाहने वाला देशी राज्य एक अर्हित राज्य हो।

इस खंड के प्रयोजनार्थ अर्हित देशी राज्यों की एक सूची तैयार की जाएगी। कोई राज्य तब तक अर्हित राज्य नहीं समझा जाएगा, जब तक यह कि साबित न हो जाए कि वह संघ विधान–मंडल द्वारा विहित नामक आकार का है तथा उसमें इतने प्राकृतिक संसाधन हैं, जो उसकी जनता के लिए उत्तम रहन-सहन का स्तर प्रदान करने में मदद कर सकें तथा अपने राजस्व और जनसंख्या के कारण, एक स्वायत्त राज्य के रूप में काम कर सके और बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा कर सके तथा आंतरिक अशांति दूर करके कानून और व्यवस्था बनाए रख सके तथा अपनी जनता को प्रशासन और कल्याण के उन न्यूनतम मानकों की गारंटी दे सके, जिनकी आशा एक आधुनिक राज्य से की जाती है।

खंड 2

जो देशी राज्य अर्हित राज्य है, किन्तु जो संघ में शामिल नहीं है, उसका राज्य-क्षेत्र और अनर्हित देशी राज्यों का राज्य-क्षेत्र संयुक्त राज्य भारत के सम्मिलित राज्य-क्षेत्र माने जाएंगे और सदैव उसके अभिनन अंग बने रहेंगे और संयुक्त राज्य भारत के संविधान के ऐसे भागों के अधीन रहेंगे, जो संघ विधान–मंडल द्वारा विहित किए जाएं।

खंड 3

संयुक्त राज्य भारत को अनर्हित देशी राज्यों के राज्य-क्षेत्रों का सुधार करने, पुनः व्यवस्थित करने, पुनः विभाजित करने तथा संघ के राज्य के रूप में संघ में प्रवेश के लिए उपयुक्त प्रशासनिक इकाइयों में सम्मिलित करने की शक्ति होगी।

खंड 4

किसी राज्य के संघ में राज्य के तौर पर शामिल हो जाने के बाद उसके क्षेत्राधिकार के अंतर्गत कोई नया राज्य बनाया जा सृजित नहीं किया जाएगा और न ही संबंधित राज्यों के विधान–मंडलों एवं संघ विधान–मंडल की सहमति के बिना दो या अधिक राज्यों अथवा राज्यों के भागों को जोड़कर कोई नया राज्य बनाया जाएगा।

अनुच्छेद 1 - अनुभाग 2

खंड 1

संयुक्त राज्य भारत किसी भी राज्य-क्षेत्र को जो भारत का प्राकृतिक अंग है या जो भारत की सीमा पर है, आपस में तय किए गए निबंधनों और शर्तों पर संघ में शामिल कर सकेगा। परंतु निबंधन संयुक्त राज्य भारत के संविधान से असंगत नहीं होंगे और संयुक्त राज्य संघ के राज्यों में से आधे राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा एक संकल्प के रूप में प्रवेश की सिफारिश की जाए।

स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 190

खंड 2

संयुक्त राज्य भारत राज्य-क्षेत्र अर्जित कर सकता है और उसे असम्मिलित राज्य-क्षेत्र मान सकता है। संयुक्त राज्य भारत के संविधान के उपबंध असम्मिलित राज्य-क्षेत्र पर लागू नहीं होंगे, जब तक कि संयुक्त राज्य भारत के विधान–मंडल द्वारा प्रतिकूल उपबंध न किया जाए।

प्रस्तावित अनुच्छेद 2

विस्तृत विश्लेषण

अनुच्छेद 2, अनुभाग 1 . नागरिकों के मूल अधिकार

अनुच्छेद 2, अनुभाग 2 . मूल अधिकारों पर आक्रमण के विरुद्ध उपचार :

खंड 1. न्यासिक संरक्षण

खंड 2. असमान व्यवहार से संरक्षण

खंड 3. भेदभाव से संरक्षण

खंड 4. आर्थिक शोषण से संरक्षण

अनुच्छेद 2, अनुभाग 3 . अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए उपबंध :

खंड 1. सांप्रदायिक कार्यपालिका से संरक्षण

खंड 2. सामाजिक और शासकीय अत्याचार से संरक्षण

खंड 3. सामाजिक बहिष्कार से सरंक्षण

खंड 4. लोक प्रयोजनों के लिए, जिनमें अल्पसंख्यकों के लिए लाभप्रद प्रयोजन भी शामिल हैं, संघ और राज्य सरकारों का धन खर्च करने का प्राधिकार और बाध्यता।

अनुच्छेद 2, अनुभाग 4 - अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षोपाय

भाग 1. प्रत्याभूतियां :

खंड 1. विधान-मंडल में और स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व का अधिकार

खंड 2. कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का अधिकार

खंड 3. सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार

भाग 2. विशेष उत्तरदायित्व :

खंड 1. उच्च शिक्षा के लिए

खंड 2. पृथक बस्तियों के लिए

भाग 3. सुरक्षोपायों तथा सुरक्षोपायों के संशोधन की मंजूरी :

खंड 1. सुरक्षोपाय संविधान में लेखबद्ध हों

खंड 2. सुरक्षोपायों का संशोधन

भाग 4. देशी राज्यों में अनुसूची जातियों का संरक्षण

भाग 5. निर्वचन

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 1

नागरिकों के मूल अधिकार

संयुक्त राज्य भारत के संविधान में निम्नलिखित को नागरिकों के मूल अधिकारों के रूप में माना जाएगा :

स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 190

1. वे सभी व्यक्ति जो संयुक्त राज्य भारत की सीमाओं के अंतर्गत पैदा हुए हैं या उनको नागरिकता प्रदान की गई है, सयुंक्त राज्य भारत के और उस राज्य के नागरिक हैं, जिसमें वे निवास करते हैं। दर्जा, जन्म, व्यक्ति, परिवार, धर्म या धार्मिक प्रथा और रीति-रिवाज के कारण उत्पन्न कोई भी विशेषाधिकार या निर्योग्यता समाप्त की जाती है।

2. कोई भी राज्य ऐसी कोई विधि या प्रथा नहीं बनाएगा या परिवर्तित करेगा, जो

नागरिकों के विशेषाधिकारों या उन्मुक्तियों को कम करती हो; न ही कोई राज्य विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना किसी व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और संपत्ति से वंचित करेगा; और न ही अपने क्षेत्राधिकार के भीतर किसी व्यक्ति को विधियों के समान संरक्षण से वंचित करेगा।

3. सभी नागरिक विधि के अंतर्गत समान हैं और उनके समान नागरिक अधिकार हैं। कोई भीवर्तमान विनियम, आदेश, प्रथा या विधि-निर्वचन जिसके द्वारा किसी नागरिक पर कोई जुर्माना, नुकसान या निर्योग्यता अधिरोपित की जाती है अथवा उसके साथ भेदभाव बरता जाता है, उस दिन से जिस दिन संविधान लागू हो जाएगा, प्रभावी नहीं रहेगा।

4. जो कोई भी किसी व्यक्ति को, सभी वर्गों के व्यक्तियों को तथा उनकी सामाजिक परिस्थिति का ध्यान रखे बिना लागू विधि द्वारा विहित कारणों के सिवाय, निवास-सुविधाओं, फायदों, सुविधाओं, सरायों, शिक्षा-संस्थाओं, सड़कों, पथों, गलियों, कुओं, तालाबों और जलस्थलों, भूमि, वायु या जल में रहने वाले सार्वजनिक वाहनों, थियेटरों अथवा लोक-मनोरंजन, अभिगमन या सुविधा के अन्य स्थानों चाहे वे जनता के उपयोग के लिए समर्पित हों अथवा अनुरक्षित हों या लाइसेंसशुदा हों- वंचित करेगा, वह दोषी होगा।

5. सभी नागरिकों को जनता द्वारा, या जनता के लिए अनुरक्षित सभी संस्थाओं, सुविधा-स्थलों और सुख-सुविधा स्थलों पर जाने का समान हक होगा।

6. कोई नागरिक अपने धर्म, जाति, पंथ लिंग या सामाजिक स्थिति के कारण कोई सार्वजनिक पद धारण करने अथवा कोई व्यापार या आजीविका चलाने से अनर्हित नहीं होगा।

7. (i) प्रत्येक नागरिक को भारत के किसी भी भाग में निवास करने का अधिकार है। लोक-व्यवस्था और नैतिकता की विचारणा के सिवाय ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाएगी जो नागरिकों के निवास करने के अधिकार को कम करती हो।

(ii) प्रत्येक नागरिक को भारत के किसी भी भाग में बसने का अधिकार है, बशर्तें कि वह अपने मूल राज्य का नागरिकता प्रमाणपत्र पेश करे। बसने की अनुज्ञा इस खंड के उपखंड (iv) के विनिर्दिष्ट आधारों के सिवाय मना नहीं की जाएगी अथवा वापस नहीं ली जाएगी।

(iii) राज्य जिसमें कोई नागरिक बसना चाहता है, इस प्रकार से बसने के संबंध में स्वयं के निवासियों पर अधिरोपित प्रभार से भिन्न विशेष प्रभार उस व्यक्ति पर अधिरोपित नहीं कर सकता। बसने का अनुज्ञा की बाबत लिया जाने वाला अधिकतम शुल्क संघ विधान–मंडल द्वारा निर्मित विधियों द्वारा निर्धारित किया जाएगा।

(iv) राज्य उन व्यक्तियों को बसने की अनुज्ञा देने से इंकार कर सकता है या उनसे अनुज्ञा वापस ले सकता है :

(क) जो आभ्यासिक अपराधी रहे हों;

(ख) जिनका बसने का आशय राज्य के सांप्रदायिक संतुलन को बदलना हो;

(ग) जो उस राज्य की, जिसमें वह बसना चाहते हैं, तसल्ली के अनुसार यह साबित नहीं कर सकें कि उनके पास निर्वाह के पक्के साधन हैं और जिनके लोक-खैरात पर निर्भर रहने की संभावना हो या जो उस पर स्थायी रूप से निर्भर हो चुके हों;

(घ) जिनके मूल राज्य ने उनके अनुरोध करने पर भी उनके लिए पर्याप्त सहायता देने से इंकार कर दिया हो।

(v) बसने की अनुज्ञा इस शर्त के साथ दी जा सकती है कि आवदेक काम करने के योग्य हो और अपने मूल स्थान पर लोक-खैरात पर स्थायी रूप से निर्भर न हो और वह बेरोजगारी के लिए प्रतिभूति देने में समर्थ हो।

(vi) प्रत्येक निष्कासन की पुष्टि संघ सरकार द्वारा अवश्य की जाएगी।

(vii) संघ विधान–मंडल बसने और निवास करने के अंतर को परिभाषित करेगा, और साथ ही निवास के दौरान व्यक्तियों के राजनीतिक और नागरिक अधिकारों पर लागू होने वाले विनिमय विहित करेगा।

8. संघ सरकार किसी भी समुदाय के उत्पीड़न के विरुद्ध एवं भारत के किसी भी हिस्से में होने वाली हिंसा या आंतरिक अशांति के विरुद्ध संरक्षण की गारंटी देगी।

9. किसी व्यक्ति से बलात श्रम करवाना या सकी मर्जी के विरुद्ध दासता करवाना अपराध होगा।

10. अनुचित तलाशी और अभिग्रहण से अपने शरीर, मकान, कागजों और चीजों को सुरक्षित रखने के लोगों के अधिकार का उल्लंघन नहीं किया जाएगा तथा शपथ या प्रतिज्ञान से समर्थित संभावित कारण और तलाश की जाने वाली जगह का विशेष रूप से उन व्यक्तियों या चीजों का उल्लेख किए बिना जिनका अभिग्रहण किया जाना है, कोई भी वारंट जारी नहीं किए जाएंगे।

11. किसी भी नागरिक को, अल्पायु कारावास और पागलपन को छोड़कर, अन्य किसी कारण से उसके मतदान के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा या उसके इस अधिकार को कम नहीं किया जाएगा।

12. ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाएगी जो वाक्, प्रेस, संस्था और सभा करने की स्वतंत्रता को कम करती हो, लेकिन लोक-व्यवस्था और नैकिता का ध्यान रखा जाएगा।

13. कोई भी बिल ऑफ अटेन्डर या कार्योत्रर विधि पारित नहीं की जाएगी।

14. राज्य प्रत्येक भारतीय नागरिक को अंतःकरण की स्वाधीनता तथा उसको अपने धर्म के अबाध आचरण की, जिसके अंतर्गत धर्म को मानने, प्रचार करने तथा लोक-व्यवस्था और नैतिकता के अनुरूप सीमाओं के भीतर धर्म-परिवर्तन का अधिकार भी है, गारंटी देगा।

15. किसी भी व्यक्ति को किसी धार्मिक संघ का सदस्य बनने, किसी धार्मिक शिक्षा को स्वीकार करने या धर्म का कोई कृत्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। पूर्ववर्ती उपबंध के अधीन रहते हुए माता-पिता और संरक्षक 16 वर्ष की आयु तक के बालकों की धार्मिक शिक्षा निर्धारित करने के लिए हकदार होंगे।

16. कोई भी व्यक्ति अपनी जाति, पंथ या धर्म के कारण किसी भी प्रकार का जुर्माना उपगत नहीं करेगा और न ही किसी व्यक्ति को जाति, पंथ या धर्म के आधार पर नागरिकता की कोई बाध्यता पूरी करने से इंकार करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा।

17. राज्य किसी भी धर्म को राजधर्म के रूप में मान्यता नहीं देगा।

18. किसी भी धर्म के अनुयायी लोगों को संगम-स्वातंत्र्य की गारंटी दी जाएगी और यदि वे चाहें तो उन्हें एक निगमित निकाय बनाने के लिए उनके द्वारा अनुमोदित रूप में विधान पारित करने के लिए राज्य की मांग करने का अधिकार होगा।

19. प्रत्येक धार्मिक संगम सब पर लागू विधियों को सीमाओं के अंतर्गत अपने कार्यों को विनियमित और प्रशासित करने के लिए स्वतंत्र होगा।

20. धार्मिक संगम अपने सदस्यों से, जो देने के इच्छुक हैं, अंशदान लेने के लिए हकदार होंगे, यदि उनकी निगमन विधि उन्हें ऐसा करने की अनुमति देती है। किसी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जिनके आगमों का विनिर्दिष्ट तौर पर विनियोजन ऐसे धार्मिक समुदाय के उपयोग के लिए किया जाए, जिसका वह सदस्य नहीं है।

21. इस अनुभाग के अंतर्गत सभी अपराध संज्ञेय समझे जाएंगे। संघ विधान-मंडल ऐसे उपबंधों को प्रभावी रूप देने के लिए जो उस प्रयोजन के लिए विधान की अपेक्षा करते हैं, और अपराधों के रूप में घोषित किए गए कृत्यों के लिए दंड विहित करने के हेतु विधियां बनाएगा।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 2

मूल अधिकारों पर आक्रमण के विरुद्ध उपचार

संयुक्त राज्य भारत उपबंध करेगा :

खंड 1

1. भारत की न्यायिक शक्ति उच्चतम न्यायालय में निहित होगी।

2. उच्चतम न्यायालय को अन्य सब न्यायालयों और न्यायालय की शक्तियों का प्रयोग करने वाले अधिकारियों पर अधीक्षण की शक्ति होगी - चाहे ऐसे न्यायालय या अधिकारी उसकी अपीली या पुनरीक्षण अधिकारिता के अधीन हों अथवा नहीं।

कार्यकारी के अत्याचार के विरुद्ध न्यायिक संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए (देखिए, पृष्ठ 191)

3. उच्चतम न्यायालय को पीड़ित पक्ष के आवेदन पर परमाधिकार रिट जैसे बंदी प्रत्यक्षीकरण, अधिकार पृच्छा प्रतिबंध, आदेशपत्र और परमादेशपत्र, आदि रिट जारी करने की शक्ति होगी। ऐसे रिटों के प्रयोजन के लिए उच्चतम न्यायालय संपूर्ण भारत में साधारण अधिकारिता का न्यायालय होगा।

4. रिट के लिए आवेदन करने का अधिकार तब तक कम या निलंबित नहीं किया जाएगा, जब तक कि राजद्रोह या आक्रमण की स्थिति में लोक-सुरक्षा के लिए ऐसा अपेक्षित न हो।

खंड 2

असमान व्यवहार से संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 191.193)

संघ एवं समस्त भारत के प्रत्येक राज्य के विधान-मंडल और कार्यपालिका का प्राधिकार निम्नलिखित परिसीमाओं के अधीन रहेगा :

भारत में कोई भी विधान-मंडल अथवा कार्यपालिका ऐसी विधि पारित करने या आदेश, नियम या विनियम जारी करने के लिए सक्षम नहीं होगी, जो राज्य की जनता के निम्नलिखित अधिकारों का उल्लंघन करते हों :

1. संविदा करना और उन्हें लागू करना, मुकदमा चलाना, पक्ष बनना और साक्ष्य देना, चलन और निजी संपत्ति को विरासत में पाना, खरीदना, पट्टे पर देना, बेचना, धारण करना और हस्तांतरित करना।
2. असैनिक और सैनिक सेवा में तथा समस्त शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश के लिए पात्र होना : परंतु इस पर ऐसी शर्तें और परिसीमाएं लगाई जा सकती हैं, जो राज्य की जनता के सभी वर्गों के सम्यक् और पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक हैं।
3. आवास-सुविधाओं, फायदों, सुविधाओं, शिक्षा संस्थाओं, सरायों, नदियों, झरनों, कुओं, तालाबों, सड़कों, पथों, गलियों, भूमि, वायु और जल पर सार्वजनिक वाहनों, थियेटरों तथा लोक-समागम या मनोरंजन के अन्य स्थानों के विशेषाधिकारों का ऐसी शर्तें और परिसीमाएं के अधीन रहते हुए पूर्ण और समान उपयोग के लिए हकदार होना हो जो हर मूलवंश, वर्ग, जाति, रंग या पंथ के सभी लोगों के लिए एक-सी लागू हों।
4. जनसाधारण के लिए अथवा उसी मत और धर्म के लोगों के लिए समर्पित या सर्जित; अनुरक्षित या लाइसेंस प्राप्त किसी धार्मिक या खैराती न्यास की सुविधाओं का बिना भेदभाव लाभ उठाने के लिए उपयुक्त और समर्थ समझा जाना।
5. अन्य लोगों की भांति व्यक्तियों और संपत्तियों की सुरक्षा के लिए समस्त विधियों और कार्यवाहियों का पूर्ण और समान रूप से लाभ उठाने का दावा करना, चाहे कोई भी प्रथा या रूढ़ि अथवा धर्म पर आधारित प्रथा या रूढ़ि हो और समान दंड, कष्ट और जुर्माने का भागी होना और अन्य किसी का नहीं।

खंड 3

भेदभाव से संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 193)

1. जाति या पंथ या सामाजिक स्थिति के आधार पर लोक-प्रशासन में सरकारी अधिकारियों द्वारा अथवा कारखानों और वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों में प्राइवेट कर्मचारियों द्वारा नागरिकों के साथ भेदभाव एक अपराध माना जाएगा। ऐसे मामलों पर विचार करने का क्षेत्राधिकार एक अधिकरण में विहित होगा, जो इस प्रयोजन के लिए गठित किया जाएगा।

2. संघ विधान-मंडल को समुचित विधान द्वारा इस उपबंध को प्रभावी रूप देने का अधिकार होगा तथा वह इसके लिए बाध्य होगा।

खंड 4

संयुक्त राज्य भारत अपने संविधान की विधि के भाग के रूप में यह घोषणा करेगा कि-

आर्थिक शोषण से संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 193.198)

1. वे उद्योग जो प्रमुख उद्योग हैं अथवा जिन्हें प्रमुख उद्योग घोषित किया जाए, राज्य के स्वामित्व में रहेंगे और राज्य द्वारा चलाए जाएंगे;

2. वे उद्योग जो प्रमुख उद्योग नहीं हैं, किन्तु बुनियादी उद्योग हैं, राज्य के स्वामित्वाधीन रहेंगे और राज्य द्वारा या राज्य द्वारा स्थापित निगमों द्वारा चलाए जाएंगे;

3. बीमा राज्य के एकाधिकार में रहेगा और राज्य हर वयस्क नागरिक को विवश करेगा कि वह अपनी आय के अनुरूप ऐसी जीवन बीमा पालिसी ले, जो विधान–मंडल द्वारा विहित की जाए;

4. कृषि राज्य उद्योग होगा;

5. राज्य गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा नियंत्रित ऐसे उद्योगों, बीमा और कृषि भूमि में उनके जीविका संबंधी अधिकार, चाहे स्वामी के नाते हों या पट्टेदार या बंधकदार के नाते, अर्जित करेगा और उन्हें भूमि में उनके अधिकार के बराबर ऋणपत्र के रूप में मुआवजा अदा करेगा। परंतु भूमि, संयंत्र या प्रतिभूति का मूल्य निकालते समय उसमें आपात स्थिति के कारण हुई वृद्धि की किसी भी संभावना को, अथवा अनुपार्जित मूल्य या अनिवार्य अर्जन के किसी भी मूल्य को हिसाब में नहीं लिया जाएगा;

6. राज्य यह निर्धारित करेगा कि कब और कैसे ऋणपत्र-धारक नकद भुगतान की मांग करने के लिए हकदार होगा;

7. ऋणपत्र अंतरणीय और विरासत-योग्य संपत्ति होंगे, किन्तु न तो ऋणपत्र-धारक और न ही मूल-धारक का अंतरिती और न ही उसका वारिस राज्य द्वारा अर्जित किसी भी औद्योगिक संस्थान में हित या भूमि की वापसी का दावा करने के लिए हकदार होगा अथवा उसके संबंध में किसी भी तरीके से व्यवहार करने के लिए हकदार होगा;

8. ऋणपत्र-धारक अपने ऋणपत्र पर ऐसी दर पर जो विधि द्वारा निश्चित की जाए, ब्याज के लिए हकदार होगा, जो राज्य द्वारा नकदी में या वस्तु के रूप में, जैसा वह ठीक समझे, अदा किया जाएगा;

9. कृषि उद्योग निम्नलिखित आधार पर संगठित किया जाएगा-

(i) राज्य अर्जित भूमि को मानक आकार के फार्मों में विभाजित करेगा और उन्हें गांव के निवासियों को पट्टेदारों के रूप में (कुटुंबों के समूह से निर्मित) आगे दी गई शर्तों पर खेती करने के लिए देगा :

(क) फार्म पर खेतीबारी सामूहिक फार्म के रूप में की जाएगी;

(ख) फार्म पर खेतीबारी सरकार द्वारा जारी किए गए नियमों और निदेशों के अनुसार की जाएगी;

(ग) पट्टेदार फार्म पर उचित रूप से उगाही करने योग्य प्रभार अदा करने के बाद फार्म की शेष उपज को आपस में विहित राशि से बांटेंगे;

(ii) भूमि गांव के लोगों को जाति या पंथ के भेदभाव के बिना पट्टे पर दी जाएगी और ऐसी रीति से पट्टे पर दी जाएगी कि कोई जमींदार न रहे, कोई पट्टेदार न रहे और न कोई भूमिहीन मजदूर रहे;

(iii) राज्य पानी, जोतने-बोने के लिए पशु, उपकरण, खाद, बीज, आदि देकर सामूहिक फार्म की खेती के लिए वित्तीय सहायता देने के लिए बाध्य होगा;

(iv) राज्य समर्थ होगा-

(क) फार्म की उपज पर निम्नलिखित प्रभार लेने के लिए :

(i) भू-राजस्व का एक अंश;

(ii) ऋणपत्र-धारकों को अदा करने के लिए एक अंश;

(iii) प्रदत्त पूंजीगत माल के उपयोग के लिए अदा करने के लिए एक अंश; तथा

(ख) उन पट्टेदारों के विरुद्ध जुर्माना विहित करने के लिए हकदार होगा, जो पट्टेदारी की शर्तों को तोड़ें अथवा राज्य द्वारा प्रदत्त खेतीबारी के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने में जान-बूझकर उपेक्षा करें या अन्यथा सामूहिक खेती की स्कीम पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले ढंग से कार्य करें।

10. योजना यथाशीघ्र चालू की जाएगी, लेकिन इसे चालू किए जाने की अवधि किसी भी स्थिति में संविधान लागू होने की तारीख से दसवें वर्ष के बाद नहीं बढ़ाई जाएगी।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 3

अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए उपबंध

संयुक्त राज्य भारत के संविधान में यह उपबंध होगा :

खंड 1

सांप्रदायिक कार्यपालिका से संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 198-201)

1. केन्द्रीय अथवा राज्य की कार्यपालिका इस अर्थ में गैर-संसदीय होगी कि उसे विधान–मंडल के कार्यकाल से पहले नहीं हटाया जा सकेगा।

2. यदि कार्यपालिका के सदस्य विधान–मंडल के सदस्य नहीं हैं, तो भी उन्हें विधान–मंडल में बैठने, बोलने, मतदान करने और प्रश्नों का उत्तर देने का अधिकार होगा :

3. प्रधानमंत्री का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मद से संपूर्ण सदन द्वारा किया जाएगा।

4. मंत्रिमंडल में विभिन्न अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत से विधान–मंडल में प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों द्वारा किया जाएगा।

5. कार्यपालिका में बहुसंख्यक समुदाय के प्रतिनिधियों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत से पूरे सदन द्वारा किया जाएगा।

6. मंत्रिमंडल का सदस्य अविश्वास प्रस्ताव पर अथवा अन्यथा अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है, किन्तु भ्रष्टाचार या राजद्रोह के आधार पर सदन द्वारा महाभियोग के सिवाय उसे हटाया नहीं जा सकेगा।

खंड 2

1. एक अधिकारी नियुक्त किया जाएगा, जिसे अल्पसंख्यकों के कार्यों का अधीक्षक कहा जाएगा।

सामाजिक और शासकीय अत्याचार (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 201)

2. उसकी स्थिति भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 166 के अधीन नियुक्त महालेखा परीक्षक जैसी होगी और वह उसी प्रकार और वैसे ही आधारों पर पद से हटाया जा सकता है, जैसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश।

3. उस अधीक्षक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह इस बारे में एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करे कि जनता एवं संघ और राज्यों की सरकारों ने अल्पसंख्यकों के साथ कैसा बर्ताव किया है तथा क्या सरकारों या उनके अधिकारियों ने सांप्रदायिक द्वेषभाव के कारण उनके सुरक्षोपायों का उल्लंघन किया है या उनके साथ अन्याय किया है।

4. अधीक्षक की वार्षिक रिपोर्ट संघ और राज्य विधान–मंडलों के पटल पर रखी जाएगी तथा संघ और राज्यों की सरकारें रिपोर्ट पर चर्चा के लिए समय देने के लिए आबद्ध होंगी।

खंड 3

1. जैसा कि नीचे परिभाषित किया गया है, सामाजिक बहिष्कार, सामाजिक बहिष्कार को बढ़ावा देना या उकसाना या सामाजिक बहिष्कार की धमकी देना अपराध घोषित किया जाएगा :

सामाजिक बहिष्कार से संरक्षण (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 201-204)

(i) बहिष्कार की परिभाषा – किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे का बहिष्कार करना समझा जाएगा जो–

(क) किसी मकान या भूमि को किराए पर देने, उसका उपयोग या अधिभोग करने अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार करने, भाड़े पर काम करने अथवा कारोबार करने अथवा उसे सेवा प्रदान करने या उससे सेवा लेने से इंकार करता है, अथवा उन शर्तों पर जिन पर ऐसी बातें कारोबार की सामान्य प्रक्रिया में आमतौर पर की जाती हैं; ऐसी बातों में से किसी को करने से इंकार करता है, अथवा

(ख) ऐसे सामाजिक, वृत्तिक या व्यावसायिक संबंधों से अलग रहता है, जिन्हें वह समाज में ऐसी वर्तमान प्रथाओं को ध्यान में रखते हुए जो संविधान में घोषित किसी मूल अधिकार से या नागरिकों के अन्य अधिकारों से असंगत नहीं है, ऐसे व्यक्ति का साधारणतया समर्थन करता है, अथवा

(ग) किसी भी प्रकार ऐसे अन्य व्यक्ति को उसके विधिपूर्ण अधिकारों का पालन करने में क्षति पहुंचाता है, तंग करता है या छेड़खानी करता है।

(ii) *बहिष्कार करने का अपराध*–जो किसी व्यक्ति द्वारा कोई कृत्य किए जाने के फलस्वरूप, जिसे करने के लिए वह विधितः हकदार था, अथवा उसके द्वारा किसी कृत्य का लोप किए जाने के फलस्वरूप जिसका लोप करने के लिए वह विधितः हकदार था, अथवा किसी व्यक्ति से कोई कृत्य करवाने के आशय से जिसे करने के लिए वह विधितः आबद्ध नहीं है या कोई कृत्य करने का लोप करवाने के आशय से जिसे करने के लिए वह विधितः हकदार है, अथवा ऐसे व्यक्ति को तन, मन, प्रतिष्ठा या संपत्ति की अथवा उसके कारोबार में या आजीविका के साधनों की हानि पहुंचाने के आशय से ऐसे व्यक्ति का, या किसी अन्य व्यक्ति का जिसमें ऐसा व्यक्ति हितबद्ध है, बहिष्कार करता है तो वह बहिष्कार करने के अपराध का दोषी होगा।

परंतु इस भाग के अधीन कोई अपराध किया गया नहीं समझा जाएगा, यदि न्यायालय संतुष्ट हो जाता है कि अभियुक्त ने किसी अन्य व्यक्ति के उकसाने पर या उसके साथ मिलकर किसी षड्यंत्र या किसी करार या दोनों के अनुसार बहिष्कार नहीं किया है।

(iii) *बहिष्कार को उकसाने या बढ़ावा देने का अपराध –जो कोई–*

(क) सार्वजनिक रूप से इसके लिए कोई प्रस्ताव तैयार करता है या प्रकाशित या प्रचारित करता है, अथवा

(ख) ऐसा कथन, अफवाह या रिपोर्ट इरादतन देता है या प्रकाशित या प्रचारित करता है अथवा जिसके संबंध में उसके पास यह विश्वास करने का कारण है कि उससे ऐसा होने की संभावना है, अथवा

(ग) किसी अन्य तरीके से किसी व्यक्ति या व्यक्तिवर्ग का बहिष्कार करने के लिए उकसाता है या उसे बढ़ावा देता है, वह बहिष्कार को उकसाने या उसे बढ़ावा देने के अपराध का दोषी होगा।

स्पष्टीकरण–इस खंड के अधीन अपराध किया हुआ समझा जाएगा, यद्यपि इसमें निर्दिष्ट प्रकार की किसी कार्रवाई से प्रभावित या प्रभावित होने के लिए संभाव्य व्यक्ति का नाम से अथवा वर्ग से उल्लेख किया जाता है, बल्कि किसी खास तरीके से उसके कार्य करने से या कार्य करने से प्रवरित रहने से किया जाता है।

(iv) बहिष्कार की धमकी देने का अपराध–जो कोई किसी व्यक्ति द्वारा कोई कृत्य किए जाने के फलस्वरूप, जिसे करने के लिए वह विधितः हकदार था, अथवा उसके द्वारा किसी कृत्य का लोप किए जाने के फलस्वरूप, जिसका लोप करने के लिए वह विधितः हकदार था, अथवा किसी व्यक्ति से कोई कृत्य करवाने के आशय से जिसे करने के लिए वह विधितः आबद्ध नहीं है, अथवा किसी कृत्य को करने का लोप करवाने के आशय से जिसे करने के लिए वह विधितः हकदार है, ऐसे व्यक्ति या किसी व्यक्ति का जिसमें ऐसा व्यक्ति हितबद्ध है, बहिष्कार करवाने की धमकी देता है, वह बहिष्कार की धमकी देने के अपराध का दोषी होगा।

अपवाद - परंतु-

(i) वास्तविक श्रमिक विवाद को आगे बढ़ाने के लिए कोई कृत्य करना,

(ii) व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा की सामान्य प्रक्रिया में कोई कृत्य करना बहिष्कार नहीं है।

2. ये सब अपराध संज्ञेय अपराध समझे जाएंगे। संघ विधान–मंडल इन अपराधों के लिए दंड विहित करने वाली विधियां बनाएगा।

खंड 4

अल्पसंख्यकों के हितबद्ध प्रयोजनों सहित भारत सरकार से संबंधित किसी भी प्रयोजन हेतु धन खर्च करने के लिए सरकारों की शक्ति (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 204)

किसी भी प्रयोजन के लिए अनुदान देने की केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों की शक्ति कम नहीं की जाएगी। अथवा छीनी नहीं जाएगी, चाहे वह प्रयोजन ऐसा न हो जिसके लिए संघ या राज्य विधान–मंडल जो भी हो विधियां बना सकता है।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 4

अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षोपाय

भाग 1 - प्रत्याभूतियां (गारंटियां)

विधान–मंडल में प्रतिनिधित्व का अधिकार (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 204–210)

संयुक्त राज्य भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों के लिए आगे दिए गए अधिकारों की गारंटी दी जाएगीः

खंड 1

विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व का अधिकार

1. प्रतिनिधित्व की मात्रा (क)

(i) अनुसूचित जातियों को संघ और राज्य विधान–मंडल में न्यूनतम प्रतिनिधित्व मिलेगा और यदि समूह संविधान होगा तो समूह विधानमंडल में कुल जनसंख्या से उनकी जनसंख्या के अनुपात के बराबर प्रतिनिधित्व मिलेगा, बशर्ते कि अन्य किसी अल्पसंख्यक जाति को उसकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व का दावा नहीं करने दिया जाए।

(ii) सिन्ध और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांतों की अनुसूचि जातियों को उनके उचित हिस्से का प्रतिनिधित्व दिया जाएगा।

(iii) जहां विशाल सांप्रदायिक बहुसंख्यक को एक उचित सीमा के भीतर रखना आवश्यक हो जाए, वहां अधि-प्रतिनिधित्व बहुसंख्यक के हिस्से में से लिया जाएगा। किसी भी हालत में यह किसी अन्य अल्पसंख्यक जाति को हानि पहुंचा कर नहीं होगा।

(iv) बहुसंख्यकों के हिस्से में से निकाला गया अधि-प्रतिनिधित्व किसी एक समुदाय को ही नहीं दिया जाएगा, बल्कि उसे समस्त अल्पसंख्यक समुदायों में बराबर-बराबर अथवा उनकी-

(1) आर्थिक स्थिति,

(2) सामाजिक स्थिति, और

(3) शैक्षिक प्रगति

के विलोम अनुपात में बांटा जाएगा।

(ख) विशेष हितों के लिए कोई प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिए। किन्तु यदि यह अनुज्ञात कर दिया जाए तो यह उस समुदाय को जिसका यह विशेष हित है, दिए गए प्रतिनिधित्व के हिस्से में से लिया जाए।

2. निर्वाचन-प्रणाली

(क) विधायी निकायों के लिए

(क) पूना समझौते से आरंभ की गई निर्वाचन-प्रणाली समाप्त कर दी जाएगी।
(ख) उसके स्थान पर पृथक निर्वाचक-मंडल की प्रणाली आरंभ की जाएगी।
(ग) मताधिकार प्रौढ़ मताधिकार होगा।
(घ) मतदान-प्रणाली संचयी होगी।

(ख) स्थानीय निकायों के लिए

नगरपालिकाओं और स्थानीय निकायों के लिए प्रतिनिधित्व की मात्रा निर्धारित करने के सिद्धांत और निर्वाचन पद्धति वही होगी जो संघ राज्य विधानमंडलों के लिए अपनाई गई हो।

खंड 2

कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का अधिकार (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 210-211)

1. अनुसूचित जातियों को संघ और राज्य की कार्यपालिका में न्यूनतम प्रतिनिधित्व मिलेगा और यदि समूह संविधान होगा, समूह कार्यपालिका में उनका प्रतिनिधित्व कुल जनसंख्या से उनकी जनसंख्या के अनुपात के बराबर होगा, परंतु किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय को उसकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व का दावा नहीं करने दिया जाएगा।

2. जहां किसी विशाल बहुसंख्यक को एक उचित सीमा के भीतर रखना आवश्यक हो जाए, वहां अधि-प्रतिनिधित्व बहुसंख्यक समुदाय के हिस्से में से लिया जाएगा। किसी भी दशा में वह अन्य अल्पसंख्यक समुदाय की कीमत पर नहीं होगा।

3. बहुसंख्यक के हिस्से में से निकाला गया अधि-प्रतिनिधित्व किसी एक समुदाय को ही नहीं दिया जाए, बल्कि वह सभी अल्पसंख्यकों में बराबर-बराबर अथवा-

(i) उनकी आर्थिक स्थिति, (ii) सामाजिक स्थिति और (iii) शैक्षिक प्रगति

के विलोम अनुपात में बांटा जाएगा।

खंड 3

सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार

(स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ, 211)

(क) सेवाओं में अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व की मात्रा निम्नलिखित रूप में होगी–

(i) संघीय सेवाओं में–भारत में या ब्रिटिश भारत में जो भी हो, कुल जनसंख्या से उनकी जनसंख्या के अनुपात में,

(ii) राज्य और समूह सेवाओं में–राज्य या संघ में उनकी जनसंख्या के अनुपात में,

(iii) नगरपालिका और स्थानीय परिषदों की सेवाओं में–नगरपालिका और स्थानीय परिषदों के क्षेत्रों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में :

(क) परंतु किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय को सेवाओं में उसकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व का दावा नहीं करने दिया जाएगा।

(ख) सेवाओं में प्रतिनिधित्व का उनका अधिकार न्यूनतम अर्हताओं, शिक्षा, आयु, आदि संबंधी शर्तों के सिवाय कम नहीं किया जाएगा।

(ग) सेवाओं में प्रवेश के लिए विहित शर्तों के द्वारा 1942 और 1945 के संकल्पों में भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों को दी गई रियायतों में से किसी में कटौती नहीं की जाएगी।

(घ) रिक्तियों को भरने की पद्धति 1942 और 1945 के भारत सरकार के संकल्पों में विहित नियमों के अनुरूप होगी।

(ङ) रिक्तियों को भरने के लिए गठित प्रत्येक लोक सेवा आयोग या समिति पर अनुसूचित जातियों का कम से कम एक प्रतिनिधि होगा।

भाग 2 विशेष उत्तरदायित्व

संयुक्त राज्य भारत अनुसूचित जातियों की प्रगति के लिए निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने की जिम्मेदारी लेना :

खंड 1

उच्च शिक्षा के लिए उपबंध (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 211)

1. संघ और राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की जाएगी कि वे अनुसूचित जातियों की उच्च शिक्षा की वित्तीय जिम्मेदारी अपने ऊपर लें और अपने बजट में समुचित उपबंध करें। ऐसे उपबंध संघ और राज्य सरकार के शिक्षा बजट पर प्रथम भार होंगे।

2. भारत में अनुसूचित जातियों की माध्यमिक और माविद्यालय शिक्षा के लिए धन जुटाने का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर होगा और विभिन्न राज्य कुल जनसंख्या से अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात में उक्त प्रयोजन के लिए अपने वार्षिक बजटों में उपबंध करेंगे।

3. अनुसूचित जातियों की विशेष शिक्षा के लिए धन जुटाने को उत्तरदायित्व संघ सरकार पर होगा और संघ सरकार इस निमित्त अपने वार्षिक बजट में हर वर्ष दस लाख रुपये की व्यवस्था करेगी।

4. ये विशेष अनुदान राज्य के लोगों के लिए प्राथमिक शिक्षा के विकास में राज्य सरकार द्वारा किए जाने वाले व्यय में हिस्सा बांटने के अनुसूचित जातियों के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेंगे।

खंड 2

1. संघ सरकार के संविधान में निम्नलिखित उपबंध किए जाएंगेः

नई बस्तियों के लिए उप. बंध (स्पष्टकीण के लिए देखिए, 211-212)

(i) नए संविधान के अधीन एक बंदोबस्त आयोग होगा, जो अलग–अलग गांवों में अनुसूचित जातियों के व्यवस्थापन के लिए राज्य की जोत से भिन्न भूमि को न्यास में धारण करेगा।

(ii) संघ सरकार व्यवस्थापन की स्कीम को बढ़ावा देने के लिए हर वर्ष 5 करोड़ रुपये की निधि पृथक रखेगी।

(iii) आयोग को विक्रयार्थ दी गई किसी भी भूमि को खरदीने और उक्त प्रयोजन के लिए उसका उपयोग करने की शक्ति होगी।

2. संघ सरकार समय-समय पर ऐसा विधान पारित करेगी, जो आयोग के लिए अपना काम करने के लिए आवश्यक हो।

भाग 3. सुरक्षोपायों और सुरक्षोपायों के संशोधन के लिए मंजूरी

खंड 1

संयुक्त राज्य भारत के संविधान में उपबंध किया जाएगा कि–

(स्पष्टकीण के लिए देखिए, 212-214)

संयुक्त राज्य भारत अनुच्छेद 2-अनुभाग 4 में अंकित सुरक्षोपायों को संविधान में स्थान देने और उन्हें भारत की संविधि का अंग बनाने के लिए वचनबद्ध है।

खंड 2

अनुसूचित जातियों से संबंधित उपबंधों को निम्नलिखित रीति के सिवाय परिवर्तित, संशोधित या निराकृत नहीं किया जाएगा।

सुरक्षोपायों के संशोधन का ढंग (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 214)

अनुसूचित जातियों से संबंधित अनुच्छेद 2- अनुभाग 4 या उसके किसी भाग का कोई संशोधन या निराकरण संघ विधान–मंडल के अधिक लोकप्रिय सदन द्वारा निम्नांकित रीति से पारित संकल्प द्वारा ही किया जाएगा :

(i) संशोधन या निराकरण का प्रस्ताव संघ विधान–मंडल से अधिक लोकप्रिय सदन में एक संकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा।

(ii) ऐसा कोई संकल्प तब तक नहीं रखा जाएगा जब तक कि–

(क) संविधान के लागू होने पर क्रियान्वयन के बाद 25 वर्ष न बीत जाएं, और

(ख) संकल्प पेश करने वाला ऐसा संकल्प रखने के अपने आशय की 6 मास पूर्व सूचना सदन को न दे दे।

(iii) ऐसा संकल्प पारित हो जाने के पश्चात् विधान–मंडल भंग हो जाएगा और नए निर्वाचन कराए जाऐंगे

(iv) मूल संकल्प उसी रूप में जिसमें वह पिछले विधान–मंडल द्वारा पारित किया गया था, नव-निर्वाचित संघीय विधान–मंडल के उसी सदन में नए सिरे से रखा जाएगा।

(v) संकल्प पारित किया गया नहीं समझा जाएगा, जब तक कि वह इस सदन के सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से तथा अनुसूचित जातियों के दो तिहाई सदस्यों से जो पृथक-पृथक निर्वाचक–मंडलों के जरिए विजयी रहे हों, पारित न कर दिया जाए।

भाग 4 - देशी राज्यों में अनुसूचित जातियों का संरक्षण

संयुक्त राज्य भारत के संविधान में उपबंध किया जाएगा कि संघ में देशी राज्यों का प्रवेश निम्नलिखित शर्त के अधीन रहेगा :

(स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 215)

संयुक्त राज्य भारत के संविधान के अनुच्छेद 2-अनुभाग 4 में अंकित अनुसूचित जातियों विषयक सभी उपबंधों का विस्तार देशी राज्यों की अनुसूचित जातियों तक किया जाएगा। देशी राज्यों के संविधान में ऐसा उपबंध होना संघ में उनके प्रवेश की एक पूर्व शर्त होगी।

भाग 5 - निर्वचन

अनुसूचित जातियां : एक अल्पसंख्यक (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 215)

1. भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अधीन जारी किए गए भारत शासन अनुसूचित जाति आदेश, 1936 में यथा परिभाषित अनुसूचित जातियां अनुच्छेद 2 के प्रयोजनों के लिए अल्पसंख्यक समझी जाएगी।

अनुसूचित जातियां : और निवास परिवर्तन (स्पष्टीकरण के लिए देखिए, पृष्ठ 215)

2. अनुच्छेद 2 के प्रयोजनों के लिए जाति एक राज्य में अनुसूचित है, वह संघ के सभी राज्यों में अनुसूचित जाति मानी जाएगी।

परिशिष्ट 1

स्पष्टीकरण टिप्पणी

उद्देशियका

उद्देशियका 22 जनवरी, 1947, यानि बुधवार को संविधान सभा द्वारा पारित उद्देश्यों विषयक संकल्प को संवैधानिक आकृति और स्वरूप प्रदान करती है।

अनुच्छेद 1 . अनुभाग 1

खंड 1 से खंड 4

छह सौ से अधिक देशी राज्यों के संघ में शामिल होने के अनेक जटिल प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। उनमें सबसे कठिन प्रश्न है संघ में उनके प्रवेश के बारे में। प्रत्येक देशी राज्य प्रभुतव संपन्न राज्य होने का दावा कर रहा है और स्वयं के अधिकार से संघ में शामिल किए जाने की मांग कर रहा है। आकार, जनसंख्या, राजस्व और संसाधनों की दृष्टि से देशी राज्यों के अलग-अलग वर्ग हैं। स्पष्ट है कि राज्य के रूप में संघ में शामिल प्रत्येक राज्य के पास अपनी निजी सीमाओं के भीतर शांति कायम रखने, आधुनिक प्रशासन का भार वहन करने और अपने लोगों के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक संसाधन रखने की सामर्थ्य हो, अन्यथा अनेक कमजोर राज्यों का भार संयुक्त राज्य भारत पर पड़ने की संभावना है। वे केन्द्रीय सरकार के लिए सहायक होने की बजाय उस पर बोझ बन जाएंगे। अपनी इकाइयों के रूप में ऐसे छोटे और कमजोर राज्यों वाली केन्द्रीय सरकार आपातकाल में कभी भी अपनी गाड़ी नहीं खींच पाएगी। अतः यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक देशी राज्य को आधुनिक प्रशासन तथा आंतरिक शांति कायम रखने का भार वहन करने की उसकी सामर्थ्य का निरीक्षण किए बिना संघ में शामिल कर लिया गया, तो भारत की भावी सुरक्षा के लिए भारी खतरा हो जाएगा। इस खतरे से बचने के लिए इस अनुच्छेद के अंतर्गत देशी राज्यों को दो वर्गों में बांटा गया है : (1) अर्हित देशी राज्य, और (2) अनर्हित देशी राज्य। इसमें प्रस्तावित है कि देशी राज्यों को संघ में शामिल करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया में सर्वप्रथम अर्हित देशी राज्यों की एक सूची तैयार की जाए। अर्हित देशी राज्य को संघ में प्रवेश आवेदन करने पर तथा समर्थकारी अधिनियम के उपबंधों की पूर्ति पर दिया जाएगा। संघ विधान–मंडल उस राज्य में स्थापित आंतरिक शासन की अपेक्षा करने के प्रयोजन के लिए ऐसा अधिनियम पारित करने के लिए प्राधिकृत है। वह संयुक्त राज्य भारत के संविधान में अंतर्निहित सिद्धांतों के अनुरूप होगा। अनर्हित देशी राज्यों के आधिपत्य वाला राज्य-क्षेत्र संयुक्त राज्य भारत का राज्य-क्षेत्र माना जाएगा और उसे संयुक्त राज्य भारत द्वारा उपयुक्त आकार के राज्यों में पुनर्गठित किया जाएगा। इस बीच में इन क्षेत्रों के शासक इन क्षेत्रों पर संयुक्त राज्य भारत के निरीक्षण के अंतर्गत शासन करते रहेंगे। अधिनियम द्वारा यह भी घोषणा की गई है कि भारतीय राज्य-क्षेत्र चाहे वह ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के आधिपत्य में हो या देशी राज्यों के, एक अखंड राज्य-क्षेत्र होगा और तब भी ऐसा ही होगा जब कोई देशी राज्य संघ में शामिल न हो।

खंड 4 में उपबंध किया गया है कि जब एक बार कोई राज्य संघ में शामिल कर लिया जाए तो उसकी अखंडता कायम रखी जाएगी और उसे इस खंड में शामिल उपबंधों के अन्यथा उपखंडों में नहीं बांटा जाएगा।

अनुच्छेद 1 - अनुभाग 2
खंड 1 और खंड 2

खंड 1 संयुक्त राज्य भारत को उन राज्यों को सम्मिलित करने की अनुज्ञा देता है, जो स्वाधीन हैं, किन्तु सीमा पर स्थित हैं और संघ में शामिल होना चाहते हैं।

खंड संयुक्त राज्य भारत को कोई राज्य-क्षेत्र में अर्जित करने तथा उसे सम्मिलित करने या एक पृथक राज्य-क्षेत्र के रूप में मानने की अनुज्ञा देता है।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 1

संविधान में मूल अधिकारों को शामिल करने के लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। मूल अधिकारों की आवश्यकता सभी नए-पुराने संविधानों में मान्य रही है। इस अनुच्छेद में शामिल मूल अधिकार विभिन्न देशों, विशेषकर उन देशों के जहां कामोवेश भारत जैसी अवस्थाएं हैं, संविधानों से लिए गए हैं।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 2
खंड 1

अधिकार तभी वास्तविक होते हैं, जब उनके साथ उपचार भी हों। यदि पीड़ित व्यक्ति को अपने अधिकारों का अतिक्रमण किए जाने पर कोई कानूनी उपचार प्राप्त नहीं है, तो अधिकार प्रदान करना बेकार है। परिणामस्वरूप, जब संविधान अधिकारों की गारंटी देता है, तो यह आवश्यक हो जाता है कि विधायिका और कार्यपालिका को उन पर हावी होने से रोकने के लिसए उपबंध किया जाए। यह काम प्रायः न्यायपालिका को सौंपा जाता है और न्यायालयों को संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का विशेष संरक्षक बनाया गया है। इस खंड का इससे अधिक और कोई काम नहीं है। इस खंड के अंतर्गत कार्यपालिका द्वारा प्राधिकार के दुरुपयोग के खिलाफ न्यायपालिका को छानबीन करने की कुछ शक्तियों से लैस करके नागरिकों को कार्यपालिका के अत्याचार से संरक्षण प्रदान करना प्रस्तावित है। यह शक्ति रिट जारी करने के रूप में होगी। भारत में उच्च न्यायालय को भारत सरकार अधिनियम और उनके अधिकार-लेखों के अधीन ये शक्तियां प्राप्त हैं, किन्तु इन शक्तियों पर दो पाबंदियां हैं। प्रथम, अधिकार-लेखों द्वारा प्रदत्त शक्तियां प्रेसिडेंसी नगरों के उच्च न्यायालयों को ही प्राप्त हैं, न कि सबको। दूसरे, ये शक्तियां केन्द्रीय विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधियों के अधीन हैं। तीसरे, भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा प्रदत्त शक्तियां सीमित हैं और संभवतः वे पीड़ित व्यक्ति को संरक्षण देने के लिए अपर्याप्त सिद्ध हों। इस खंड के दो उद्देश्य हैं– (1) न्यायपालिका को वे रिट जिन्हें आंगल विधि के अंतर्गत परमाधिकार रिट कहते हैं, जारी करने की पूरी शक्ति देना, तथा (2) इन शक्तियों को किसी भी तरह कम करने से विधान–मंडल को रोकना।

खंड 2

भारत जैसे देश में जहां अधिसंख्य लोग सांप्रदायिक वृत्ति के हैं, यह आशा करना कठिन है कि जो लोग सत्ता में होंगे, उन लोगों के साथ समान व्यवहार करेंगे जो उनके संप्रदाय के नहीं हैं। भेदभावपूर्ण व्यवहार भारत के अस्पृश्यों के भाग्य में अपरिहार्य रहा है। मद्रास सरकार के राजस्व बोर्ड की कार्यवृत्त 723, तारीख 5 नवंबर, 1892 में से लिया गया निम्नलिखित अंश इस आसामान व्यवहार का एक उदाहरण पेश करता है, जो हिन्दू अधिकारियों द्वारा अनुसूचित जातियों के साथ किया जाता है। रिपोर्ट में लिखा है :

134. प्रपीड़न के अनेक रूप हैं, जिनकी ओर तक इशारा भर किया गया है। उनका उल्लेख कम से कम सरसरी तौर पर अवश्य किया जाना चाहिए। जैसे, पेरिया द्वारा अवज्ञा किए जाने पर उनके मालिक उन्हें दंडित करने के लिए-

(क) ग्राम न्यायालय में या दंड न्यायालय में झूठे मुकदमे चलाते हैं।

(ख) परचेरी के चारों तरफ पड़ी बंजर भूमि आवेदन करके सरकार से प्राप्त कर लेते हैं, ताकि पेरियों के पशुओं को पकड़ कर रखा जा सके तथा उनके मंदिर जाने का मार्ग अवरुद्ध किया जा सके।

(ग) सरकारी खाते में परचेरी पर मिरासी नामों को कपटपूर्वक दर्ज करवा लेते हैं।

(घ) झुग्गियों को गिरवा देते हैं और पिछवाड़े की फसल को नष्ट कर देते हैं।

(ङ) बहुत पुरानी शिकमी काश्तों में अधिभोग का अधिकार नहीं देते हैं।

(च) पेरियों की फसल बलपूर्वक काट लेते हैं। और मुकाबला करने पर उन पर चोरी और दंगा करने का आरोप लगाते हैं।

(छ) गलत बयानी करके उनसे दस्तावेज लिखवा लेते हैं, जिनसे वे बाद में बर्बाद हो जाते हैं।

(ज) उनके खातों का पानी रोक देते हैं।

(झ) कानूनी नोटिस के बिना जमींदार के बकाया लगान के लिए शिकमी काश्तकारों की संपत्ति कुर्क करवा लेते हैं।

135. लोग कहेंगे कि इन क्षतियों में से किसी के भी प्रतिकार के लिए सिविल और दंड न्यायालय हैं। निससंदेह न्यायालय हैं, किन्तु भारत के गांव हेम्पडेन जैसे लोगों को पनपने नहीं देते। लोगों में न्यायालय जाने का साहस होना चाहिए और उनके पास वकील करने और कानूनी खर्च चुकाने के लिए धन, तथा मुकदमे और अपीलों के लंबित रहते हुए जीविका के साधन अवश्य होने चाहिएं। साथ ही, अधिकांश मुकदमे प्रथम न्यायालय के फैसले पर निर्भर करते हैं और इन न्यायालयों में वही पदाधिकारी पीठासीन होते हैं, जो प्रायः भ्रष्ट होते हैं और जो अन्य कारणों से आमतौर पर धनी और जमींदार वर्गों से सहानुभूति रखते हैं। वे भी उन्हें वर्गों के होते हैं।

136. पदाधिकारियों पर इन वर्गों के असर को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहा जा सकता। स्थानीय लोगों पर तो यह अत्यधिक होता ही है, यूरोपवासियों पर भी बहुत होता है। छोटे-बड़े, सब कार्यलय इनके प्रतिनिधियों से भरे रहते हैं, और उनके हितों को प्रभावित करने का कोई प्रस्ताव नहीं है। किन्तु शुरु से लेकर निष्पादन तक की प्रक्रिया में वे उस पर काफी प्रभाव डाल सकते हैं।

पंजाब लैंड ऐलियनेशन ऐक्ट (पंजाब भूमि संक्रामण अधिनियम) विधान–मंडल द्वारा अस्पृश्यों के साथ आसमान व्यवहार का एक अन्य उदाहरण है।

हो सकता है, अन्य अनेक अल्पसंख्यक समुदायों को भी बहुसंख्यक समुदाय के हाथों ऐसे ही व्यवहार का शिकार होना पड़ता हो। अतः यह आवश्यक है कि ऐसा उपबंध बनाकर यह सुनिश्चित किया जाए कि समस्त नागरिकों को विधियों, नियमों और विनियमों का समान फायदा मिले।

खंड 2 के उपबंध असमान व्यवहार से नीग्रो के संरक्षण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस द्वारा पारित सिविल राइट्स प्रोटेक्शन एक्ट, 1866 तथा 1 मार्च, 1875 के अधिनियम से लिए गए हैं।

खंड 3

यदि मूल अधिकारों को वास्तविक अधिकार बनाना है तो भेदभाव की बीमारी से बचाव करना जरूरी है। भारत जैसे देश में जहां भेदभाव विशाल पैमाने पर और निष्ठुर तरीकों से करना संभव है, मूल अधिकारों का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसका उपचार संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस में हाल ही में पुनःस्थापित विधेयक में अंगीकृत उपचारों पर आधारित है। उस विधेयक का उद्देश्य नीग्रो के सथ भेदपूर्ण आचरण का निवारण करना है।

खंड 4

इस खंड के पीछे मुख्य प्रयोजन राज्य पर यह दायित्व डालना है कि वह लोगों के आर्थिक जीवन को इस प्रकार योजनाबद्ध करे कि उससे उत्पादकता का सर्वोच्च बिन्दु हासिल हो जाए और निजी उद्यम के लिए एक भी मार्ग बंद न हो, और संपदा के समान वितरण के लिए भी उपबंध किया जाए। इस खंड के अंतर्गत वर्णित योजना के अनुसार कृषि के क्षेत्र में राजकीय स्वामित्व प्रस्तावित है, जहां सामूहिक पद्धति से खेतीबारी की जाए तथा उद्योग के क्षेत्र में राजकीय समाजवाद का रूपांतरित रूप भी प्रस्तावित है। इसमें कृषि एवं उद्योग के लिए आवश्यक पूंजी सुलभ कराने की बाध्यता राज्य के कंधों पर स्पष्ट रूप से डाली गई है। राज्य द्वारा पूंजी उपलब्ध कराए बिना कृषि या उद्योग से बेहतर परिणाम नहीं लिए जा सकते। इसमें यह भी प्रस्तावित है कि बीमा का दोहरे उद्देश्य से राष्ट्रीयकरण किया जाए। व्यक्ति को निजी बीमा फर्म की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत बीमा से अधिक सुरक्षा मिलती है, क्योंकि उसके अंतर्गत राज्य के संसाधन व्यक्ति की बीमा राशि के अंतिम भुगतान की प्रतिभूति के रूप में गिरवी रहते हैं। साथ ही राज्य

को भी अपनी आर्थिक योजना के वित्त प्रबंध के लिए आवश्यक संसाधन मिल जाते हैं। अन्यथा राज्य की ऊंची ब्याज दर पर बाजार से धन उधार लेना पड़ेगा। भारत का तेजी से औद्योगीकरण करने के लिए राजकीय समाजवाद अनिवार्य है। निजी उद्यम ऐसा नहीं कर सकता और यदि कर सकता है तो भी वह संपदा की विषमताओं को जन्म देगा, जो निजी पूंजीवाद ने यूरोप में पैदा की है और जो भारतीयों के लिए एक चेतावनी होगी। चकबंदी और काश्तकारी विधान व्यर्थ से भी बदतर हैं। उनसे कृषि-क्षेत्र समृद्ध नहीं हो सकता। न तो चकबंदी और न ही काश्तकारी विधान छह करोड़ अस्पृश्यों के लिए सहायक हो सकते हैं, जो भूमिहीन मजदूर हैं। न तो चकबंदी और न ही काश्तकारी विधान उनकी समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं। प्रस्ताव में वर्णित विधि से स्थापित सामूहिक फार्म ही उनके लिए सहायक हो सकते हैं। संबंधित हितों के स्वत्वहरण का कोई प्रश्न नहीं है। परिणामस्वरूप इस आधार पर इस प्रस्ताव का विरोध नहीं किया जाना चाहिए।

योजना की दो विशेषताएं हैं : एक, इसमें प्रस्तावित है कि आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में राजकीय समाजवाद हो। इस योजना की दूसरी खास बात है कि राजकीय समाजवाद की स्थापना विधान-मंडल की इच्छा पर निर्भर नहीं करेगी। राजकीय समाजवाद की स्थापना संवैधानिक विधि द्वारा होगी और इस प्रकार उसे विधायिका और कार्यपालिका के किसी कृत्य से बदला नहीं जा सकेगा।

संवैधानिक विधि के छात्र तुरंत विरोध प्रदर्शित करेंगे। वे निश्चय ही पूछेंगे—क्या यह प्रस्ताव सामान्य प्रकार के मूल अधिकारों की परिधि से बाहर नहीं जाता? मेरा उत्तर है, नहीं। यदि ऐसा दिखाई देता है कि यह उनसे बाहर जाता है तो यह इसलिए है, क्योंकि मूल अधिकारों की संकल्पना जिस पर ऐसी आलोचना आधारित है, एक संकीर्ण संकल्पना है। इससे भी एक कदम आगे कोई यह कह सकता है कि संवैधानिक विधि की परिधि की संकीर्ण संकल्पना से भी, जिसमें मूल अधिकारों से अधिक कुछ न हो, इस प्रस्ताव के लिए पर्याप्त औचित्य हो सकता है, क्योंकि समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और स्वरूप को विधि द्वारा विहित करने का क्या प्रयोजन है? वह प्रयोजन एक व्यक्ति की स्वाधीनता को दूसरे व्यक्तियों के अतिक्रमण से बचाना है और मूल अधिकारों को अधिनियमित करने का यही उद्देश्य है। हो सकता है, व्यष्टि की स्वाधीनता और समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और स्वरूप का संबंध हरेक को दिखाई न दे। फिर भी दोनों के बीच एक वास्तविक संबंध है। यदि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाए तो वह संबंध प्रकट हो जाएगा।

राजनीतिक लोकतंत्र चार आधार-स्तंभों पर निर्भर करता है, जो निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किए जा सकते हैं :

(i) व्यक्ति अपने आप में एक सिद्धि है।

(ii) व्यक्ति के कुछ अहरणीय अधिकार होते हैं, जिनकी गारंटी उसे संविधान द्वारा दी जाए।

(iii) कोई विशेषाधिकार प्राप्त करने की पूर्व शर्त के रूप में किसी व्यक्ति से यह

अपेक्षा न की जाए कि वह अपने संवैधानिक अधिकारों में से किसी अधिकार का परित्याग करे।

(iv) राज्य दूसरों पर शासन करने के लिए गैर-सरकारी लोगों की शक्तियां प्रत्यायोजित न करे।

जो लोग निजी उद्यम पर आधारित सामाजिक अर्थव्यवस्था और निजी लाभ की कार्यप्रणाली का अध्ययन करते हैं, वे जानते होंगे कि यह लोकतंत्र के अंतिम दो आधार स्तंभों को, यदि वस्तुतः भंग नहीं करती है, तो दुर्बल अवश्य बना देती है। अपनी आजीविका पाने के लिए कितनों को अपने संवैधानिक अधिकार छोड़ने पड़ेंगे? कितने लोगों को प्राइवेट नियोजकों से शासित होना पड़ेगा?

जो बेरोजगार हैं, उनसे पूछिए कि मूल अधिकारों का उनके लिए क्या महत्व है। यदि किसी बेरोजगार से एक ऐसी नौकरी जिसमें कुछ वेतन मिले, कोई निश्चित कार्य घंटे न हों और संघ में शामिल होने की मनाही हो तथा वाक्, संगम, धर्म, आदि की स्वतंत्रता के अधिकार के प्रयोग के बीच निर्वाचन करने के लिए कजा जाए, तो क्या इसमें कोई संदेह हो सकता है कि उसका निर्वाचन क्या होगा। दूसरा निर्वाचन हो भी कैसे सकता है? भूख का भय, मकान खो देने का भय, बचत, यदि कोई है, से हाथ धो बैठने का भय, बच्चों को स्कूल से निकाले जाने का भय, सार्वजनिक खैरात पर एक बोझ बने रहने का भय, सार्वजनिक खर्च पर दाह का दफन किए जाने का भय—ये सब तत्व इतने प्रबल हैं कि ये किसी आदमी को अपने मूल अधिकारों के लिए खड़ा होने की इजाजत नहीं देते। इस प्रकार बेरोजगार व्यक्ति को काम करने और जीवन-निर्वाह करने का विशेषाधिकार पाने की खातिर अपने मूल अधिकार छोड़ने के लिए विवश होना पड़ता है।

जिन्हें रोजगार मिला हुआ है, उनकी क्या स्थिति है? संविधानवेत्ता वकीलों का मानना है कि उनकी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए मूल अधिकारों का अधिनियम पर्याप्त है, इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए। उनका तर्क है कि जहां राज्य निजी कार्यकलापों-आर्थिक और सामाजिक-में हस्तक्षेप नहीं करता, वहां स्वाधीनता ही शेष रहती है। आवश्यकता है उस शेष को जितना संभव हो सके व्यापक बनाने की और राज्य के हस्तक्षेप को यथासंभव कम करने की। यह सच है कि जहां राज्य हस्तक्षेप से विमुख रहता है, वहां जो शेष रहता है, वह है स्वाधीनता। किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। एक और प्रश्न का उत्तर दिया जाना शेष है। यह स्वाधीनता किसे और किसके लिए? प्रकटतः यह स्वाधीनता जमींदारों को लगान बढ़ाने, पूंजीपतियों को कार्य के घंटे बढ़ाने और मजदूरी घटाने की स्वाधीनता है। यही होना अपरिहार्य है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ऐसी अर्थव्यवस्था में जिसमें असंख्य कर्मकार नियोजित किए जाएं और नियमित अंतराल पर विशाल पैमाने पर माल का उत्पादन किया जाए, किसी को नियम बनाने होंगे, ताकि कर्मकार काम करें और उद्योग चक्र चलता रहे। यदि राज्य ऐसा नहीं करता है तो प्राइवेट नियोजक करेगा। अन्यथा जीवन असंभव हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, जिसे राज्य के नियंत्रण से मुक्ति कहते

हैं, वही प्राइवेट नियोजक के एकाधिकार का दूसरा नाम है।

ऐसी स्थिति से कैसे बचा जाए? बेरोजगारों एवं रोजगार प्राप्त, दोनों को जीवन, स्वाधीनता, और खुशी हासिल करने के उनके मूल अधिकारों से छले जाने से कैसे बचाया जाए? लोकतांकित्रक देशों द्वारा उपयोगी उपचार है, राजनीतिक क्षेत्र में मनमाने प्रतिबंध लगाने की सरकार की शक्तियों को सीमित रखना तथा आर्थिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों को कमजोर लोगों पर मनमाने प्रतिबंध अधिरोपित करने से अवरुद्ध करने के लिए विधान–मंडल की साधारण शक्ति का सहारा लेना। यह सुस्थापित है कि अपर्याप्तता योजना को निरर्थक बना देती है। कमजोर लोगों द्वारा विधान-मंडल के प्राधिकार का सहारा ले पाने में सफल होना एक संदिग्ध प्रतिपादन है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि प्रौढ़ मताधिकार के अंतर्गत भी विधान-मंडलों पर एवं सरकारों पर अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली लोगों का नियंत्रण रहता है, मध्यक्षेप करने के लिए विधान-मंडल से अपील करना कमजोर वर्ग की स्वाधीनता हनन के विरुद्ध एक अत्यंत परमुखापेक्षी सुरक्षोपाय है। इस योजना में एक बिल्कुल भिन्न पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसमें यह चाहा गया है कि मनमाने अवरोध लगाने की सरकार की शक्ति को ही नहीं, बल्कि अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों की शक्ति को भी सीमित रखा जाए अथवा अधिक सुनिश्चित ढंग से यों कह सकते हैं कि अधिक शक्तिशाली द्वारा कम शक्तिशाली लोगों पर मनमाने अवरोध लगाए जाने की संभावना को लोगों के आर्थिक जीवन पर उनके नियंत्रण को हटाकर समाप्त कर दी जाए। इसमें जरा भी संदेह नहीं हो सकता कि कम शक्तिशाली के अधिकारों और स्वाधीनताओं पर अधिक शक्तिशाली के अतिक्रमण के विरुद्ध दो उपचारों में से इस प्रस्ताव में अंतर्विष्ट उपचार निस्संदेह अधिक कारगर है। यदि प्रस्ताव पर इन मताभिव्यक्तियों के प्रकाश में विचार किया जाए, तो यह प्रस्ताव अनिवार्यतः व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा करने का प्रस्ताव है। अतः कोई संविधानवेत्ता वकील इस आधार पर इसका विरोध नहीं कर सकता कि यह संवैधानिक विधि की सामान्य परिधि से परे है।

अब तक इस योजना पर व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा करने के साधन के रूप में चर्चा की गई है। इस योजना का एक दूसरा पहलू भी है, जो उल्लेखनीय है। यह संसदीय लोकतंत्र को निराकृत किए बिना और उसकी स्थापना को संसदीय लोकतंत्र की इच्छा पर छोड़े बिना राजकीय समाजवाद की स्थापना करने का एक प्रयास है। राजकीय समाजवाद के आलोचक, बल्कि उसके मित्र भी, यही पूछेंगे कि इसे देश के संविधि का अंग क्यों बनाया जाए? इसे विधानयन की साधारण प्रक्रिया द्वारा बनाए जाने का काम विधान-मंडल पर क्यों न छोड़ दिया जाए? इसे साधारण विधान के लिए क्यों नहीं छोड़ा जा सकता, इसका कारण समझना कठिन नहीं है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की सफलता की एक अनिवार्य शर्त है कि वह निलंबन या परित्यजन की शिकार नहीं होनी चाहिए। वह स्थायी होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि स्थायित्व कैसे आए? स्पष्ट है कि संसदीय लोकतंत्र नामक शासन-प्रणाली के अंतर्गत स्थायित्व नहीं हो सकता। संसदीय लोकतंत्रीय शासन- प्रणाली के अंतर्गत विधायिका एवं कार्यपालिका की नीति तत्समय बहुसंख्यक की नीति होती है।

संसदीय लोकतंत्र की शासन-प्रणाली के अंतर्गत एक निर्वाचन में बहुमत उद्योग एवं कृषि में राजकीय समाजवाद के पक्ष में हो सकता है, अगले निर्वाचन में बहुमत उसके खिलापफ हो सकता है। राजकीय समाजवाद विरोधी बहुसंख्यक अपनी विधि-निर्माण शक्ति का प्रयोग राजकीय समाजवाद के बहुसंख्यक समर्थकों के काम को अकृत करने के लिए करेगा और राजकीय समाजवाद का पक्षधर बहुसंख्यक अपनी विधि-निर्माण शक्ति का प्रयोग उन सबको हटाने में करेगा, जो कुछ उसके विपक्षियों ने किया है। जो लोग समाज के आर्थिक ढांचे को राजकीय समाजवाद के आदर्श पर खड़ा करना चाहते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि वे इतने मूलभूत प्रयोजन की सिद्धि को साधारण विधि की आश्रित नहीं बना सकते। साधारण बहुमत को कोई भी काम करने या उसे अकृत करने का अधिकार है—उनका राजनीतिक भाग्य कभी भी तर्कसंगत कारणों से तय नहीं होता। उक्त कारणों से राजनीतिक लोकतंत्र इस प्रयोजन के लिए अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

तो फिर इसका विकल्प क्या है? विकल्प है तानाशाही। इसमें कोई संदेह नहीं है कि तानाशाही वह स्थायित्व प्रदान कर सकती है, जो राजकीय समाजवाद के फलने-फूलने की एक अनिवार्य शर्त के रूप में जरूरी है। किन्तु तानाशाही शासन के खिलाफ एक बात है, जो अवश्य सामने आएगी। जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं, वे तानाशाही का कड़ा विरोध करते हैं और स्वतंत्र समाज के लिए संसदीय लोकतंत्र का उचित शासन-प्रणाली के रूप में आग्रह करते हैं, क्योंकि वे यह महसूस करते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता संसदीय लोकतंत्र के अंतर्गत ही संभव है, न कि तानाशाही के अंतर्गत। परिणामस्वरूप जो स्वतंत्रता चाहते हैं, वे शासन-प्रणाली के रूप में संसदीय लोकतंत्र को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। बहरहाल, वे राजकीय समाजवाद अपनाने के लिए चाहे जितन आतुर हों, किन्तु संसदीय लोकतंत्र के बदले में तानाशाही अपनाने के लिए तैयार नहीं होंगे—भले ही ऐसे विनियम की उपलब्धि राजकीय समाजवाद हो। अतः समस्या है तानाशाही रहित राजकीय समाजवाद अपनाने की, संसदीय लोकतंत्र सहित राजकीय समाजवाद पाने की। इसका हल संसदीय लोकतंत्र को रखना तथा संविधि द्वारा राजकीय समाजवाद विहित करना ही प्रतीत होता है, ताकि संसदीय बहुमत उसे निलंबित, संशोधित या निराकृत न कर पाए। इसी मार्ग से तीन उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं। वे हैं, समाजवाद की स्थापना, संसदीय लोकतंत्र जारी रखना और तानाशाही से बचना।

यह प्रस्ताव वर्तमान संविधानों से हटकर है, जिनका उद्देश्य आर्थिक ढांचे की अछूता छोड़कर समाज के राजनीतिक ढांचे की प्रणाली मात्र विहित करना है। परिणामस्वरूप राजनीतिक ढांचा उन ताकतों द्वारा पूरी तरह निराकृत कर दिया गया है, जो आर्थिक ढांचे से उभरता है, जो राजनीतिक ढांचे से भिन्न है। जो लोग संसदीय लोकतंत्र सहित और एकाधिकार रहित समाजवाद चाहते हैं, उन्हें इस प्रस्ताव का स्वागत करना चाहिए।

लोकतंत्र की आत्मा है, एक आदमी, एक मूल्य का सिद्धांत। दुर्भाग्यवश लोकतंत्र ने जहां तक राजनीतिक ढांचे का संबंध है, एक आदमी, एक मत का सिद्धांत अपनाकर इस सिद्धांत को प्रभावी रूप देने का प्रयास किया है। यह माना जाता है कि यह नियम एक आदमी, एक मूल्य के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। इसने आर्थिक ढांचे

को वह आकृति ग्रहण करने के लिए छोड़ दिया है, जो उसे लोगों ने दी है, उसे जैसे चाहें वैसे ढालने की स्थिति में हैं। ऐसा इसलिए हुआ है, क्योंकि संविधानवेत्ता वकीलों पर यह पौराणिक संकल्पना हावी रही है कि लोकतंत्र में एक पूर्ण संविधान के लिए जो कुछ जरूरी है वह ऐसी संविधि बनाना है, जो सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाए और जनता पर सरकार के अत्याचारों को रोके। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक कहे जाने वाले प्रायः सभी देशों के संविधान वयस्क मताधिकार और मूल अधिकारों पर आकर रुक जाते हैं। उन्होंने कभी भी इस दिशा में नहीं सोचा कि लोकतंत्र की संविधि वयस्क मताधिकार और मूल अधिकारों से भी आगे जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्राचीनकाल के संविधानवेत्ता वकीलों का मानना था कि संविधि की परिधि और कार्यक्षेत्र समाज के राजनीतिक ढांचे की आकृति और रूप को विहित करना है। उन्होंने यह कभी नहीं समझा कि यदि लोकतंत्र को एक आदमी, एक मूल्य के सिद्धांत की कसौटी पर खरा उतरना है, तो समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और रूप को विहित करना भी उतना ही आवश्यक है। समय आ गया है कि हम साहसी कदम उठाएं और संविधि द्वारा समाज के आर्थिक ढांचे और राजनीतिक ढांचे, दोनों को परिभाषित करें। भारत जैसे उन देशों को जो संविधान-निर्माण के क्षेत्र में बाद में आए हैं, अन्य देशों की कमियों की नकल नहीं करनी चाहिए। उन्हें अपने पूर्ववर्तियों के अनुभव का फायदा उठाना चाहिए।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 3

खंड 1

1919 और 1935 के भारत सरकार अधिनियमों में प्रांतों और केन्द्र में कार्यपालिका के ढांचे की रचना के लिए जो मॉडल अपनाया गया था, वह ब्रिटिश शैली का था अथवा जिसे संविधानवेत्ता वकील संसदीय कार्यपालिका कहते हैं, जो अमरीकी कार्यपालिका की प्रणाली के विपरीत है, जिसे ब्रिटिश प्रणाली के प्रतिकूल गैर-संसदीय कार्यपालिका कहा जाता है। प्रश्न यह है कि दो अधिनियमों में कार्यपालिका का जो स्वरूप अपनाया गया है, उसे बरकरार रखा जाए या छोड़ दिया जाए और यदि छोड़ना है, तो इसके स्थान पर क्या माडल अपनाया जाए। इस मुद्दे पर अंतिम राय देने से पूर्व यह वांछनीय होगा कि कार्यपालिका के ब्रिटिश मॉडल की विशेषताओं का पता लगाया जाए तथा इस पर विचार किया जाए कि भारत में उसे अपनाने में क्या परिणाम होंगे।

ब्रिटिश अथवा संसदीय कार्यपालिका की निम्नलिखित विशेषताएं कही जा सकती हैं:

(i) इसमें विधान-मंडल में बहुमत प्राप्त करने वाली प्राटी को सरकार बनाने का अधिकार मिलता है।

(ii) इसमें बहुमत वाली पार्टी को यह अधिकार मिलता है कि वह उन व्यक्तियों को सरकार से बाहर रखे, जो पार्टी के नहीं हैं।

(iii) इस तरह बनी सरकार तब तक बनी रहती है, जब तक विधान–मंडल में उसका बहुमत रहता है। बहुमत न रहने पर इसे या तो वर्तमान विधानमंडल

से बनी सरकार के पक्ष में या नवनिर्वाचित विधान–मंडल से बनी सरकार के पक्ष में त्यागपत्र दे देना पड़ता है।

जहां तक भारत में ब्रिटिश प्रणाली लागू होने के परिणामों का संबंध है, स्थिति संक्षेप में इस प्रकार हो सकती है :

(i) बहुमत वाली पार्टी के मंत्रिमंडल की सरकार वाली ब्रिटिश प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि बहुमत राजनीतिक बहुमत है। भारत में बहुमत सांप्रदायिक बहुमत होता है। सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम जो भी हों, बहुमत हमेशा सांप्रदायिक बहुमत ही रहेगा। इस स्थिति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस स्थिति के रहते हुए यह स्पष्ट है कि यदि यहां ब्रिटिश प्रणाली को लागू किया जाएगा, तो इसका परिणाम सांप्रदायिक बहुमत को स्थायी रूप से कार्यपालिका की शक्ति सौंपना होगा।

(ii) ब्रिटिश प्रणाली बहुमत वाली पार्टी को अल्पसंख्यक पार्टी के प्रतिनिधियों को मंत्रिमंडल में शामिल करने के लिए बाध्य नहीं करती। यदि यह प्रणाली भारत में अपनाई गई, तो इसके परिणाम स्पष्ट हैं। इससे बहुमत वाला समुदाय शासक वर्ग और अल्पमत वाला समुदाय अधीनस्थ समुदाय बन जाएगा। इसका मतलब होगा कि बहुमत वाला समुदाय अल्पसंख्यकों की भलाई के संबंध में अपने विचारों के अनुसार प्रशासन चलाने को स्वतंत्र होगा। ऐसी स्थिति को लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। इसे साम्राज्यवाद कहना पड़ेगा।

इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटिश प्रणाली की सरकार आमतौर पर अल्पसंख्यकों और विशेषरूप से अस्पृश्यों के जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख की तलाश खतरे से भरी होगी।

अस्पृश्यों को जिस समस्या का सामना करना पड़ता है, वह बहुत ही भंकर है। अस्पृश्य उस विशाल हिन्दू आबादी से घिरे हैं, जो उनके प्रति शत्रुतापूर्ण का भाव रखते हैं और उनके खिलाफ अन्याय या अत्याचार करने में लज्जित नहीं होते। नित्यप्रति होने वाले इन अत्याचारों के निराकरण के लिए अस्पृश्यों को प्रशासन की मदद लेनी पड़ती है। अब प्रशासन का स्वरूप और संरचना कैसी है? संक्षेप में, भारत में प्रशासन पूर्णतः हिन्दुओं के हाथ में है। इस पर उनका एकाधिकार है। ऊपर से नीचे तक उस हिन्दुओं का नियंत्रण है। एक भी विभाग ऐसा नहीं है, जिस पर उनका नियंत्रण न हो। पुलिस, दंड विभाग और राजस्व सेवाएं, और प्रस्ताव में प्रशासन की हर शाखा में उन्हीं का वर्चस्व है। दूसरी बात ध्यान में रखने वाली यह है कि प्रशासन में काम करने वाली हिन्दुओं का अस्पृश्यों के प्रति वही असामाजिक और शत्रुतापूर्ण रवैया है, जो प्रशासन से बाहर के हिन्दुओं का है। उनका एकमात्र लक्ष्य होता है अस्पृश्यों से भेदभाव करना और उन्हें न सिर्फ कानून के लाभों से, बल्कि अत्याचार और दमन के विरुद्ध कानून के संरक्षण से भी वंचित करना। इसके परिणामस्वरूप अस्पृश्य हिन्दू आबादी और हिन्दू वर्चस्व वाले प्रशासन के बीच पिसते हैं। एक उनके खिलाफ अत्याचार करता है और दूसरा अत्याचार

के शिकार की मदद करने की बजाए अत्याचार करने वाले को संरक्षण देता है।

इस पृष्ठभूमि में स्वराज्य का अस्पृश्यों के लिए क्या अर्थ हो सकता है? इसका एक ही अर्थ हो सकता है, अर्थात् इस समय तो केवल प्रशासन ही हिन्दुओं के हाथ में है, स्वराज के अंतर्गत विधान-मंडल और कार्यपालिका भी हिन्दुओं के हाथ में होंगे। यह कहने की जरूरत नहीं है कि इस तरह के स्वराज में अस्पृश्यों की तकलीफें बढ़ जाएंगी, क्योंकि विद्वेषपूर्ण प्रशासन के साथ उदासीन विधान-मंडल और लापरवाह सरकार भी होगी। परिणाम यह होगा कि कठोरता और विद्वेष में संयमहीन प्रशासन, विधान-मंडल और सरकार से अनियंत्रित रहकर अस्पृश्यों के प्रति अन्याय की नीति बिना किसी रोक-टोक के चलाएगा। दूसरे शब्दों में, स्वराज के अंतर्गत अस्पृश्य उस पतन की नियति से नहीं बच सकते, जो हिन्दुओं और हिन्दू धर्म ने उनके लिए निश्चित की है।

भारत में ब्रिटिश प्रणाली की सरकार बनाने के विरुद्ध ये विशेष तर्क हैं, जिनका उद्गम अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जातियों के हितों में है। किन्तु भारत में ब्रिटिश प्रणाली की सरकार बनाने के खिलाफ एक सामान्य तर्क भी है। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश प्रणाली की सरकार ने ब्रिटिश जनता को बहुत टिकाऊ प्रशासन दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भारत में भी यह स्थिर और टिकाऊ सरकार देगी। इसकी संभावना बहुत कम है। जातियों और धर्मों के बीच टकराव को देखते हुए यहां भारत के विधान-मंडल में अनेक पार्टियों और दलों का होना अनिवार्य है। यदि ऐसा हुआ तो संभव है, बल्कि निश्चित है कि इंग्लैंड जैसी संसदीय सरकार की प्रणाली के अंतर्गत, जहां विधान-मंडल में प्रतिकूल वोट होने पर सरकार त्यागपत्र दे देती है, भारत में सरकार की अस्थिरता की समस्या उत्पन्न होगी, क्योंकि दलों के लिए तुच्छ उद्देश्यों को लेकर बार-बार गठबंधन बनाने से सरकार को गिराना बहुत आसान होगा। तथाकथित बड़ी पार्टियों की एकता बनी रहने की संभावना नहीं रहेगी। वस्तुतः भारत में ब्रिटिश शासन का अंत होने पर इन पार्टियों को एक साथ रखने वाला तत्व खत्म हो जाएगा। लगातार सरकारों का गिराया जाना अराजकता से कम नहीं है। वर्तमान संविधान में धारा 93 इससे बचाव करती है, किन्तु स्वाधीन भारत के संविधान में धारा 93 अप्रासंगिक होगी। अतः धारा 93 का कुछ विकल्प खोजा जाना चाहिए।

इन सब बातों को देखते हुए इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश प्रणाली की सरकार भारत के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है।

उक्त धारा में प्रस्तावित कार्यपालिका निम्नलिखित प्रयोजन सिद्ध करेगी :

(i) अल्पसंख्यकों को भूमिका अदा करने का मौका नहीं मिलने पर बहुमत वाली पार्टी को सरकार बनाने से रोकना।

(ii) बहुमत वाली पार्टी को प्रशासन पर एकांतित नियंत्रण से रोकना, ताकि बहुमत का अल्पमत पर निरंकुश शासन संभव न हो।

(iii) बहुमत वाली पार्टी को सरकार में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों के रूप में अपने आदमी, जिनको अल्पसंख्यकों का विश्वास प्राप्त न हो, शामिल करने से रोकना।

(iv) अच्छे और कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक स्थिर सरकार देना।

यह खंड अमरीकी प्रणाली की सरकार को आदर्श मानकर उसे भारत की स्थितियों के अनुरूप, विशेषकर अल्पसंख्यकों की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया गया है। प्रस्तावित सरकार के स्वरूप पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि यह उत्तरदायी सरकार के सिद्धांत के खिलाफ है। ब्रिटिश शासन-प्रणाली के अभ्यस्त भारतीय भूल जाते हैं कि यही एकमात्र लोकतांत्रिक और उत्तरदायी सरकार प्रणाली नहीं है। अमरीकी शासन-प्रणाली भी समान रूप से एक लोकतांत्रिक और उत्तरदायी सरकार प्रणाली है। इस प्रस्ताव में आपत्तिजनक कुछ भी नहीं है कि विधान–मंडल का निर्वाचन जीत लेने मात्र से किसी व्यक्ति को मंत्री बनने के योग्य नहीं मान लिया जाना चाहिए। यह सिद्धांत कि विधान–मंडल का सदय मंत्री बनने से पूर्व जनता से निर्वाचित हो, ब्रिटिश संविधान में एक सौ साल से अधिक समय तक पूर्णतया मान्य रहा। यदि किसी सांसद को मंत्री बनाया जाता था, तो उसे मंत्री पद ग्रहण करने से पहले निर्वाचन लड़ना पड़ता था। बाद में इस सिद्धांत को छोड़ दिया गया। अतः इस प्रस्ताव पर इस आधार पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यह प्रस्ताव उत्तरदायी सरकार के सिद्धांत के अनुरूप नहीं है। वास्तविक प्रस्ताव अमरीकी स्वरूप की सरकार का संशोधित रूप है, क्योंकि इसके अंतर्गत कार्यपालिका के सदस्य संसद में बैठ सकते हैं, बोल सकते हैं और प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं।

खंड 2

प्रस्ताव विवादास्पद नहीं हो सकता। अल्पसंख्यकों के प्रति बहुमत के अत्याचार और निरंकुशता का सबसे अच्छा उपचार है पूछताछ, प्रचार और बहस। सुरक्षोपाय में यही व्यवस्था है। इसी तरह की प्रस्ताव सप्रू समिति ने भी रखा था।

खंड 3

सवर्ण हिन्दू सामाजिक बहिष्कार की तलवार हमेशा अस्पृश्यों के सिर पर लटकाए रखते हैं। केवल अस्पृश्य ही जानते हैं कि सवर्ण हिन्दुओं के हाथ में यह हथियार कितना भयानक है। दलित वर्गों की शिकायतों की जांच के लिए बंबई सरकार ने 1928 में जो समिति नियुक्त की थी, उसकी रिपोर्ट में सामाजिक बहिष्कार के स्वरूप तथा उसके प्रभाव का अच्छा वर्णन किया गया है। इसका अंश नीचे उद्धृत किया जा रहा है। यह स्थिति को इतने सरल ढंग से प्रस्तुत करता है कि हर आदमी समझ सकता है कि सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यों पर कैसा अत्याचार करते हैं :

> यद्यपि हमने दलित वर्गों के लिए सभी सार्वजनिक सुविधाओं का अधिकार सुरक्षित करने के लिए विभिन्न उपाय सुझाए हैं, हमें आशंका है कि लंबे समय तक इन अधिकारों के उपयोग में उन्हें कठिनाई पेश आती रहेगी। पहली कठिनाई उनके खिलाफ सवर्ण वर्गों की खुली हिंसा के भय की होगी। ध्यान में रखने वाली बात है कि दलित वर्ग प्रत्येक गांव में बहुत कम संख्या में होता है और उसके मुकाबले सवर्ण भारी संख्या में होते हैं, जो किसी भी कीमत पर अपने हितों तथा अपनी गरिमा को दलित वर्गों

के तथाकथित हमले से रक्षा करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। पुलिस कार्रवाई के भय सने सवर्ण वर्गों के हिंसा के प्रयोग पर अंकुश लगाया है और परिणामस्वरूप इस तरह के मामले कभी-कभी ही होते हैं।

दूसरी कठिनाई दलित वर्गों की वर्तमान आर्थिक स्थिति में पैदा होती है। बंबई प्रांत के अधिकांश भागों में दलित वर्गों को आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं है। कुछ दलित सवर्ण वर्गों की इच्छा से उनकी भूमि की काश्तकारी करते हैं, कुछ दलित लोग सवर्ण वर्गों के खेत-मजदूरों के रूप में अर्जित आय पर गुजारा करते हैं और शेष गांव की चाकरी के बदले सवर्णों से प्राप्त अनाज पर जीते हैं। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण आए हैं, जब दलितों ने अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहा तो सवर्ण वर्ग ने उनके खिलाफ अपनी आर्थिक शक्ति को हथियार के रूप में इस्तेमाल करके या तो उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया या उन्हें काम देना बंद कर दिया या गांव की चाकरी के बदले मिलने वाला पारिश्रमिक देना बंद कर दिया। यह बहिष्कार अक्सर इतने व्यापक पैमाने पर किया जाता है कि दलित वर्गों को आम रास्तों का उपयोग करने से रोका जाता है और गांव का बनिया उन्हें आवश्यक वस्तुएं बेचने से मना कर देता है। उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार कभी-कभी मामूली कारण भी दलित वर्गों के खिलाफ सामाजिक बहिष्कारों की घोषणा करने के लिए काफी होते हैं। अक्सर दलित वर्गों द्वारा सार्वजनिक कुएं के उपयोग के अपने अधिकार के इस्तेमाल का प्रयास करने पर उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया, किन्तु ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं, जब कि दलित वर्ग के किसी व्यक्ति द्वारा जनेऊ पहनने, जमीन का टुकड़ा खरीदने, अच्छे गहने-कपड़े पहनने अथवा दूल्हे को घोड़ी पर बिठाकर आम सड़क से बरात ले जाने के लिए उसका कठोरतापूर्वक बहिष्कार किया गया।

यह बात 1928 में कही गई थी। यह न समझें कि वह दौर अब खत्म हो गया है। अतः मैं पंजाब के खेरी जेसोर गांव के अस्पृश्यों की याचिक यहां दे रहा हूं, जो फरवरी 1947 में रोहतक जिले के डिप्टी कमिश्नर को संबोधित है, जिसकी एक प्रति मुझे मिली है। याचिका इस प्रकार हैं :

प्रेषक

अनुसूचित जातियों के लोग (चमार)

गांव खेरी जेसोर, तहसील व जिला, रोहतक

सेवा में,

डिप्टी कमिश्नर

रोहतक जिला, रोहतक

महोदय,

हम खेरी जेसोर गांव के अनुसूचित जाति (चमार) के अधोलिखित लोग आपका ध्यान गांव के सवर्ण हिन्दू जाटों के निर्दयी व्यवहार के कारण उत्पन्न अपनी मुश्किलों की तरफ आकृष्ट करना चाहते हैं।

लगभग चार महीने पहले गांव के जाट चौपाल में जमा हुए और उन्होंने हमसे कहा कि हमें उनके खेतों में काम करने की मजदूरी में एक गट्ठर फसल, जिसमें लगभग एक सेर दाने होते हैं, प्रतिदिन प्रति व्यक्ति मिलेगा, बजाए दो वक्त का खाना, फसल का एक भार और आठ आने के जो हमें इससे पहले मिला करता था। चूंकि यह मजदूरी बहुत कम थी जिससे हमारा गुजारा नहीं हो सकता था, हमने काम पर जाने से मना किया। इस पर उन्होंने क्रुद्ध होकर हमारे खिलाफ सामाजिक बहिष्कार की घोषणा कर दी। उन्होंने नियम बनाया था कि हम बिना टैक्स दिए (जो सरकार के नियमों के अंतर्गत नहीं लग सकता है और जिसे वे 'पूछी' कहते हैं) अपने ढोर-डंगर जंगल में नहीं चरा सकते। वे हमारे ढोर-डंगरों के गांव के तालाब में पानी पीने भी नहीं देते और उन्होंने सफाई कर्मचारियों से भी कह दिया है कि जहां हम रहते हैं, उन सड़कों की वे सफाई न करें, जिसके कारण कूड़ा-करकट साफ न होने की सूरत में बीमारी फैलने का डर है। हम शर्म की जिंदगी जीने के लिए बाध्य हैं और वे हमें पीटते हैं तथा हमारी बहू-बेटियों से अभद्र व्यवहार करके हमारी इज्जत-आबरू को तार-तार करते हैं। हमें बहुत भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। हमारे स्कूल जाते बच्चों की बुरी तरह और बेरहमी से पीटा भी गया है।

हमने इस तथ्यों का ब्यौरा देते हुए आपको आवेदनपत्र भेजा था, किन्तु हमें खेद है कि आपने अभी तक इस पर कार्रवाई नहीं की। हम आपके विचारार्थ यह निवेदन करते हैं कि पुलिस इंस्पेक्टर और रोहतक के तहसीलदार ने जिनसे हम इस संबंध में मिले थे, लापरवाही से पूछताछ की और हमारे विचार से उन्होंने गरीब और मासूम लोगों की कठिनाइयों को दूर करने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया।

अतः हम आपसे निवेदन करते हैं कि आप इस मामले पर विचार करके इस दुर्व्यवहार को तथा जाटों द्वारा विभिन्न प्रकार से दी जाने वाली धमकियों को बंद कराएं। आपका द्वार खटखटाने के सिवाय हमारे लिए कोई रास्ता नहीं है और हम उम्मीद करते हैं कि आप तत्काल कार्रवाई करके ऐसी व्यवस्था करेंगे जिसमें हम इज्जत और शांति से अपना जीवन बिता सकें, जो मनुष्य जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है।

आपके आज्ञाकारी सेवक

अनुसूचित जाति (चमार) के लोग गांव : खेरीजेसोर

तहसील और जिला : रोहतक

(अंगूठों के निशान)

प्रतिलिपि : माननीय डॉ. भीमराव अम्बेडकर, वेस्टर्न कोर्ट, नई दिल्ली।

1 फरवरी, 1947 को प्राप्त।

यहा दिखाता है कि जो स्थिति 1928 में थी, वह आज भी है। बंबई के संदर्भ में जो सच है, वह सारे भारत के संदर्भ में सच है। अस्पृश्यों द्वारा बहिष्कार के आम प्रयोग के साक्ष्य के लिए हमें सारे भारत में घटी उन घटनाओं को देखना होगा, जो पिछले प्रांतीय विधान सभाओं के निर्वाचनों में हुई थीं। अस्पृश्य हिन्दुओं की गुलामी से तभी मुक्त हो सकते हैं, जब बहिष्कार को अपराध करार दिया जाएगा।

बहिष्कार के हथियार का उपयोग आजकल अनुसूचित जातियों के अलावा, दूसरे समुदायों के खिलाफ भी किया जाता है। अतः इससे संरक्षण देना सभी छोटे समुदायों के हित में होगा। बहिष्कार से संबंधित प्रावधान बर्मा एंटी बायकाट एक्ट, 1922 से लिए गए हैं।

खंड 4

इस तरह का प्रावधान भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 150 में पहले ही मौजूद है।

अनुच्छेद 2 - अनुभाग 4

भाग 1 - खंड 1

इस खंड में कुछ नया नहीं है। विधान-मंडल में प्रतिनिधित्व का अधिकार पूना समझौते में मान लिया गया है। जिन बातों पर पुनर्विचार होना है, वे हैं : (1) प्रतिनिधित्व की मात्रा, (2) अधि-प्रतिनिधित्व, और (3) निर्वाचक-मंडल की प्रणाली।

प्रतिनिधित्व की मात्रा

पूना समझौते में अनुसूचित जातियों को दिए गए प्रतिनिधित्व की मात्रा समझौते के खंड 1 में दी गई है। इस समझौते का अनुपात (1) अन्य समुदायों का हिस्सा निकालने के बाद, (2) अन्य समुदायों को अधि-प्रतिनिधित्व नियत हो जाने के बाद, और (3) विशेष हितों को सीटों का आबंटन हो जाने के बाद। अनुसूचित जातियों को किए गए सीटों के इस आबंटन में बड़ा अन्याय हुआ है। अधि-प्रतिनिधित्व के रूप में निकाली गई सीटों और विशेष हितों को दी गई सीटों से जो हानि हुई, उसे अनुसूचित जातियों पर नहीं थोपा जाना चाहिए। इन सीटों का आबंटन कम्युनल अवार्ड द्वारा पूना समझौते से पहले ही किया जा चुका था। अतः उस समय अन्याय का निवारण संभव नहीं था।

अधि-प्रतिनिधित्व

अनुसूचित जातियां एक और अन्याय का शिकार हैं। इसका संबंध अधि-प्रतिनिधित्व में उनके हिस्से का अधिकार है।

यह स्पष्ट है कि अधि-प्रतिनिधित्व का अधिकार दोहरे विवाद का विषय बन गया है। एक विवाद बहुसंख्यक समुदाय और अल्पसंख्यक समुदायों के बीच है और दूसरा विवाद विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के बीच है।

पहले विवाद का संबंध अधि-प्रतिनिधित्व के सिद्धांत से है। बहुसंख्यक समुदाय इस बात पर जोर देता है कि अल्पसंख्यक समुदाय को कुल जनसंख्या में अपने अनुपात से ज्यादा प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं है। यह कहना मुश्किल है कि बहुसंख्यक समुदाय इस नियम पर जोर क्यों देता है। क्या बहुसंख्यक समुदाय जनसंख्या के अनुपात का अपना दावा इसलिए स्थापित करना चाहता है, ताकि वह हमेशा बहुमत में रहे और बहुमत के रूप में काम करे, या वह इसलिए इस नियम पर जोर देता है कि अल्पसंख्यक समुदाय को जितना भी अधि-प्रतिनिधित्व दिया जाए, वह अल्पमत में ही रहे और इस तथ्य को न बदल सके कि बहुसंख्यक समुदाय हमेशा अपनी इच्छा अल्पसंख्यक समुदायों पर लाद सकता है। पहला आधार बहुमत शासन की मूल संकल्पना का पूर्ण नकार है, क्योंकि इस संकल्पना का सही अर्थ इतना ही है कि बहुमत का फैसला ऐसा हो, जिसके लिए अल्पमत ने अपने को मानसिक रूप से राजी कर लिया हो। बहुसंख्यक समाज का यह आशय नहीं हो सकता। इसकी कुछ और उदार व्याख्या की जानी चाहिए और यह मानकर चलना चाहिए कि बहुसंख्यक समुदाय का अभिप्राय पहले तर्क पर नहीं, दूसरे तर्क पर आधारित है। इस बात को देखते हुए कि बहुसंख्यक समुदाय बहुमत में बने रहने और राजनीतिक बहुमत के विशेषाधिकार पाने के लिए जोर दे रहा है, जबकि वह राजनीतिक बहुमत नहीं है, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि अल्पसंख्यक समुदाय अधि-प्रतिनिधित्व के बावजूद अल्पमत में ही रहेगा। लेकिन पूरी धुलाई वाली हार और उस हार में जो जीत तो नहीं किन्तु जीत जैसी होती है, बड़ा फर्क होता है। क्रिकेट के खिलाड़ी जानते हैं कि कुछ रनों या कुछ विकटों की हार और पारी की हार के बीच क्या अंतर है। पूरी पारी की हार पूरी तरह हताश करने वाली होती है, जब कि कुछ रनों की हार ऐसी नहीं होती। इस प्रकार की हार जब अल्पसंख्यक समुदाय के राजनीतिक जीवन में आती है तो उससे वह समुदाय पूरी तरह हतोत्साहित हो जाता है, उसका मन पूरी तरह टूट जाता है। किसी भी कीमत पर ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर इसमें संदेह नहीं कि जनसंख्या अनुपात के प्रतिनिधित्व का नियम, जिस पर बहुसंख्यक समुदाय अब जोर दे रहा है, गलत है। अल्पसंख्यक समुदाय की जरूरत अधिक प्रतिनिधित्व नहीं, प्रभावकारी प्रतिनिधित्व है।

प्रभावकारी प्रतिनिधित्व क्या है? प्रतिनिधित्व की प्रभावकारिता इस पर निर्भर करती है कि प्रतिनिधित्व इतना हो कि अल्पसंख्यक समुदाय को ऐसा न लगे कि बहुमत उस पर पूरी तरह छा गया है। जनसंख्या के अनुपात में किसी अल्पसंख्यक समुदाय का प्रतिनिधित्व या सभी अल्पसंख्यक समुदायों का कुछ प्रतिनिधित्व उस सूरत में तो प्रभावकारी हो सकता है, जब अल्पसंख्यक समुदाय की आबादी (अगर एक ही ऐसा समुदाय हो तो) इतनी हो कि उनका प्रतिनिधित्व काफी बड़ा हो जाए। लेकिन ऐसी स्थितियां भी हो सकती हैं, जब अल्पसंख्यक समुदाय की आबादी या सब अल्पसंख्यक समुदायों की कुल आबादी इतनी थोड़ी हो कि आबादी के अनुपात के कड़े मानदंडों से प्रतिनिधित्व तय होने पर उन्हें प्रभावकारी प्रतिनिधित्व न मिले। इस तरह के कड़े मानदंडों पर जोर

देना अल्पसंख्यकों के संरक्षण के उस सिद्धांत का मजाक उड़ाना होगा, जो प्रतिनिधित्व के अधिकार का लक्ष्य है और जिसे अल्पसंख्यकों के जायज अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में अधि-प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है जिसका मतलब है, बहुसंख्यक समुदाय को जनसंख्या अनुपात से मिलने प्रतिनिधित्व की मात्रा से सीटें कम करना। यदि बहुसंख्यक समुदाय न्यायप्रिय तथा ईमानदार बनना चाहता है तो उसे यह स्वीकार करना चाहिए। अतः अधि-प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर कोई विवाद नहीं हो सकता। इस आधार पर विवाद इस सवाल तक सीमित रह जाता है कि अधि-प्रतिनिधित्व की मात्रा किस प्रकार निश्चित हो? यह प्रयोजन का सवाल है, सिद्धांत का नहीं।

अतः अधि-प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। अधि-प्रतिनिधित्व की मांग अल्पसंख्यक समुदायों की सामान्य मांग है और वहां सभी अनुसूचित जातियों को इसमें एक हो जाना चाहिए, जहां बहुसंख्यक समुदाय बहुत बड़ा हो। वर्तमान अधि-प्रतिनिधित्व का दोष यह है कि अनेक अल्पसंख्यक समुदायों को असमान प्रतिनिधित्व मिला हुआ है। इस समय कुछ अल्पसंख्यक समुदायों को अधि-प्रतिनिधित्व का बड़ा अंश मिला हुआ है, जब कि अस्पृश्यों को अधि-प्रतिनिधित्व बिल्कुल नहीं मिला है। तर्कसंगत सिद्धांतों पर अधि-प्रतिनिधित्व का वितरण करके इस गलती को ठीक किया जाना चाहिए।

निर्वाचक-मंडल

1. अनुसूचित जातियों को आबंटित सीटों के निर्वाचन की विधि पूना समझौते के खंड 2 से खंड 4 में दी गई है। इसमें दोहरे निर्वाचन की व्यवस्था है : (1) प्राथमिक निर्वाचन, और (2) अंतिम निर्वाचन। प्राथमिक निर्वाचन अनुसूसचित जातियों के पृथक निर्वाचक-मंडल द्वारा होगा। यह अर्हताकारी निर्वाचन है और यह निश्चित करता है कि अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों के लिए अंतिम निर्वाचन कौन लड़ सकता है। अंतिम निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक-मंडल से होगा, जिसमें सवर्ण हिन्दू और अनुसूचित जातियां, दोनों का वोट होगा और उससे अंतिम निर्णय तय होगा।

2. पूना समझौते के खंड 5 से प्राथमिक निर्वाचन-प्रणाली दस वर्ष तक सीमित है, जिसका मतलब है कि 1947 के बाद होने वाले निर्वाचन स्पष्टता से संयुक्त निर्वाचक-मंडल और आरक्षित सीटों के आधार पर होंगे।

3. यदि हिन्दू दोहरी निर्वाचन-प्रणाली को अधिक अवधि के लिए बढ़ा दें, तो भी अनुसूचित जातियों को संतोष नहीं होगा। प्राथमिक निर्वाचन के बने रहने पर दो आपत्तियां हैं। प्रथम, इससे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को चुनने में अनुसूचित जातियों को मदद नही मिलती। जैसा कि परिशिष्ट 3 में देखा जा सकता है, जो उम्मीदवार प्राथमिक निर्वाचन में सर्वप्रथम आता है, वह अंतिम निर्वाचन में नहीं जीत पाता और जो अनुसूचित जाति का उम्मीदवार प्राथमिक निर्वाचन में असफल होता है, वह अंतिम निर्वाचन में प्रथम आता है। दूसरे, प्राथमिक निर्वाचन अधिकतर काल्पनिक होता है, यथार्थ नहीं होता। पिछले निर्वाचन में

अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित 151 सीटों में से केवल 43 के लिए प्राथमिक निर्वाचन हुए। यह इसलिए कि अनुसूचित जातियों के लिए प्राथमिक और अंतिम, दो निर्वाचनों का खर्च उठाना असंभव होता है। ऐसी प्रणाली को बनाए रखने का कोई लाभ नहीं है।

4. संयुक्त निर्वाचक-मंडल और आरक्षित सीटों की प्रणाली से, जो पूना समझौते के अंतर्गत अब लागू होगी, स्थिति और भी खराब होगी। यह महज अटकल नहीं है। पिछले निर्वाचन में यह पूर्णतः सिद्ध हो गया है कि संयुक्त निर्वाचक-मंडल के अंतर्गत अनुसूचित जातियों को पूरी तरह मताधिकार से वंचित किया जा सकता है। जैसा कि परिशिष्ट 3 में दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियों के उम्मीदवार न केवल हिन्दू वोट से चुने गए, जबकि उद्देश्य यह था कि वे अनुसूचित जातियों द्वारा चुने जाएं, बल्कि इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दुओं ने अनुसूचित जातियों के उन उम्मीदवारों को चुना जो प्राथमिक निर्वाचन में असफल हुए थे। यह अनुसूचित जातियों को पूर्णतः मताधिकार से वंचित करना है। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश निर्वाचन-क्षेत्रों में सवर्ण हिन्दुओं की मतदाता संख्या और अनुसूचित जातियों की मतदाता संख्या में बहुत बड़ा अंतर है। यह परिशिष्ट 3 में दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट है। जैसा कि साइमन कमीशन ने कहा है कि यदि किसी साधारण निर्वाचन-क्षेत्र में संरक्षित समुदाय बहुत अल्पमत में होगा तो आरक्षित सीटों की प्रणाली ठीक से काम नहीं करेगी। अनुसूचित जातियों के मामले में ठीक यही हो रहा है। इस असंगति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह वयस्क मताधिकार प्रणाली के अंतर्गत भी रहेगी। ऐसी स्थिति में एक सर्वथा निर्देष प्रणाली की खोज की जानी चाहिए, जो अनुसूचित जातियों को वास्तविक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करे। इस तरह की प्रणाली में निम्नलिखित को समाप्त करना पड़ेगा :

(i) प्राथमिक निर्वाचन जो अनावश्यक और भारी बाधा है, और (ii) पृथक निर्वाचक-मंडल की प्रतिस्थापना।

5. राजनीति में हिन्दुओं और अनुसूचित जातियों के संबंधों को कटु बनाने वाला एक मुद्दा निर्वाचक-मंडल का है। अनुसूचित जातियां पृथक निर्वाचक-मंडल के लिए जोर देती रही हैं। सवर्ण हिन्दू इस मांग का उतने ही जोर से विरोध करते हैं। इस मुद्दे पर किसी समाधान पर पहुंचने के लिए (जिसके बिना सवर्ण हिन्दुओं और अनुसूचित जातियों में कभी शांति और सौहार्द स्थापित नहीं होगा) यह निश्चित करना जरूरी है कि कौन सही है और कौन गलत तथा इस मांग का विरोध किसी तर्क पर आधारित है या महज पूर्वाग्रह पर आधारित है।

6. अनुसूचित जातियों की पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग के खिलाफ आम तौर पर ये तर्क दिए जाते हैं :

(i) अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक वर्ग नहीं हैं,

(ii) अनुसूचित जातियां हिन्दू हैं, अतः उन्हें पृथक निर्वाचक-मंडल नहीं मिल सकता,

(iii) पृथक निर्वाचक-मंडल होने से अस्पृश्यता हमेशाबनी रहेगी,

(iv) पृथक निर्वाचक-मंडल राष्ट्र विरोधी है, और

(v) पृथक निर्वाचक-मंडल ब्रिटिश साम्राज्यवाद को इस योग्य बनाता है कि वह पृथक निर्वाचक-मंडल वाले समुदायों को प्रभावित कर उन्हें देश के हित के विरुद्ध काम करने को प्रेरित करे।

7. क्या ये तर्क उचित हैं?

(i) यह कहना कि अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक वर्ग नहीं हैं, अल्पसंख्यक वर्ग शब्द का गलत अर्थ लगाना है। धर्म की पृथकता अल्पसंख्यक वर्ग होने की एकमात्र कसौटी नहीं है। न ही यह अच्छी और सक्षम कसौटी है। कोई सामाजिक समूह अल्पसंख्यक वर्ग है या नहीं, इसकी सही कसौटी सामाजिक भेदभाव है। श्री गांधी ने भी धार्मिक पृथकता की तुलना में इसे अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक कसौटी माना है। इस कसौटी को अपनाते हुए उन्होंने 21 अक्तूबर, 1939 के हरिजन के संपादकीय में दि फिक्शन ऑफ मैजारिटी शीर्षक के अंतर्गत यह विचार रखा है कि भारत में अनुसूचित जातियां ही वास्तविक अल्पसंख्यक वर्ग हैं।

(ii) यह कहना कि अनुसूचित जातियां हिन्दू हैं और इसलिए वे पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग नहीं कर सकती, एक ही तर्क को अलग ढंग से प्रस्तुंत करना है। धर्म को संवैधानिक सुरक्षा के लिए निर्णायक मानना इस तथ्य की उपेक्षा करना है कि धार्मिक जुड़ाव के साथ-साथ तीव्र सामाजिक पार्थक्य और भेदभाव भी रहता है। यह मान्यता कि पृथक निर्वाचक-मंडल पृथक धर्म के साथ जुड़ा हुआ है, इस कारण बनी है कि जिन समुदायों को पृथक निर्वाचक-मंडल मिला हुआ है, वे धार्मिक समुदाय है। लेकिन यह सही नहीं है। मुसलमानों को इसलिए पृथक निर्वाचक-मंडल नहीं मिला है कि वे धर्म के मामले में हिन्दुओं से भिन्न हैं। उन्हें इसलिए पृथक निर्वाचक-मंडल मिला है कि (और यह मूल कारण है) मुसलमानों और हिन्दुओं के सामाजिक संबंधों में सामाजिक भेदभाव है। इसी बात को किंचित अलग ढंग से इस प्रकार भी रखा जा सकता है। निर्वाचक-मंडल का स्वरूप धर्म के संदर्भ में नहीं, सामाजिक भेदभाव के संदर्भ में निश्चित होता है। निर्वाचक-मंडल के स्वरूप के निर्धारण का आधार धार्मिक संबंध या पार्थक्य न होकर सामाजिक है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण वह व्यवस्था है, जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत भारत के ईसईा समुदाय के लिए की गई है। ईसाई समुदाय को तीन श्रेणियों में बांटा गया है—यूरोपियन, आंग्ल भारतीय और भारतीय ईसाई। इस बात के बावजूद कि तीनों धर्म से ईसाई हैं, प्रत्येक श्रेणी को पृथक निर्वाचक-मंडल दिया गया है। इससे

जाहिर होता है कि निर्णायक तत्व धार्मिक संबंध नहीं, सामाजिक पार्थक्य है।

(iii) यह कहना कि पृथक निर्वाचक-मंडल अस्पृश्यों और सवर्ण हिन्दुओं की एकता में बाधक है, भ्रमपूर्ण सोच का परिणाम है। निर्वाचन पांच साल में एक बार होते हैं। मान लें कि निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक-मंडल के अंतर्गत होते हैं। उस स्थिति में यह समझ पाना मुश्किल है कि सवर्ण हिन्दू तथा अस्पृश्यों में एक दिन एक साथ वोट देने से सामाजिक एकता कैसे हो जाएंगे, जब कि शेष पांच साल वे अलग-अलग जिंदगी जिएंगे। इसी तरह मान लीजिए कि निर्वाचन पृथक निर्वाचक-मंडल के अंतर्गत होते तो इस स्थिति में भी यह समझ पाना मुश्किल है कि पांच साल में एक दिन पृथक मतदान करने से दोनों के बीच उससे ज्यादा अलगाव कैसे हो जाएगा, जितना अलगाव पहले से विद्यमान है। इसे दूसरी तरह से देखें तो पांच साल में एक दिन अलग-अलग मतदान करने से एकता चाहने वालों के काम में किस तरह रुकावट आएगी? उदाहरण के लिए अस्पृश्यों को पृथक निर्वाचक-मंडल मिलने से उनके और सवर्ण हिन्दुओं के बीच परस्पर विवाह और सहभोज में कैसे बाधा पड़ेगी? अतः यह कहना बिल्कुल निरर्थक है कि पृथक निर्वाचक-मंडल से सवर्ण हिन्दुओं तथा अस्पृश्यों के बीच हमेशा अलगाव बना रहेगा।

(iv) यह कहना कि पृथक निर्वाचक-मंडल से राष्ट्र–विरोधी भावना पैदा होगी, अनुभव के विपरीत है। सिखों को पृथक निर्वाचक-मंडल मिला हुआ है, किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि सिख राष्ट्र-विरोधी हैं। मुसलमानों को 1909 से ही पृथक निर्वाचक-मंडल मिला हुआ है। श्री जिन्ना पृथक निर्वाचक-मंडल के अंतर्गत चुने गए हैं। तथापि, जिन्ना 1935 तक भारतीय राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक रहे हैं। भारतीय ईसाइयों को पृथक निर्वाचक-मंडल मिला हुआ है। तथापि, ईसाइयों ने बड़ी संख्या में कांग्रेस के प्रति अपना प्रेम दिखाया है, हालांकि वे कांग्रेस के टिकट पर निर्वाचन नहीं जाते। जाहिर है, राष्ट्रवाद या राष्ट्र-विरोधी भावना का निर्वाचक-मंडल की प्रणाली से कोई संबंध नहीं है। ये निर्वाचनेतर शक्तियों का परिणाम हैं।

(v) इस तर्क में कोई दम नहीं है। यह महज पलायनवाद है। जो भी हो, स्वतंत्र भारत में निर्वाचक-मंडल के संबंध में उस आधार पर की गई आपत्ति का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

8. पृथक निर्वाचक-मंडल के विरोधियों की युक्तियां तर्क और अनुभव की कसौटी पर इसलिए खरी नहीं उतरतीं कि ये युक्तियां मूलतः गलत हैं। ये दो दृष्टियों से गलत हैं :

(i) वे यह नहीं समझ पाते हैं कि निर्वाचक-मंडल की प्रणाली का धार्मिक या सांप्रदायिक संबंध से कुछ लेना-देना नहीं है। यह ऐसी व्यवस्था है, जिसका

काम अल्पसंख्यक वर्ग को विधान-मंडल में वास्तविक प्रतिनिधि भेजने में समर्थ बनाना है। चूंकि यह अल्पसंख्यक वर्ग को संरखण देने की व्यवस्था है, अतः पृथक अथवा संयुक्त निर्वाचक-मंडल का फैसला अल्पसंख्यक वर्ग पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए।

(ii) वे बहुसंख्यक समुदाय द्वारा पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग और अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा पृथक निर्वाचक–मंडल की मांग में भेद नहीं कर पाते हैं। बहुसंख्यक समुदाय को पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है। कारण सीधा है। बहुसंख्यक समुदाय द्वारा पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग का अर्थ है बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय पर बिना उसकी सहमति के अपना शासन स्थापित करने का अधिकार। यह लोकतंत्र के इस सुस्थापित सिद्धांत के विपरीत है कि शासन शासित की सहमति से चले। इससे विपरीत सिद्धांत से, अर्थात् अल्पसंख्यक समुदाय को अपने हित के अनुरूप निर्वाचक-मंडल निर्धारित करने का अधिकार है, कोई बुरा परिणाम नहीं निकलता, क्योंकि अल्पसंख्यक समुदाय बहुसंख्यक समुदाय पर शासन करने की स्थिति में कभी नहीं आएगा।

9. सारे सवाल के प्रति सही रवैया निम्नलिखित स्वयंसिद्ध तथ्यों पर आधारित होगाः

(i) चूंकि निर्वाचक-मंडल की प्रणाली का उद्देश्य अल्पसंख्यक समुदाय को संरक्षण प्रदान करना है, अतः निर्वाचक-मंडल संयुक्त हो अथवा पृथक, इसका फैसला अल्पसंख्यक समुदाय की इच्छा पर छोड़ दिया जाना चाहिए। यदि अल्पसंख्यक समुदाय इतना बड़ा है कि वह बहुमत को प्रभावित कर सकता है, तो वह संयुक्त निर्वाचक-मंडल को चुनेगा। यदि वह इतना छोटा है कि बहुमत को प्रभावित न कर सके, तो वह अपनी अस्मिता के खो जाने के डर के कारण पृथक निर्वाचक-मंडल को चुनेगा।

(ii) बहुसंख्यक समुदाय चूंकि शासन करने की स्थिति में होता है, अतः निर्वाचक-मंडल का स्वरूप निर्धारण करने में उसकी कोई आवाज नहीं होनी चाहिए। यदि अल्पसंख्यक समुदाय संयुक्त निर्वाचक-मंडल चाहता है, तो बहुसंख्यक समुदाय को संयुक्त निर्वाचक-मंडल मान लेना चाहिए। यदि अल्पसंख्यक समुदाय पृथक निर्वाचक-मंडल चाहता है, तो बहुसंख्यक समुदाय उसे देने से इंकार नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में बहुसंख्यक समुदाय को इस संबंध में अल्पसंख्यक समुदाय का निर्णय मान लेना चाहिए।

भाग 1 - खंड 2

यह मांग पूना समझौते से बाहर लग सकती है, क्योंकि उसमें इसके लिए कोई प्रावधान नहीं है। लेकिन यह सही नहीं होगा। वास्तव में, यदि उसमें कोई प्रावधान नहीं

हुआ, तो इसका कारण था कि इस तरह के प्रावधान की तब कोई जरूरत नहीं थी। ऐसा दो कारणों से था। पहला तो यह कि पूना समझौते के समय किसी भी समुदाय को कानून द्वारा कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व की निश्चित मात्रा का आश्वासन नहीं दिया गया था। दूसरे, कार्यपालिका में विभिन्न समुदायों का प्रतिनिधित्व परंपरा पर छोड़ा गया था, जिसका पालन जारी निर्देशों के अनुसार गवर्नर को कराना था। अनुभव बताता है कि अब कार्यपालिका में अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व की मात्रा निर्धारित होनी चाहिए।

भाग 1 - खंड 3

यह मांग नई नहीं है। पूना समझौते के खंड 8 में अनुसूचित जातियों को सरकारी सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व का आश्वासन दिया गया है। किन्तु इसमें प्रतिनिधित्व की मात्रा निर्धारित नहीं की गई है। मांग को भारत सरकार ने उचित कहकर मान लिया है और प्रतिनिधित्व की मात्रा भी निर्धारित की गई है। अब सिर्फ इसे वैधानिक आधार देना शेष है।

भाग 2 - खंड 1

यह भी नई मांग है। पूना समझौते के खंड 9 में आश्वासन दिया गया है कि अनुसूचित जातियों की शिक्षा के लिए पर्याप्त धन राशि आबंटित की जाएगी। किन्तु मात्रा निर्धारित नहीं की गई है। मांग का उद्देश्य इतना ही है कि इस संबंध में राज्य की देयता की मात्रा निर्धारित की जाए। इस संबंध में भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 83 को देखा जाए, जिसका संबंध आंग्ल भारतीय और यूरोपियनों की शिक्षा से तथा भारत सरकार द्वारा अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को दिए जाने वाले अनुदान से है।

भाग 2 - खंड 2

यह नई मांग है, किन्तु इसका औचित्य परिस्थितियों से सिद्ध है। इस समय सवर्ण हिन्दू गांवों में रहते हैं और अस्पृश्य गंदी बस्तियों में। उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यों को हिन्दुओं की दासता से मुक्त किया जाए। जब तक वर्तमान व्यवस्था चलती रहेगी, तब तक अस्पृश्य न तो हिन्दुओं की गुलामी सो मुक्त हो पाएंगे और न उनका अस्पृश्यता से पीछा छूटेगा। एक ही गांव में रहने वाले हिन्दुओं और अस्पृश्यों के बीच अत्यंत निकट संबंध के कारण ही अस्पृश्य अलग से पहचाने जाते हैं और सवर्ण हिन्दू उन्हें अस्पृश्य मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत गांवों का देश है और जब तक ग्राम-प्रणाली में अस्पृश्यों को आसानी से पहचाना जा सकता है, अस्पृश्यों को अस्पृश्यता से छुटकारा नहीं मिल सकता। गांवों के साथ लगी गंदी बस्तियों की प्रणाली ही अस्पृश्यता को स्थायी बनाती है। अतः अस्पृश्यों की मांग है कि इस संबंध को तोड़ा जाए और अस्पृश्यों को जो वस्तुतः सामाजिक रूप से पृथक हैं, क्षेत्रीय एवं भौगोलिक रूप से पृथक किया जाए और उन्हें अलग गांवों में बसाया जाए, जो केवल अस्पृश्यों के गांव हों, जिनमें ऊंच-नीच का और स्पृश्य तथा अस्पृश्य का कोई भेद न हो।

पृथक बस्तियों की मांग का दूसरा कारण गांवों में अस्पृश्यों की आर्थिक स्थिति है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि उनकी स्थिति बहुत दयनीय है। यह

भूमिहीन मजदूर समुदाय है जो पूर्णतया उस रोजगार पर निर्भर होता है, जो सवर्ण हिन्दू उन्हें देते हैं और उन्हें उसी मजदूरी पर निर्भर रहना पड़ता है, जिसे देना हिन्दू अपने लिए लाभदायक मानते हैं। जिस गांव में वे रहते हैं, वहां वे कोई और काम नहीं कर सकते, क्योंकि अस्पृश्य होने के कारण हिन्दू उनसे लेन-देन नहीं करेगा। अतः यह स्पष्ट है कि जब तक अस्पृश्य हिन्दू गांव के अधीन उसके भाग के रूप में गंदी बस्तियों में रहते हैं, तब तक वे अपने लिए उपलब्ध रोजगारों से जीविका नहीं कमा सकते।

इस आर्थिक निर्भरता के निर्धनता और अपमान के अलावा और भी दुष्परिणाम होते हैं। हिन्दुओं की एक जीवन-संहिता है, जो उनके धर्म का हिस्सा है। यह संहिता उन्हें कई विशेषाधिकार देती है और अस्पृश्यों पर कई ऐसे अपमान लादती है, जो मानव-जीवन की पवित्रेता तथा गरिमा के विरुद्ध हैं। अस्पृश्य सारे भारत में उन अन्यायों और अपमानों से लड़ रहे हैं, जिन्हें धर्म के नाम पर हिन्दू उन पर लादते रहे हैं। हिन्दुओं और अस्पृश्यों के बीच गांव में हर रोज एक शाश्वत युद्ध चल रहा है। यह युद्ध दिखाई नहीं देता। हिन्दू समाचार-पत्र इसका प्रसार करने के लिए तैयार नहीं होते, इस डर से कि कहीं दुनिया की नजरों में उनकी आजादी का ध्येय बदनाम न हो जाए। तथापि अस्पृश्यों और स्पृश्यों के बीच जल रहा संघर्ष वास्तविकता है। गांव-प्रणाली में अस्पृश्य सम्मानजनक और स्वतंत्र जीवन के अपने संघर्ष में बहुत बाधा महसूस करता है। यह संघर्ष आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से मजबूत हिन्दुओं और निर्धन तथा संख्या में कम अस्पृश्यों के बीच है। हिन्दू अस्पृश्यों को दबाने में अक्सर सफल हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। हिन्दुओं की तरफ पुलिस और दंड विभाग होता है। अस्पृश्यों और हिन्दुओं के झगड़े में अस्पृश्यों को कभी पुलिस से संरक्षण और मजिस्ट्रेट से न्याय नहीं मिलता है। पुलिस और मजिस्ट्रेट अपने कर्त्तव्य से ज्यादा अपने वर्ग से प्यार करते हैं, किन्तु हिन्दुओं के शस्त्रागार का मुख्य हथियार उनकी आर्थिक शक्ति हैं, जो गांव में रहने वाले निर्धन अस्पृश्यों पर उन्हें प्राप्त होती है। प्रस्ताव को पलायनवाद कहा जा सकता है, किन्तु इसका एकमात्र विकल्प है, शाश्वत गुलामी।

भाग 3 - खंड 1

हर देश में जिसमें बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक संप्रदायों की समस्या होती है, दोनों के बीच राजनीतिक सत्ता की साझेदारी की कोई न कोई व्यवस्था होती है। दक्षिण अफ्रीका में ऐसी व्यवस्था है और कनाडा में भी। कनाडा में फ्रेंच भाषी और अंग्रेजी भाषी आबादी के बीच राजनैतिक सत्ता की साझेदारी छोटे से छोटे दफ्तर के स्तर तक है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए श्री पोरिट ने अपनी पुस्तक एवोल्यूशन ऑफ डोमीनियन आफ कनाडा में कहा है :

> ओटावा की स्थितियां जो अंशतः नस्ल और भाषा के कारण हैं और अंशतः सभी शासकीय लाभों के वितरण की दीर्घकालिक परंपरा के कारण, उस ब्रिटिश परंपरा के खिलाफ हैं, जिसके अनुसार सदस्य दो या तीन विधान–मंडलों के कार्यकाल

तक अध्यक्ष पद पर बना रह सकता है, भले ही आम निर्वाचनों में राजनीतिक दलों की जो स्थिति रहे। ओटावा में हर नई लोकसभा (हाउस ऑफा कॉमन्स) के लिए नया अध्यक्ष होता है और लंबे समय से यह परंपरा है कि एक राजनीतिक दल दो या तीन विधान–मंडलों की अवधि में सत्ता पर बना रहता है, तो एक विधान-मंडल का अध्यक्ष अगर ब्रिटिश कनाडियन हुआ तो दूसरी का फ्रेंच कनाडियन होगा।

यह भी नियम है कि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का पद एक ही समय में एक ही नस्ल के सदस्यों के पास नहीं रहेगा। यदि अध्यक्ष फ्रेंच कनाडियन है, तो उपाध्यक्ष जो समितियों का सभापति भी होता है, अंग्रेजी भाषी कनाडियन होगा, क्योंकि सदन का नियम है कि उपाध्यक्ष के पद पर चुने गए व्यक्ति को उस भाषा की पूरी और व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए, जो उस समय अध्यक्ष पद पर काम कर रहे व्यक्ति की नहीं है।

सदन के लिपिक और सहायक लिपिक के पद और सार्जेंट-ऐट-आर्म्स तथा उपसार्जेंट-ऐट-आर्म्स के पद–सभी निर्वाचित पदों से भिन्न नियुक्ति वाले पद–इसी तरह प्रथा के अनुसार दोनों नस्लों में विभाजित हैं।

संसद के दोनों सदनों से संबंधित महत्वपूर्ण और गैर-महत्वपूर्ण पद इन नियमों और प्रचलनों के अनुसार वितरित हैं। दोनों सदनों के कर्मचारियों की उपस्थिति पंजी में, जिसमें चपरासियों तक के नाम होते हैं, जितने अंग्रेजी भाषी कनाडियनों के नाम मिलेंगे, उतने ही फ्रेंच भाषी कनाडियनों के नाम मिलेंगे।

ये नियम और प्रचलन जिनके अनुसार पदों का वितरण होता है, कनाडा महासंघ से भी ज्यादा पुराने हैं। ये युनाइटेड प्रोविन्सेस (संयुक्त प्रांतों) के प्रारंभिक वर्षों के हैं, जब क्यूबेक और ओंटारिया समान संख्या में सदस्य संसद में भेजते थे और जब कनाडा संघ के यही दो प्रांत थे।

क्यूबेक इस समय लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) के कुल 234 सदस्यों में से 65 सदस्य चुनता है। इसकी जनसंख्या कनाडा औपनिवेशिक राज्य की कुल जनसंख्या का एक चौथाई नहीं है। इसके राजस्व का हिस्सा औपनिवेशिक राज्य के एक बटा छह से अधिक नहीं है। किन्तु लोक सभा के पदों का समान विभाजन क्यूबेक द्वारा अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक माना जाता है। जब तक कोई राजनीतिक दल सत्ता में रहते हुए फ्रेंच कनाडा के समर्थन पर निर्भर होता है, तब तक उसके लिए संसदीय सम्मान और पदों के क्यूबेक के दावे की उपेक्षा करना उतना ही कठिन होगा, जितना पृथक प्रणालियों को सुरक्षित करने वाली ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा को निरस्त करना।

दुर्भाग्य से भारत के अल्पसंख्यक समुदायों के लिए भारतीय राष्ट्रवाद के एक नया

सिद्धांत विकसित किया है, जिसे बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अल्पसंख्यक समुदायों पर मनमर्जी का शासन करने का दैवी अधिकार कहा जा सकता है। अल्पसंख्यक समुदायों के सत्ता की साझेदारी के किसी भी दावे को संप्रदायवाद कह दिया जाता है, जब कि बहुसंख्यक समुदाय द्वारा सारी सत्ता पर एकाधिकार को राष्ट्रवाद कहा जाता है। इस तरह की विचारधारा से निर्देशित बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक समुदाय को सत्ता में साझेदारी देने को तैयार नहीं होता और न ही वह इस बारे में किसी परंपरा को मनाने के लिए तैयार होता है, जैसा कि उसके द्वारा उन दायित्वों के विरोध से प्रकट हैं, जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत गवर्नरों को जारी निर्देशों में सम्मिलित है (जिनमें अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधि मंत्रिमंडल में शामिल करने को भी कहा गया है)। इन स्थितियों में अनुसूचित जातियों के अधिकारों को संविधान में समाविष्ट करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है।

भाग 3 - खंड 2

यह नई मांग नहीं है। यह पूना समझौते के खंड 6 की जगह लेती है, जिसमें कहा गया है कि अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण द्वारा प्रतिनिधित्व की प्रणाली तब तक चलती रहेगी, जब तक समझौते के संबंधित पक्ष आपसी सहमति से तय न कर लें। चूंकि अनुसूचित जातियों के लिए किए गए सुरक्षोपायों में परिवर्तन-संशोधन करने के संबंध में अनुसूचित जातियों की इच्छा का पता लगाने की कोई अच्छी विधि इस समय नहीं है, समझौते के खंड 6 की जगह लेने के लिए एक योजना बनाना आवश्यक है। प्रस्ताव में रखे गए प्रावधानों से मिलते-जुलते प्रावधान आस्ट्रेलिया, अमरीका और दक्षिण अफ्रीका के संविधानों में हैं।

इस प्रकार के मामले पर विचार करते समय दो बातों को ध्यान में रखना होगा। पहली यह कि हमें इस संभावना को मानकर चलना चाहिए कि भविष्य में समझौते से संबंधित पक्ष सुरक्षोपायों में परिवर्तन कर सकते हैं। दूसरी ओर इनके परिवर्तन के लिए लगातार संघर्ष होता रहे, यह भी वांछनीय नहीं है। यदि नया संघ और राज्य विधान–मंडलों को उद्देश्यिका में दिए गए दायित्वों को सफलतापूर्वक निभाना है, तो यह वांछनीय होगा कि वे सुरक्षोपायों के परिवर्तन के संबंध में उठने वाले सवालों को लेकर विभिन्न धर्मों और वर्गों के बीच के तीव्र मतभेदों से प्रभावित न हों। अतः 25 साल बाद किसी भी परिवर्तन पर विचार करने का सुझाव दिया गया है।

भाग 4

इस प्रावधान का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि ब्रिटिश भारत में अनुसूचित जातियों के लिए जो सुरक्षोपाय किए गए हैं, वे देशी राज्यों में भी अनुसूचित जातियों को मिलें। प्रावधान में कहा गया है कि संघ में शामिल होने वाली देशी राज्यों को यह सुनिश्चित करना होगा कि उसके संविधान में सुरक्षोपाय हैं।

भाग 5 - निर्वचन

अनुसूचित जातियां अल्पसंख्यक समुदाय हैं या नहीं, यह विवाद का विषय बन गया है। पहल प्रावधान का उद्देश्य इस विवाद को खत्म करना है। अनुसूचित जातियां भारत के किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय की तुलना में बुरी स्थिति में हैं। अतः उन्हें अन्य अल्पसंख्यकों से भी ज्यादा संरक्षणों की जरूरत है। इस संबंध में जो कम से कम किया जा सकता है, वह यह है कि उन्हें अल्पसंख्यक समुदाय माना जाए।

दूसरे प्रावधान का उद्देश्य प्रांतीय बाधा को दूर करना है। कोई कारण नहीं है कि एक प्रांत के अनुसूचित जाति के नागरिक को केवल इसलिए संविधान द्वारा दिए गए राजनीतिक विशेषाधिकारों का लाभ खोना पड़े कि उसने अपना निवास स्थान बदल लिया है।

परिशिष्ट 2

पूना समझौते का मूलपाठ

1. प्रांतीय विधामंडलों में सामान्य निर्वाचक-मंडल की सीटों से निम्न प्रकार से दलित वर्गों के लिए सीटें आरक्षित होंगी :

मद्रास	30
बंबई सिंध सहित	15
पंजाब	8
बिहार और उड़ीसा	18
मध्य भारत	20
आसाम	7
बंगाल	30
संयुक्त प्रांत	20
कुल	148

ये आंकड़े प्रधानमंत्री के निर्णय में घोषित प्रांतीय परिषदों की कुल सदस्य-संख्या पर आधारित हैं।

2. इन सीटों के लिए निर्वाचन संयुक्त निर्वाचक-मंडल की प्रणाली से होंगे और यह निम्नलिखित कार्यविधि के अधीन होंगे :

> निर्वाचन-क्षेत्र की सामान्य मतदाता सूची में दर्ज दलित वर्गों के सभी सदस्य निर्वाचक-मंडल में होंगे, जो एकल वोट की विधि से प्रत्येक आरक्षित सीट के दलित वर्गों के चार उम्मीदवारों का पैनल चुनेंगे। इस तरह के प्राथमिक निर्वाचन में सबसे अधिक वोट प्राप्त करने वाले चार उम्मीदवार सामान्य मतदाताओं द्वारा निर्वाचन के उम्मीदवार होंगे।

3. केन्द्रीय विधान–मंडल में दलित वर्गों के प्रतिनिधि भी इसी तरह आरक्षित सीटों और संयुक्त निर्वाचक-मंडल की प्रणाली से प्राथमिक निर्वाचन की विधि से उसी रीति चुने जाएंगे, जो ऊपर खंड 2 में प्रांतीय विधान–मंडलों के प्रतिनिधि के लिए दी गई है।

4. केन्द्रीय विधान–मंडल में ब्रिटिश भारत के सामान्य निर्वाचक-मंडल के लिए नियत कुल सीटों की 18 प्रतिशत सीटें दलित वर्गों के लिए आरक्षित होंगी।

5. केन्द्रीय और प्रांतीय विधान–मंडल के निर्वाचन के लिए उम्मीदवारों के पैनल के लिए प्राथमिक निर्वाचन-प्रणाली प्रथम दस वर्ष बाद खत्म हो जाएगी, बशर्ते कि आगे खंड 6 के प्रावधान के अंतर्गत आपसी समझौते से उसे पहले ही समाप्त न कर दिया जाए।

6. प्रांतीय और केन्द्रीय विधान–मंडलों में आरक्षित सीटों द्वारा दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की प्रणाली जिसकी व्यवस्था खंड 1 से खंड 4 में की गई है, समझौते से संबद्ध समुदायों के बीच आपसी करार से निश्चित तारीख तक चलती रहेगी।

7. केन्द्रीय और प्रांतीय विधान–मंडलों के लिए दलित वर्गों का मताधिकार वही होगा, जो लोथियन समिति की रिपोर्ट में दिया गया है।

8. स्थानीय निकायों के निर्वाचन या सरकारी सेवाओं की नियुक्ति के लिए दलित वर्गों का सदस्य होने की वजह से किसी व्यक्ति के साथ कोई अशक्तता नहीं जुड़ेगी। इनमें दलित वर्गों को उन शैक्षिक योग्यताओं के अधीन जो सरकारी सेवाओं की नियुक्ति के लिए निर्धारित हों, उचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए पूरी कोशिश की जाएगी।

9. प्रत्येक प्रांत शिक्षा अनुदान में से पर्याप्त राशि दलित वर्गों के सदस्यों को शैक्षिक सुविधा उपलब्ध कराने के लिए आबंटित की जाएगी।

परिशिष्ट 3

पूना समझौते के दोष

1. पूना समझौते का उद्देश्य ऐसी विधि बनाना था, जिससे अनुसूचित जातियां अपनी पसंद के प्रतिनिधि विधान-मंडलों में भेज सकें। यह उद्देश्य पूरी तरह विफल हो गया है, जैसा कि आगे दी गई अंक-सारणियों से ज्ञात होगा। ये सारणियां फरवरी 1946 में हुए निर्वाचनों के परिणामों से तैयार की गई हैं।

2. आंकड़े चार सारणी मालाओं में दिए गए हैं :

पहली माला में सफल सवर्ण हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट और सफल अनुसूचित जाति उम्मीदवार को अंतिम निर्वाचन में मिले वोट के आंकड़ें हैं।

दूसरी माला में दिखाया गया है कि कितने मामलों में अनुसूचित जाति के उम्मीदवार को अंतिम निर्वाचन में सफलता के लिए आरक्षण संबंधी खंड का सहारा लेना जरूरी हुआ और कितने मामलों में वह आरक्षण के लाभ के बिना जीता।

तीसरी माला में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों में सवर्ण हिन्दुओं और अनुसूचित जातियों की तुलनात्मक वोट संख्या दिखाई गई है।

चौथी मामला में अंतिम निर्वाचन में जीते अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों की प्राथमिक निर्वाचन में क्या स्थिति थी, वह दिखाया गया है।

3. इन आंकड़ों के निष्कर्ष उनके ध्यान में अवश्य आएंगे, जो इनका अध्ययन करेंगे। आंकड़ों से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं :

(i) अंतिम निर्वाचन में जीतने वाला अनुसूचित जातियों का उम्मीदवार अनुसूचित जातियों के वोटों पर नहीं, सवर्ण हिन्दुओं के वोटों से जीता। उनमें से अनेक उम्मीदवार प्राप्त मतों में सबसे ऊपर रहे और उन्हें सवर्ण हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट के बराबर या उनसे भी अधिक वोट मिले (देखें, प्रथम माला की सारणियां)। दूसरे, बहुत कम निर्वाचन-क्षेत्रों में सफल अनुसूचित जाति के उम्मीदवार को आरक्षण पर निर्भर रहना पड़ा (देखें, दूसरी माला की सारणियां)। यह अत्यंत अप्रत्याशित तथ्य है। जो भी विभिन्न क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों और सवर्ण हिन्दुओं की मतदाता संख्या की तुलना करेगा (देखें, तीसरी माला की सारणियां), वह यह मानेगा कि अनुसूचित जातियों की मतदाता संख्या इतनी कम है कि यदि अनुसूचित जाति के उम्मीदवारों को अनुसूचित जातियों का ही वोट मिलता, तो उक्त तथ्य देखने को नहीं मिलता। तथ्य इस बात का सकारात्मक प्रमाण है कि अंतिम निर्वाचन में अनुसूचित जातियों के उम्मीदवार की सफलता सवर्ण हिन्दू वोटों के कारण है।

(ii) प्राथमिक निर्वाचन और अंतिम निर्वाचन के परिणामों की तुलना करने से (देखें, चौथी माला की सारणियां) ज्ञात होगा कि अंतिम निर्वाचन में जीतने वाला अनुसूचित जाति का उम्मीदवार वह था, जो प्राथमिक निर्वाचन में असफल रहा। यदि प्राथमिक निर्वाचन को अंतिम मान लिया जाए और निर्वाचन-क्षेत्र को एकल-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र मान लिया जाए।

(iii) सवर्ण हिन्दुओं और अनुसूचित जातियों की मतदाता संख्या में बहुत बड़े असंतुलन की वजह से – यह असंतुलन वयस्क मताधिकार में भी समाप्त नहीं होगा – संयुक्त निर्वाचक-मंडल की प्रणाली में अनुसूचित जातियां अपने वास्तविक प्रतिनिधि विधान–मंडलों में नहीं भेज पाएंगी।

(iv) पूना समझौते ने अनुसूचित जातियों के मताधिकार को पूरी तरह खत्म कर दिया है, क्योंकि जो उम्मीदवार प्राथमिक निर्वाचनों में, जो अनुसूचित जातियों की इच्छा के सही सूचक हैं-असफल हुए, वही सवर्ण हिन्दुओं के वोट से अंतिम निर्वाचन में चुने गए।

इस प्रकार पूना समझौता शरारतपूर्ण है। इसे श्री गांधी के अनशन के दबाव में आकर तथा इस आश्वासन पर स्वीकार किया गया था कि सवर्ण हिन्दू अनुसूचित जातियों के निर्वाचन में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

प्रथम माला

सफल अनुसूचित जाति उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मतों की सफल सवर्ण हिन्दू उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मतों से तुलना।

प्रथम माला

1. मद्रास

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
1. काकीनाडा	2	32,607	28,544
2. एल्लोर	2	37,618	38,195
3. बंदर	2	69,319	70,931
4. ओंगोल	2	50,906	49,992
5. पेनुकोंडा	2	17,406	18,125
6. कुर्नुल	2	32,756	32,294
7. चिंगलपेट	2	13,865	15,129
8. थिरुवलूर	2	17,225	17,818
9. रानीपेट	2	21,249	21,059
10. तिरुवन्नमलाई	2	31,476	32,132
11. तिंडिवनम	2	25,626	25,442
12. चिदंबरम	2	15,272	14,874
13. तंजौर	2	26,904	16,133
14. मन्नारगुडी	2	29,932	30,116
15. अरियालूर	2	22,656	20,520
16. सतूर	2	30,988	29,530
17. मलापुरम	2	28,229	28,085
18. नमाक्कल	2	15,433	15,085

2. बंगाल

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम		सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट	
	1	2	3	4	5
1.	बर्दवान मध्य	2	42,858	33,903	-
2.	बर्दवान, उत्तर-पश्चिम	2	32,270	25,723	-
3.	बीरभूम	2	24,629	20,252	-
4.	बांकुरा, पश्चिम	2	30,388	21,266	-
5.	थुरग्राम व घाटल	2	40,900	19,060	-
6.	हुगली, उत्तर-पूर्व	2	26,132	18,768	-
7.	हावड़ा	2	40,608	36,099	-
8.	24-परगना, दक्षिण-पूर्व	2	50,345	38,459	-
9.	24-परगना, उत्तर-पश्चिम	2	45,339	48,272	-
10.	नादिया	2	30,489	28,054	-
11.	मुर्शिदाबाद	2	32,386	26,958	-
12.	जैसोर	2	38,665	41,434	-
13.	खुलना	3	79,218	57,724	44,043
14.	मालदा	2	32,728	12,796	-
15.	दीनाजपुर	3	46,146	35,127	30,839
16.	जलपाईगुड़ी व सिलिगुड़ी	3	30,950	26,109	13,829
17.	रंगपुर	3	46,869	29,657	23,237
18.	बोगरा व पाबना	2	43,249	31,515	-
19.	ढाका, पूर्व	2	51,808	31,392	-
20.	मैमनसिंह, पश्चिम	2	37,983	32,782	-
21.	मैमनसिंह, पूर्व	2	43,678	32,207	-
22.	फरीदपुर	2	70,115	51,450	29,503
23.	बकारगंज	2	48,560	28,560	-
24.	टिपेरा	2	60,146	59,051	-

3. बंबई

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट		सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट	
1	2	3	4	5	6
1. बंबई शहर (पनगर	3	57,182	47,835-	59,646	
2. बंबई शहर (भायखला)	3	42,143	41,795	-	43,251
3. खेड़ा जिला	4	68,044	63,422	57,394	69,807
4. सूरत जिला	4	40,232	39,985	39,610	39,849
5. थाणे, दक्षिण	3	30,581	27,587	-	11,630
6. अहमद नगर, दक्षिण	3	25,747	20,948	-	20,908
7. पूर्वी खानदेश, पूर्व	4	38,721	34,349	33,960	36,136
8. नासिक, पश्चिम	4	37,218	36,794	36,555	42,604
9. पूना, पश्चिम	3	23,758	23,454	-	24,709
10. सतारा, उत्तर	4	44,315	42,727	41,474	43,961
11. शोलापुर, उत्तर-पूर्व	3	19,380	16,705	-	18,264
12. बेलगांव, उत्तर	4	55,787	50,759	49,867	27,682
13. बीजापुर, उत्तर	3	23,083	20,838	-	16,059
14. कोलाबा जिला	4	41,012	38,864	35,633	17,676
15. रत्नागिरी, उत्तर	4	13,640	10,985	10,372	11,734

4. संयुक्त प्रांत

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
1. लखनऊ नगर	2	24,614	14,110
2. कानपुर शहर	2	34,550	34,782
3. आगरा शहर	2	17,446	16,343
4. इलाहाबाद शहर	2	19,870	10,308
5. बदायूं शहर	2	6,716	14,037

4. संयुक्त प्रांत (जारी)

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
6. जालौन जिला	2	21,692	15,363
7. बस्ती जिला	2	14,450	15,447
8. अल्मोड़ा जिला	2	36,371	20,605
9. रायबरेली	2	15,971	1,889
10. सीतापुर जिला	2	28,665	20,204
11. गोंडा जिला	2	17,949	13,447

5. मध्य भारत

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
1. नागपुर शहर	2	21,905	23,595
2. नागपुर-उमरेर	2	8,330	7,847
3. हिंगणघाट वर्धा	2	11,677	10,781
4. चंदा-ब्रह्मपुरी	2	10,208	8,144
5. छिंदवाड़ा सनसद	2	16,365	6,190
6. सागर-खुरई	2	7,829	5,162
7. रायपुर	2	8,183	6,112
8. बलोदा बाजार	2	21,861	9,659
9. बिलासपुर	2	13,109	6,030
10. मुंगेली	2	9,600	6,418
11. तंजगीर	2	11,914	7,419
12. दुर्ग	2	5,975	5,593
13. भंडारा-सकोली	2	16,824	10,491
14. यवतमाल दरवाह	2	10,915	4,719

5. मध्य भारत (जारी)

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
15. इलिचपुर	2	16,298	4,592
16. चिखली-मेखर	2	16,397	2,748
17. अकोला-बालापुर	2	6,455	5,567

6. आसाम

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट		सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4	5
1. कामरूप-साओर, दक्षिण	3	15,890	14,971	13,693
2. नौगोंग	1	-	-	14,560
3. जोरहट-उत्तर	2	17,429	-	5,809
4. हबीबबंज	2	10,985	-	9,770
5. करीमगंज	2	12,562	-	11,676
6. सिलचर	2	17,340	-	7,081

7. उड़ीसा

निर्वाचन-क्षेत्र का नाम	सीट संख्या	सफल हिन्दू उम्मीदवारों को मिले वोट	सफल अनु. जाति के उम्मीदवारों को मिले वोट
1	2	3	4
1. पूर्वी ताजपुर	2	8,427	8,712
2. पूर्वी बरगढ़	2	4,195	937

दूसरी माला

निर्वाचन-क्षेत्र जहां अनुसूचित जाति उम्मीदवारों की सफलता के लिए आरक्षण आवश्यक रहा

प्रांत	निर्वाचन-क्षेत्रों की संख्या जहां अनु. जाति के लिए सीटें आरक्षित थीं	निर्वाचन-क्षेत्र जहां मुकाबला हुआ	निर्वाचन-क्षेत्र जहां हिन्दू उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने के कारण मुकाबला हुआ	निर्वाचन-क्षेत्र जहां अनु. जाति उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने के कारण मुकाबला हुआ	निर्वाचन-क्षेत्र जहां दोनों जातियों के उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने के कारण मुकाबला हुआ	निर्वाचन-क्षेत्र जहां अनु. जाति उम्मीदवारों को जीतन के लिए आरक्षण पर निर्भर करना पड़ा
1	2	3	4	5	6	7
1. मद्रास	30	18	14	17	-	-
2. बंगाल	30	24	19	24	19	-
3. बंबई	15	15	15	15	15	2
4. मध्य भारत	22	17	14	17	14	2
5. संयुक्त प्रांत	15	11	5	11	6	-
6. आसाम	-	-	-	-	-	2
7. उड़ीसा	-	2	-	2	-	-
8. पंजाब	8	-	-	-	-	—

तीसरी माला

सवर्ण हिन्दुओं और अनुसूचित जातियों की तुलनात्मक मत-शक्ति

1. मद्रास

नर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
1. मद्रास शहर, द. मध्य	26,922	4,082	1:6.6
2. चिकाकोल	90,496	8,070	1:11.2
3. अमलापुरम	95,954	28,282	1:3.4
4. काकीनाडा	86,932	17,616	1:4.9
5. एल्लोर	88,249	16,835	1:5.24
6. ओंगोल	1,10,152	11,233	1:9.8
7. गुडूर	52,415	10,263	1:5.1
8. कडप्पा	92,572	10,842	1:8.5
9. पेनुकोंडा	74,952	11,896	1:6.3
10. बेलारी	85,928	10,146	1:8.5
11. कुर्नूल	72,753	11,679	1:6.2
12. तिरुतन्नी	77,337	15,243	1:5.07
13. चिंगलपेट	73,554	22,182	1:3.3
14. तिरुवलूर	81,814	21,287	1:3.8
15. रानीपेट	24,403	11,271	1:2.1
16. तिरुवन्नमलाई	97,259	15,536	1:6.2
17. तिंडिवनम	85,514	19,221	1:4.4
18. चिदंबरम	96,086	16,762	1:5.7
19. तिरुकोयीलूर	1,02,482	21,733	1:4.7
20. तंजोर	99,496	13,198	1:7.5
21. मनारगुडी	69,579	11,547	1:5.8
22. अरियालूर	1,13,630	16,772	1:6.7
23. पालानी	92,655	13,521	1:6.8
24. सत्तूर	84,169	8,033	1:10.5

	1	2	3	4
25.	कोइलपट्टी	1,00,521	20,907	1:4.8
26.	पोलाच्ची	63,821	12,808	1:4.9
27.	नमाक्कल	51,860	11,407	1:4.5
28.	कूंडापुर	46,032	8,030	1:5.7
29.	मलापुरम	70,346	10,808	1:6.5

2. बंबई

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
सामान्य नगरीय			
1. बंबई शहर, उत्तर और बंबई उपनगरीय जिला	1,67,002	34,266	1:4.8
2. बंबई शहर-भायकुला और परेल	1,52,991	28,520	1:.3
सामान्य ग्रामीण			
3. खेड़ा जिला	1,39,508	7,318	1:19.06
4. सूरत जिला	85,670	4,765	1:18.8
5. ठाणे, दक्षिण	67,749	4,668	1:14.5
6. अहमदनगर, दक्षिण	73,162	7,382	1:9.9
7. पूर्वी खानदेश, पूर्व	91,377	10,109	1:9.35
8. नासिक, पश्चिम	99,274	12,698	1:7.7
9. पूना, पश्चिम	73,551	13,055	1:5.6
10. सतारा, उत्तर	95,459	11,152	1:8.5
11. शोलापुर, उत्तर-पूर्व	64,583	9,713	1:6.6
12. बेलगांव, उत्तर	79,422	18,303	1:4.3
13. बीजापुर, उत्तर	60,655	8,993	1:6.7
14. कोलाबा जिला	1,03,828	5,001	1:20.7
15. रत्नागिरी, उत्तर	32,606	3,529	1:9.2

3. बंगाल

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
1. बर्दवान, मध्य	74,306	24,610	1:3.01
2. बर्दवान, उत्तर-पश्चिम	80,35	16,830	1:4.8
3. बीरभूम	1,03,231	37,637	1:2.7
4. बांकुरा, पश्चिम	84,128	25,487	1:3.3
5. मिदनापुर, मध्य	99,961	20,167	1:4.95
6. झरगाम व घाटल	64,031	13,091	1:4.85
7. हुगली, उत्तर-पूर्व	67,697	20,318	1:3.33
8. हावड़ा	1,03,346	22,990	1:4.5
9. 24-परगना, दक्षिण-पश्चिम	82,366	47,378	1:1.7
10. 24-परगना, उत्तर-पूर्व	85,477	30,607	1:2.78
11. नदिया	90,092	25,605	1:3.5
12. मुर्शिदाबाद	81,083	17,176	1:4.8
13. जैसोर	1,21,760	55,052	1:2.2
14. खुलना	1,45,335	76,848	1:1.87
15. मालदा	73,664	29,010	1:2.54
16. दिनाजपुर	1,48,804	1,18,454	1:1.25
17. जलपाईगुड़ी व सिलिगुड़ी	78,552	65,679	1:1.2
18. रंगपुर	29,437	65,679	1:0.44
19. बोगरा व पाबना	87,704	33,873	1:2.58
20. ढाका, पूर्व	94,858	40,238	1:2.35
21. मेमनसिंह, पश्चिम	98,795	38,046	1:2.59
22. मेमनसिंह, पूर्व	68,360	29,588	1:2.3
23. फरीदपुर	1,72,683	96,319	1:1.7
24. बकारगंज, दक्षिण-पश्चिम	78,796	49,014	1:1.6
25. टिपेरा	1,27,097	34,813	1:3.61

4. संयुक्त प्रांत

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
सामान्य नगरीय			
1. लखनऊ शहर	89,412	9,079	1:9.8
2. कानपुर शहर	1,31,599	22,515	1:5.8
3. आगरा शहर	47,505	10,105	1:4.7
4. इलाहाबाद शहर	55,379	6,854	1:8.07
सामान्य ग्रामीण			
5. चरनपुर जिला, दक्षिण-पूर्व	47,773	7,256	1:6.5
6. बुलंदशहर जिला, पूर्व	49,699	7,506	1:6.6
7. आगरा जिला, दक्षिण-पूर्व	61,515	8,290	1:7.4
8. मैनपुरी जिला, दक्षिण-पूर्व	51,406	5,878	1:8.7
9. बदायूं जिला, पूर्व	46,966	7,087	1:6.6
10. जालौन जिला	68,815	14,611	1:4.7
11. मिर्जापुर जिला, उत्तर	43,648	4,045	1:10.7
12. गोरखपुर जिला, उत्तर	43,441	5,626	1:7.7
13. बस्ती जिला, दक्षिण	37,084	4,194	1:8.8
14. आजमगढ़ जिला, पश्चिम	51,194	8,127	1:6.2
15. अल्मोड़ा जिला	1,39,217	20,671	1:6.7
16. रायबरेली जिला, उत्तर-पूर्व	48,697	10,488	1:4.6
17. सीतापुर जिला, उत्तर-पूर्व	76,682	22,913	1:3.3
18. फैजाबाद जिला, पूर्व	57,154	9,988	1:5.7
19. गोंडा जिला, उत्तर-पूर्व	64,225	8,274	1:7.7
20. बाराबंकी जिला, उत्तर	68,285	16,303	1:4.18

5. मध्य भारत

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
सामान्य नगरीय			
1. नागपुर शहर	72,329	14,388	1:5.02
सामान्य ग्रामीण			
2. नागपुर-उमरेर	29,267	6,037	1:4.8
3. हिंगणघाट-वर्धा	35,201	4,011	1:9.02
4. चंदा-ब्रह्मपुरी	30,132	5,229	1:5.7
5. छिंदवाड़ा-सनसद	37,942	3,914	1:9.7
6. जबलपुर-पाटन	20,587	1,186	1:17.5
7. सागर-खुरई	30,660	5,224	1:5.8
8. दमोह-हट्टा	33,284	3,608	1:9.2
9. नरसिंहपुर-गदरवारा	35,781	2,019	1:17.6
10. रायपुर	33,053	11,041	1:2.9
11. बलोदा बाजार	46,943	15,636	1:3.06
12. बिलासपुर	33,260	10,547	1:3.1
13. मुंगेली	28,028	10,067	1:2.7
14. जंजगीर	42,763	13,558	1:3.15
15. दुर्ग	34,883	8,942	1:3.19
16. भंडारा-सकोली	47,047	10,399	1:4.5
17. एलिचपुर-दरतापुर-नेलघाट	30,094	2,885	1:13.8
18. अकोला-बालापुर	25,912	3,233	1:9.81
19. यवतमाल-दरवाह	20,327	2,020	1:10.06
20. चिखली-मेखर	37,936	3,468	1:10.9

6. बिहार

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
1. पूर्वी बिहार	35,631	4,618	1:7.7
2. दक्षिण गया	49,363	10,360	1:4.7
3. नवादा	41,432	7,684	1:5.3
4. पूर्व-मध्य शाहाबाद	41,707	5,984	1:6.9
5. पश्चिम गोपालगंज	33,395	3,415	1:9.7
6. उत्तर बेतिया	25,760	2,831	1:9.09
7. पूर्व मुजफ्फरपुर सदर	27,271	3,133	1:8.7
8. दरभंगा सदर	26,864	2,116	1:12.6
9. दक्षिण-पूर्व समस्तीपुर	37,291	2,672	1:13.9
10. दक्षिण सदर मुंगेर	54,229	6,456	1:8.5
11. मधेपुरा	26,523	1,284	1:20.6
12. दक्षिण-पश्चिम पूर्णिया	44,232	2,938	1:15.05
13. गिरिडीह व घटरा	55,246	4,667	1:11.8
14. उत्तर-पूर्व पलामू	23,072	4,237	1:5.3
15. मध्य मनभूम	39,626	5,617	1:7.05

4. आसाम

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1	2	3	4
1. नौगांव, उत्तर-पूर्व	26,618	3,569	1:7.2
2. कामरूप सदर, दक्षिण	33,234	2,117	1:15.6
3. सिलचर	38,647	4,201	1:9.2

1		2	3	4
4.	करीमगंज, पूर्व	25,701	10,132	1:2.5
5.	जोरहट, उत्तर	26,733	1,360	1:19.6
6.	जोनगंज	39,045	11,603	1:3.3
7.	हबीबगंज, उत्तर	31,511	9,996	1:3.1

8. पंजाब

निर्वाचन-क्षेत्र		कुल मतदाता	अनु. जाति के कुल मतदाता	कालम 2 और 3 का सापेक्ष अनुपात
1		2	3	4
1.	दक्षिण-पूर्व गुड़गांव	37,815	6,049	1:6.2
2.	करनाल, उत्तर	31,967	5,120	1:6.2
3.	अंबाला और शिमला	47,403	17,507	1:3.27
4.	होशियारपुर, पश्चिम	51,084	7,281	1:7.0
5.	जालंधर	36,570	20,521	1:1.8
6.	लुधियाना और फिरोजपुर	52,009	27,354	1:1.8
7.	अमृतसर व सियालकोट	38,046	10,328	1:3.68
8.	लायलपुर व झंग	32,703	7,602	1:4.2

चौथी माला

प्राथमिक निर्वाचन और अंतिम निर्वाचन की तुलना

1. मद्रास

निर्वाचन-क्षेत्र	अंतिम निर्वाचन में जीता अनु. जाति उम्मीदवार नाम	पार्टी	प्राप्त मत	आम निर्वाचन के उम्मीदवारों में उसका स्थान क्षेत्र मानते हुए	प्राथमिक निर्वाचन में उसका स्थान निर्वाचन-क्षेत्र को एकल वोट	प्राथमिक निर्वाचन में प्राप्त मत	क्या प्राथमिक निर्वाचन में सफलता मामूली बहुमत, पूर्ण बहुमत या विभाजित मत से हुई
1	2	3	4	5	6	7	8
1. अमलापुरम	पांडु लक्ष्मणस्वामी	कांग्रेस	48,524	3 में पहला	तीसरा (असफल)	2,683	-
2. काकीनाडा	बी. एस. मूर्ति	,,	28,544	4 में दूसरा (दो हिन्दू उम्मीदवारों को हराकर)	चौथा (असफल)	1,411	-
3. बंदर	वेमुला कुरमैया	,,	70,931	6 में पहला (4 हिन्दुओं को हराकर)	दूसरा (असफल)	4,914	-
4. कडप्पा	स्वर्ण नाग	,,	-	-	पहला	3,482	पूर्ण बहुमत
5. पेनुकोंडा	डी. कडटिप्पा	कांग्रेस	18,125	4 में पहला	पहला	2,564	मामूली बहुमत

1	2	3	4	5	6	7	8
				(एक हिन्दू और 2 अनु. जाति के उम्मीदवारों को हराकर)			
6. तिरुवन्नमलाई	आर. थंगावेलू	,,	32,132	5 में पहला (2 हिन्दू और 2 अनु. जाति के उम्मीदवारों को हराकर)	पहला	1,960	मामूली बहुमत
7. टिंडिवनम	के. कुलशेखर दास	,,	25,442	4 में दूसरा (2 हिन्दुओं को हराकर)	पहला	2,785	विभाजित मत
8. मन्नारगुडी	थियागू वोइकरार	,,	30,116	5 में पहला (5 हिन्दुओं को हराकर)	पहला	2,895	विभाजित मत
9. पोलाची	सी. कृष्ण कुडुंबन	,,	-	-	पहला	2,430	पूर्ण बहुमत
10. नमक्कल	एम. पी. पेरियास्वामी	,,	15,085	5 में दूसरा (2 हिन्दुओं और 1 अनु. जाति के उम्मीदवार को हराकर)	पहला	2,355	मामूली बहुमत

2. बंबई

1	2	3	4	5	6	7	8
1. बंबई शहर उत्तर	सावलाराम गुंडाजी सोनगांवकर	कांग्रेस	59,649	3 में पहला (2 हिन्दू उम्मीदवारों से ऊपर)	दूसरा (असफल)	2,038	-
2. बंबई शहर बाईकुला और परेल	एम. एस. काजरोलकर	,,	43,251	3 में पहला (2 सामान्य उम्मीदवारों से ऊपर)	दूसरा (असफल)	2,098	-
3. पूर्वी खानदेश पूर्व	हीरालाल कल्याणी	,,	36,136	4 में दूसरा (2 को हराकर)	दूसरा (असफल)	1,147	-

3. मध्य भारत

1	2	3	4	5	6	7	8
1. नागपुर-उमरेर	लेलेन्द्र रामचन्द्र	कांग्रेस	7,847	दूसरा	तीसरा (असफल)	112	-
2. हिंगणघाट, वर्धा	शंकर विट्ठल	,,	10,781	दूसरा	चौथा (असफल)	56	-
3. मंडरा-सकोली	हरनूजी इसराम	,,	10,491	दूसरा	तीसरा (असफल)	471	-
4. यवतमाल-दरवाह	दौलत लक्ष्मण	,,	4,719	दूसरा	तीसरा (असफल)	126	-

4. संयुक्त प्रांत

1	2	3	4	5	6	7	8
1. आगरा शहर	रामचंद	कांग्रेस	16,343	दूसरा	प्रथम	836	मामूली बहुमत और विभाजित मत
2. इलाहाबाद शहर	मसूरिया दीन	,,	10,308	दूसरा	प्रथम	1,701	मामूली बहुमत और विभाजित मत
3. अल्मोड़ा	खुशीराम	,,	20,605	दूसरा	दूसरा (असफल)	937	-

5. पंजाब

1	2	3	4	5	6	7	8
1. दक्षिण-पूर्व गुड़गांव	प्रेम सिंह	यूनियनिस्ट	7,706	दूसरा	पहला	1,353	विभाजित मत
2. करनाल, उत्तर	सुंदर	कांग्रेस	3,136	दूसरा	पहला	519	मामूली बहुमत
3. अंबाला-शिमला	पृथ्वीसिंह आजाद	,,	10,503	दूसरा	तीसरा (असफल)	1,392	-
4. होशियारपुर, पश्चिम	मेहरचंद	,,	16,307	दूसरा	तीसरा (असफल)	641	-
5. जालंधर	गुरबंता सिंह	,,	21,476	पहला	पहला	-	-
6. लुधियाना फिरोजपुर	मतूराम	,,	24,352	पहला	चौथा (असफल)	812	-
7. लायलपुर और झंग	हरभजराम	-	8,312	दूसरा	दूसरा (असफल)	1,166	-

परिशिष्ट 4
जनसंख्या के आंकड़े

1941 में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का अनुमान 48,793,180 लगाया गया। क्या इस आंकड़े को सही माना जा सकता है?

इस मुद्दे पर अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

(i) 1931 के मुकाबले 1941 में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या में ह्रास हुआ है।

(ii) इसी अवधि में अन्य सभी समुदायों की जनसंख्या में 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

प्रश्न यह है कि क्या अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के ह्रास का कोई विशेष कारण है?

क्या 1931 में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के आकलन का आधार वही था, जो 1941 में था? इसका उत्तर हां में है। 1931 में आंकड़े, 1931 की जनगणना के आंकड़ों को लोथियन समिति द्वारा की गई 'अस्पृश्यों' की परिभाषा के अनुसार पुनर्व्यवस्थित करने के बाद प्राप्त किए गए थे। यही आधार 1941 की जनगणना का था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि 1941 में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या 1931 में अधिक अनुपात के कारण कम दिखाई देती है।

यह सही है कि 1941 की जनगणना में अजमेर-मेवाड़ और ग्वालियर राज्य की अनुसूचित जातियों की संख्या शामिल नहीं है। किन्तु इन दो क्षेत्रों के 1931 के आंकड़े, 1941 के आंकड़ों में जमा करने पर भी यह जनसंख्या 49,538,145 होती है, जो ह्रास ही दिखाती है।

एक ही दशक में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के कम होने और दूसरे समुदायों की जनसंख्या बढ़ने का कोई उचित स्पष्टीकरण न मिलने से यह धारणा ही मजबूत होती है, जो भारतीय जनगणना के प्रत्येक ईमानदार छात्र के मन में बनी है, अर्थात्कई दशकों से भारत में जनगणना का काम जनसंख्यिकीय काम नहीं रहा गया है। यह राजनीतिक मामला बन गया है। प्रत्येक समुदाय की अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति हाथ में लेने के उद्देश्य से दूसरे समुदायों की कीमत पर अपने समुदाय की जनसंख्या कृत्रिम तरीके से बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति रही है। अनुसूचित जातियों की अन्य समुदायों ने अपने सम्मिलित लोभ की तुष्टि का शिकार बनाया जिन्होंने अपने प्रचारकों और गणनाकर्ताओं के माध्यम से जनगणना के काम और परिणाम को प्रभावित किया।

इन परिस्थितियों में यह मांग करना उचित है कि अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के सही आंकड़े को प्राप्त करने के लिए 1941 की जनसंख्या में अजमेर-मेवाड़ और ग्वालियर राज्य के आंकड़ों को जोड़कर जनसंख्या वृद्धि का सामान्य लाभ देते हुए उसमें 15 प्रतिशत की वृद्धि की जाए।

(परिशिष्ट 4 जारी

जनसंख्या के आंकड़े

सारणी 1

1941 की जनगणना के अनुसार विभिन्न समुदायों की जनसंख्या

	हिन्दू	अनु. जातियां	मुस्लिम	सिख	भारतीय ईसाई	आंग्ल भारतीय	पारसी
	1	2	3	4	5	6	7
प्रांत	150,890,146	39,920,807	79,398,503	4,165,097	3,245,706	1,13,936	1,01,968
अजमेर-मेवाड़	376,481	?	89,899	867	3,895	1,005	......
आसाम*	3,586,932	676,291	3,442,479	3,464	37,750	634	2
बलूचिस्तान	39,521	5,102	438,930	11,918	2, 633	263	75
बंगाल	17,680,054	7,378,970	33,005,434	16,281	110,923	31,619	86,270
बिहार	22,173,890	4,340,379	4,716,314	13,213	24,293	5,963	547
उड़ीसा	5,594,535	1,238,171	146,301	232	26,584	789	13
बंबई	14,700,242	1,855,148	1,920,368	6,044	338,812	14,034	43,467
सिंध	1,038,292	191,634	3,208,325	31,011	13,232	2,731	1,936
मध्य भारत और बरार	9,880,258	3,051,413	783,697	14,996	48,260	4,538	2,014

	1	2	3	4	5	6	7
कुर्ग	105,013	25,740	14,730	शून्य	3,309	80	12
दिल्ली	444,532	122,693	304,971	16,157	10,494	3,408	284
मद्रास	34,731,330	8,068,492	8,896,452	418	2,001,082	28,661	369
उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत	180,321	?	2,788,797	57,939	5,426	837	24
पंजाब	6,301,737	1,248,635	16,217,242	3,757,401	486,038	5,891	4,326
संयुक्त प्रांत	34,094,511	11,717,158	8,416,308	232,445	131,327	13,383	1,375
देशी राज्य और ऐंसियां	55,227,180	8,892,373	12,659,593	1,526,350	2,794,959	26,468	12,922
भारत	206,117,326	48,813,180	92,058,096	5,691,447	6,040,665	140,422	114,490

*जनजातियां 6,484,996

जनजातियां

प्रांत	16,713,256
देशी राज्य और एजेंसियां	8,728,233
भारत	25,441,489

सारणी 2

1931—1941 के दौरान विभिन्न समुदायों में जनसंख्या की घट-बढ़त

वृद्धि (+)

कमी (-)

प्रतिशत	प्रांत	देशी राज्य और	संपूर्ण भारत	प्रांत	देश राज्य और एजेंसियां	संपूर्ण भारत	क ु ल
	1	2	3	4	5	6	7
हिन्दू	139,319,979	50,335,391	189,654,370	150,890,146	55,227,180	206,117,326	∴26,462,956
अनुसूचित जातियां	38,409,009	11,131,761	49,540,770	39,920,807	8,892,373	48,793,180	-747,590
मुस्लिम	67,020,443	10,657,102	77,677,545	79,398,503	12,659,598	92,058,096	+14,381,551
सिख	3,220,997	1,114,774	4,335,771	4,165,097	1,526,350	5,691,447	+1,355,676
ईसाई	3,866,660	2,430,103	6,296,763	3,471,430	2,834,119	6,316,119	+19,786
पारसी	96,549	13,203	109,752	101,968	12,922	114,890	+5,138

भाग II

आर्थिक समस्याएं

5

भारत में छोटी जोतों की समस्या और उसका निवारण

प्रकाशित : जर्नल ऑफ द इंडियन इकोनोमिक सोसायटी

खंड 1, 1918

1

कृषि का महत्व

जीवन-निर्वाह के आर्थिक तरीकों का अध्ययन सदा ही महत्वपूर्ण होता है। ये तरीके या तो उद्योगों का रूप ले लेते हैं या सेवाओं का। हम यहां पर केवल उद्योगों पर ध्यान दे रहे हैं। इन्हें मुख्य और पूरक, दो भागों में बांटा जा सकता है। मुख्य उद्योग पृथ्वी, धरती और जल से उपयोगी सामग्री उपार्जित करते हैं, जैसे शिकार आदि, मछली पकड़ना, पशु-पालन, लकड़ी काटना और खनन। ये मुख्य या निष्कर्षणीय उद्योग दो प्रकार से बुनियादी होते हैंः (1) ये प्रकृति से उपयोगी सामग्री प्राप्त करते हैं, जो मनुष्य के निर्वाह की मूल स्रोत बन जाती है, और (2) वे पूरक या निर्माण उद्योगों के लिए कच्चा माल प्रदान करते हैं, क्योंकि औद्योगिक निर्माण, डा. फ्रेंकलिन के शब्दों में, 'पदार्थ का केवल रूप ही परिवर्तित होता है।' राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी, मुख्य उद्योगों का महत्व असंदिग्ध है। मुख्य उद्योग महत्वपूर्ण तो हैं ही, परंतु इन सबमें कृषि अधिक महत्वपूर्ण है। यह सबसे प्राचीन उद्योग है और अन्य सभी उद्योग, चाहे मुख्य हों या गौण, इस पर आधारित हैं। क्योंकि यह उद्योग अनाज के उत्पादन से संबंधित है, इसलिए इसकी समस्याओं पर हमें सबसे अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। परंतु भारत जैसे देश में, जो पूरी तरह कृषि पर निर्भर करता है, वहां तो इसके महत्व पर अधिक जोर देने की आवश्यकता ही नहीं है। कृषि उत्पादन से संबंधित कृषि अर्थव्यवस्था की समस्याएं होती हैं—क्या पैदा किया जाए, उत्पादन कारकों का उचित अनुपात, जोतों का आकार, भूमि की पट्टेदारी, आदि। इस लेख में केवल जोतों के आकार की समस्या पर विचार किया गया है, क्योंकि इसका कृषि की उत्पादकता पर प्रभाव पड़ता है।

2

भारत में छोटी जोतें

यह कहा जा सकता है कि कुछ देशों में जोतें मुख्यतः छोटे आकार की होती हैं, जब कि अन्य देशों बड़े आकार की। एड्म स्मिथ के अनुसार, मुख्यतया जब सैनिक जीवन की अनिर्वायता के कारण ज्येष्ठ पुत्र को अधिकार प्रदत्त करने का नियम अपनाया गया तो बड़ी जोतों की रचना और संरक्षण शुरू हुआ। जब राष्ट्र में अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण स्थिति के कारण समान उप-विभाजन किया जाता है तो उससे छोटी जोतें अस्तित्व में आती हैं। एडम स्मिथ ने कहा है :

> जब भूमि को अन्य चल—वस्तुओं की भांति निर्वाह और खुशी मनाने का साधन मात्र माना जाता है, तब उत्तराधिकार का स्वाभाविक कानून इसे परिवार के सब बच्चों

में बांट देता है, क्योंकि पिता परिवार के सभी प्रिय बच्चों को निर्वाह और उपभोग की एक जैसी सुविधाएं देना चाहता है (अतः इस तरह जोतें छोटी होती जाती हैं)। परंतु जब भूमि को केवल निर्वाहक के अतिरिक्त सत्ता और संरक्षण का भी साधन माना जाता है, तब यह बेहतर समझा जाता है कि भूमि अविभाजित रूप में केवल एक के ही पास जाए। उन अव्यवस्था भरे दिनों में भूमि के उप-विभाजन का मतलब उसे विनष्ट करने के समान था, जिसके हर भाग को पड़ोसी हड़प जाते हैं। इसलिए भू-संपत्तियों के उत्तराधिकार के बारे में ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का कानून बना (अतः इस तरह बड़ी जोतें हो जाती हैं)।[1]

इसीलिए इंग्लैंड बड़ी जोतों वाला देश है। क्रांति के बाद वाला फ्रांस छोटी जोतों वाला देश है। यहीं स्थिति हालैंड और डेनमार्क में है। जहां तक भारत की स्थिति है, 1896-97 और 1900-01 में जोतों का आकार इस प्रकार था :

जोतों का आकार (एकड़ में)

वर्ष	आसाम	बंबई	मध्य प्रांत	मद्रास
1896-97	3.37	24.07	17	7
1900-01	3.02	23.9	48	7

हाल के वर्षों का अधिक सही, यद्यपि अधिक सीमित क्षेत्र की जानकारी बड़ौदा राज्य के बारे में उपलब्ध है। राज्य में जोतों के आकार के आंकड़े बीघों में संक्षिप्तत : नीचे दी गई सारणी में दिए गए हैं[3] :

जिले का नाम	कुल कृषि भूमि	सर्वे नं. जिससे वह विभाजित की गई	खातेदारों की संख्या	खातेदार के अंतर्गत औसत	प्रत्येक सर्वे नं. के अंतर्गत औसत क्षेत्र
बड़ौदा	17,17,319	4,30,601	107,369	15-19-2	4
कडी	25,13,982	5,89,687	141,145	17-16-5	4¼
नवसारी	10,46,176	2,16,748	52,652	19-17-8	4
अमरेली	9,72,040	55,635	17,214	36-9-7	3¼
योग	82,49,517	12,92,671	318,649	17-10-10	3 7è8

(8 बीघे = 5 एकड़)

1. वेल्थ ऑफ नेशन्स, बुक 3, अध्याय 11
2. बड़ौदा राज्य में छोटी और बिखरी हुई जोतों की चकबंदी के लिए नियुक्त बड़ौदा कमेटी की रिपोर्ट, 1917
3. वही, पृष्ठ 3

एक और जांच-पड़ताल डॉ. एच. एस. मान और उनके सहयोगियों द्वारा पूना के निकट पिम्पपाला सौदागर नामक गांव में की गई थी, जिससे खासकर छोटी जोतों की सही स्थिति का पता चलता है। उस गांव की इन जोतों के आकार नीचे दी गई सारणी में दिए गए हैं[4] :

	प्रत्येक आकार की जोतों की संख्या		प्रत्येक आकार की जोतों की संख्या
20 एकड़ से अधिक	1	10 से 20 एकड़	7
5 से 10 एकड़	21	3 से 5 एकड़	25
2 से 3 एकड़	67	1 से 2 एकड़	164
30 से 40 गुंठा	75	20 से 30 गुंठा	136
15 से 20 गुंठा	71	10 से 15 गुंठा	57
5 से 10 गुंठा	59	5 से कम	25

(40 गुंठा = 1 एकड़)

टिप्पणी - इस सारणी में बहुलक जोत आकार एक और दो एकड़ के बीच है। बहुलक उस सांख्यिकीय औसत को कहते हैं जिसमें आवृत्ति की संख्या सर्वाधिक होती है।

इन सारणियों से आसानी से पता चलता है कि जोत का औसत आकार बंबई प्रेसिडेंसी में 25.9 एकड़ है, तो पिम्पाला सौदागर में यह एक और दो एकड़ के बीच है।

कहा जाता है कि जोतों का अत्यधिक छोटा आकार भारतीय कृषि के लिए बहुत हानिकारक है। निस्संदेह छोटी जोतों में बहुत-सी बुराइयां होती हैं। पर यदि वे छोटी जोतें संयत हों तो इनकी बहुत-सी बुराइयां कम हो जाएं। परंतु दुर्भाग्यवश ऐसा है नहीं। यद्यपि लगान की दृष्टि से भूमि के सभी टुकड़ों को किसान की एक ही जोत माना जाता है, परंतु काश्तकारी की दृष्टि से वे कई अलग-अलग छोटे-छोटे जमीन के टुकड़े होते हैं, जिनके बीच में अन्य लोगों की जमीन के टुकड़े आते हैं। जोत कितने टुकड़ों में बिखरी हुई होती है, यह केवल कागज पर नक्शा बनाकर दिखाया जा सकता है। पर चूंकि हम नक्शा नहीं दे सकते, इसलिए हमें इसी जानकारी से संतोष करना पड़ेगा कि एक जोत में भूमि के कितने टुकड़े हैं। हर जोत में जमीन के टुकड़ों की संख्या से पता चलेगा कि वह कितनी ज्यादा विखंडित है। प्रश्न के इस पहलू पर प्रभाव डालने के लिए हमारे पास भारत के आंकड़े नहीं हैं। परंतु मानीय जी. एफ. कीटिंग ने 1916 में सरकार को दिए गए अपने एक नोट[5] में बंबई प्रेसिडेंसी के सभी जिलों के कुछ मामलों के बारे में आंकड़े एकत्र किए थे। ये आंकड़े सुबोधता की दृष्टि से आगे सारणी में दिए गए हैं :

4. लैंड एंड लेबर इन ए डेक्कन विलेज, 1927, पृष्ठ 48

5. लेखक इस महत्वपूर्ण नोट के लिए आभारी है।

मामला-2 गांव : शिरगांव ता. : रत्नागिरी जि. : रत्नागिरी		मामला-5 गांव : बदलापुर ता. : कल्याण जि. : थाना		मामला-6 गांव : कारा ता. : मवाल जि. : पूना		मामला-7 गांव : अल्थान ता. : घोरसी जि. : सूरत		मामला-9 जि. : सूरत		मामला-10 जिला : खेड़ा		मामला-12 गांव : लहसुर्नां ता. : कोरेगांव जि. : सतारा	
जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या	जोत का क्षेत्रफल	अलग टुकड़ों की संख्या
ए. गु.		ए. गु.		ए. गु.		ए. गु.		ए. गु.		ए. गु.		ए. गु.	
1	2	3	4	5 6	7	8 9	10	11 12	13	14			
- 34 ½	3	48 6	53	60 0	27	- -	9	1 0	14	62 13	27	38	6
- 33	2	67 0	38	2 27	8	85 0	8	13 0	18	65 34	23	23	7
- 20	3	1 9	6	2 31	5	26 9	8	22 0	20	36 16	16	36	3
1 14	5	6 30	8	16 6	7	- -	-	3 6	4	7 9	5	22	10
1 30	5	24 0	17	2 35	6	- -	-	5 0	7	5 26	5	-	-
1 10¾	4	- -	-	- -	-	- -	-	1 26	9	13 16	6	-	-
6 33	9	- -	-	- -	-	- -	-	0 26	9	28 4	15	-	-
3 29¾	7	- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	12 10	8	-	-
2 20 ½	2	- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	12 7	3	-	-
- 35¾	3	- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	5 26	5	-	-
- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	5 34	5	-	-
- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	- -	-	3 39	3	-	-

(ए = एकड़, गु = गुंठा, ता = तालुका, जि = जिला)

जोतों का छोटा और बिखरा हुआ होना हमारे इस महान राष्ट्रीय उद्योग के लिए गहन चिन्ता का एक वास्तविक कारण बन गया है। अन्य देशों के आंकड़ों से तुलना करने पर भारत के आर्थिक जीवन के बहुत उल्लेखनीय, परंतु घोर चिन्ताजनक दो और तथ्य भी हमारे सामने आते हैं : (1) भारत मुख्यतः एक कृषि प्रधान देश है*, और (2) इसकी कृषि उत्पादकता विश्व में सबसे कम है ।

*(1) विभिन्न देशों के धंधे संबंधी आंकड़े

	इंग्लैंड और वेल्स	आयरलैंड	आस्ट्रिया	बैल्जियम	बुल्गारिया	डेनमार्क	फ्रांस	जर्मनी	हालैंड	हंगरी	इटली	रूस	स्विटजरलैंड	भारत	स. रा. अमरीका
कृषि पर निर्भर जनता का प्रतिशत	15.3	44.7	60.9	20.7	82.6	48.2	42.7	35.2	30.7	69.7	59.4	58.3	30.9	71.5	33.3

(2) प्रति एकड़ उत्पादन (पौंड में)

												भारत के विभिन्न प्रांत				
	यूनाइटेड किंगडम	कनाडा	न्यूजीलैंड	आस्ट्रिया	मिस्र	फ्रांस	जर्मनी	हंगरी	जापान	स.रा. अमरीका	तुर्की	संयुक्त प्रांत	उ.प. सी. प्रा.	पंजाब	बंबई	अपर बर्मा
गेहूं	1973	1054	1723	1150	1634	1172	1796	1056	1176	-	1318	850	555	555	510	322
मक्का	-	3487	3191	1135	2059	1097	-	1489	1525	-	1372	1100	735	766	-	-

ये दोनों तथ्य कटु हैं और जो लोग इस न्यून उत्पादकता के कारणों की जांच कर रहे हैं, वे भौचके रह गए हैं। इसलिए अब जोतों के अत्यधिक विखंड और बिखरे होने पर लोगों का ध्यान तेजी से गया है। अब बड़े अधिकारपूर्वक यह तर्क दिया जाने लगा है कि जोतों का आकार बड़ा कर दिया जाए और चकबंदी कर दी जाए। इसी के साथ कृषि उत्पादकता बढ़ जाएगी।

3

चकबंदी

जहां जोतों की चकबंदी एक व्यावहारिक समस्या है, वहां उनका आकार बड़ा करना एक सैद्धांतिक समस्या है, जिसमें आपको उस सिद्धांत पर विचार करना पड़ेगा, जिस पर जोतों का आकार निर्भर करता है। जोतों का आकार बड़ा करने के सैद्धांतिक प्रश्न पर विचार को स्थगित करने पर हम देखते हैं कि चकबंदी की समस्या के कारण दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं- (1) वर्तमान छोटी-छोटी और बिखरी हुई जोतों को कैसे स्वीकृत किया जाए, और (2) एक बार चकबंदी हो जाने के बाद उनका वही आकार कैसे बरकरार रखा जाए। आइए, हम इन प्रश्नों पर बारी-बारी से विचार करें। भूमि के उप-विभाजन के कारण वह होना जरूरी नहीं, जिसे हम भूमि का विखंडन कहते हैं। परंतु दुर्भाग्वश होता ऐसा ही है, क्योंकि मृत व्यक्ति का हर वारिस कहता है कि बंटवारा इस तरह किया जाए कि मृत व्यक्ति की कुल भूमि के हर सर्वे नंबर में से उसे हिस्सा मिले। वे ऐसा बंटवारा नहीं करते कि हर व्यक्ति को यथासंभव अलग-अलग पूरे सर्वे नंबर मिल जाएं। दूसरे शब्दों में, सर्वे नंबर के हिसाब से जमीन चाहने की जगह वे हर सर्वे नंबर में से हिस्सा चाहते हैं, जिसके कारण भूमि का विखंडन हो जाता है। यद्यपि इस तरह विखंडन से हर व्यक्ति के लिए बंटवारा तो न्यायोचित हो जाता है, पर उसके कारण भारत में कृषि उतनी ही कम लाभप्रद हो जाती है, जैसी किसी समय में यूरोप में थी। इससे श्रम और पशु-शक्ति की बरबादी होती है, बाड़े लगाने और सीमा बांधने में भूमि बरबाद होती है और खाद की बरबादी होती है। इससे फसलों की देखभाल करना, कुएं खोदना और श्रम की बचत करने वाले औजारों का उपयोग करना व्यावहारिक नहीं रहता। काश्तकारी में परिवर्तन लाना, सड़कें बनाना, सिंचाई की नालियां बनाना, आदि कठिन हो जाता है और उत्पादन की लागत बढ़ जाती है। भूमि के विखंडन की ये हानियां इसलिए निभाई जाती हैं कि भूमि के टुकड़ों की चकबंदी की उनकी बात को समर्थन मिल सके। इस चकबंदी के कई तरीके होते हैं, यद्यपि सभी एक जैसे लाभकारी नहीं होते। इस बात की संभावना नहीं है कि लोग स्वेच्छा से अपने जमीन के विखंडित टुकड़ों को एक करने पर सहमत हो जाएंगे। परंतु कब्जे के अधिकारों (आक्यूपेंसी राइटस) की सीमित बिक्री से काफी कुछ प्राप्त किए जाने की संभावना है। इसके अंतर्गत जब कोई मालिक अपनी जमीन छोड़ता है या अपने हिस्से का कर न

चुकाने की दशा में बेदखल की गई जमीन के सर्वे नंबरों की नीलामी की जाती है, तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को कब्जे के अधिकारों की नीलामी में बोली देने का अधिकार होना चाहिए, जिनकी जमीनें उसके साथ लगी हों। भूमि के टुकड़ों को एकत्र करने में सहायक एक तरीका यह है कि यदि कोई आदमी अपनी जमीन बेचना चाहता है, तो पूर्व क्रय का अधिकार उसके पड़ोसी किसानों को दिया जाना चाहिए। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन उपायों से मिली सफलता बहुत कम मात्रा में होगी। विखंडन की बुराइयां बहुत अधिक हैं। अतः चकबंदी की एक विशद योजना बनानी पड़ेगी। इसलिए बड़ौदा कमेटी रिपोर्ट में इस बात की वकालत की गई है कि यदि गांव के दो-तिहाई खातेदार, जिनके पास गांव की आधी से अधिक भूमि हो, दरख्वास्त कर दें तो सरकार को अनिवार्य तौर पर उस गांव में चकबंदी का काम शुरू कर देना चाहिए। यह चकबंदी दो सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिए : (1) आर्थिक लाभकारी इकाई, और (2) मूल स्वामित्व। बड़ौदा कमेटी ने इन दो सिद्धांतों की विशेषताएं इन शब्दों में व्यक्त की हैं[6] :

> सबसे पहले हर जोत का मूल्य आकंका जाता है। फिर उनकी मूल सीमाएं मिटा दी जाती हैं, सड़कों के लिए निशानदेही की जाती है और सार्वजनिक उपयोग के लिए भूमि अलग कर दी जाती है तथा शेष भूमि के नए खंड या प्लाट बनाए जाते हैं। हर नए प्लाट का आकार इतना होना चाहिए कि जमीन, जुताई, आदि की स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए लाभकारी सिद्ध हो, अर्थात वह इतना बड़ा हो कि एक परिवार को उस पर वर्ष–भर काम मिलता रहे और पैदावार से वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके। ये नए प्लाट फिर नीलामी द्वारा पुराने भूमि मालिकों को बे्चे जाएं और खरीद कर कुछ बंदिशें हों, जिससे काश्तकार बड़ी संख्या में बेदखल न हो जाएं। खरीद से मिले धन को जमीन के टुकड़ों के मूल मालिकों में एक निश्चित अनुपात में बांट दिया जाए। उसका एक भाग खर्चों के लिए अलग रख दिया जाए, जिसमें सरकार भी अपनी ओर से कुछ योगदान देगी। एक और ढंग यह है कि गांव की सारी भूमि का अधिग्रहण कर लिया जाए और फिर नए प्लाट बनाकर उन्हें नीलामी द्वारा बेचा जाए, जैसे कि नगर विकास ट्रस्ट या सरकार नई सड़कें डालते समय या शहरों का विस्तार करते समय करते हैं। परंतु कृषि भूमि का सुधार करते समय हम इसे अपनाने की सिफारिश नहीं करेंगे, क्योंकि इससे भूमि में सट्टेबाजी को बढ़ावा मिलेगा और छोटी जोतों के मालिक इतनी बड़ी संख्या में बेदखल हो जाएंगे कि उन्हें बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ेगा।
>
> दूसरे तरीके के अनुसार, जब चकबंदी करने का फैसला कर लिया जाए तो सभी खातेदारों और उनकी जोतों की सूची बना ली जाए और पंच लोग बाजार भाव के आधार पर जोतों का मूल्य लगा लें। फिर भूमि का पुनर्वितरण कर दिया जाए और हर

6. बड़ौदा कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ 35

खातेदार को उसकी मूल जोतों के अनुपात में यथासंभव उसी मूल्य का एक प्लाट दे दिया जाए। इस तरीके में किसी भी खातेदार को भूमि से वंचित नहीं किया जाता। हर किसी को जमीन मिल जाती है और उसे अपनी छोटी-छोटी बिखरी हुई जोतों की जगह उनके कुल क्षेत्रफल के लगभग बराबर एक प्लाट मिल जाता है। केवल बहुत थोड़े से ही लोग ऐसे हो सकते हैं, जिनकी जोतें इतनी छोटी हों कि उन्हें किसान बनाए रखना उचित नहीं होगा और उन्हें अपनी भूमि खो देनी पड़े। परंतु इस तरह उन्हें भी फायदा होगा, क्योंकि उन्हें भी अपनी थोड़ी-सी भूमि के पूरे पैसे मिल जाएंगे।

बड़ौदा कमेटी ने दूसरे तरीकों को पसंद किया है, क्योंकि :

यह उस सिद्धांत पर आधारित है कि किसी को भी सिवाय उन थोड़े से लोगों के जिनकी जमीन बहुत ही कम थी, जमीन से वंचित नहीं किया जाता। इस तरह छोटे से आदमी को भी अपनी दशा सुधारने का मौका मिलेगा। भूमि के हर मालिक को भूमि का एक नया सुसंयत प्लाट मिल जाएगा, जिसका मूल्य उसकी छोटी-छोटी और बिखरी हुई जोतों के अनुपात में होगा। इस तरह पिछले उप-विभाजन और उनसे जुड़ी हुई बुराइयां खत्म हो जाएंगी।[7]

चकबंदी के बारे में प्रो. एच.एस. जेवन्स का कथन है :

गांवों के पुनर्गठन के तरीके का चुनाव हमें जिन सिद्धांतों के आधार पर करना चाहिए, वे नीचे वर्णित हैं। पहली बात तो यह है कि जहां तक हो सके अनिर्वायता से बचना चाहिए और यह सिद्धांत अपनाना चाहिए कि जब तक किसी क्षेत्र के आधे से अधिक क्षेत्रफल के मालिक परिवर्तन की मांग न करें, वहां कोई परिवर्तन थोपा न जाए। जब किसी क्षेत्र में यह शर्त पूरी हो जाए, तब यह होगा कि सरकारी देखभाल में चकबंदी स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए। दूसरे, इस काम पर होने वाला व्यय यथासंभव कम से कम रखा जाए। तीसरे, विभिन्न स्थानों में पहले कुछ वर्षों में पुनर्गठन के काम में पर्याप्त लचीलापन रखा जाए। चूंकि यह उपक्रम प्रायोगिक चरण में होगा, इसलिए अलग-अलग उपाय अपना कर देखे जा सकते हैं और उनमें से जो सर्वोत्तम लगे, उसे अंततोगत्वा स्थायी नियम बनाने के लिए चुना जा सकता। चौथे, हो सकता है कि पुनर्गठित गांवों में वर्तमान काश्तकारी कानून में पर्याप्त परिवर्तन करने की जरूरत अनुभव की जाने लगे। बात पूरी करने के लिए मैं पांचवे सिद्धांत को भी जोड़ना चाहूंगा कि भूमि का पुनर्वितरण यथासंभव अधिकतम न्यायोचित आधार पर किया जाए और जिन्हें किन्हीं कारणों से जमीन की पिछली मिल्कियत न दी जा सके, उन्हें उदारपूर्वक मुआवाजा दिया जाए।[8]

---

7. बड़ौदा कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ 35

8. द कंसोलिडेशन आफ एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स इन द यूनाइटेड प्रोविन्सेज, 1918, पृष्ठ 45-46, लेखक का प्रो. जेवन्स को आभार।

जोतों की अनिवार्य चकबंदी के बारे में प्रो. जेवन्स और बड़ौदा कमेटी, का प्रस्ताव यह है कि कमिश्नर या आयुक्त नियुक्त किए जाएं, जो चकबंदी की दरख्वास्तें सुनें और उन पर अमल करवाएं। यदि किसी को कोई आपत्ति हो और उसे लगे कि उससे अन्याय हुआ है, तो उसे अदालत में याचिका दायर करने और स्टे या निषेधाज्ञा लेने का अधिकार होना चाहिए।

जोतों की यह चकबंदियां बाद में भी बनी रहें, यह काम बाद में विधायिका को करना चाहिए। बहुत से लोग बिना कोई प्रश्न किए यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के उत्तराधिकार के कानून ऐसे हैं, जो भूमि के उप–विभाजन के लिए जिम्मेदार होते हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान के लिए मृत्यु के बाद उसके वारिसों को यह अधिकार होता है कि बिना किसी

3कावट या कठिनाई के वे मृतक की संपत्ति में समान हिस्सा प्राप्त कर सकते हैं। अब यदि नई चकबंदी वाली जोत पर भी विरासत का यही कानून लागू होता रहा, तो वह जोत अपने नए आकार में लंबे समय तक नहीं बनी रहेगी। यदि चकबंदी के बाद भी विरासत का यह कानून बना रहा तो चकबंदी बहुत देर तक टिकेगी नहीं।

पर उत्तराधिकार का वर्तमान कानून कैसे बदला जाए? यदि समान उप-विभाजन का कानून न रहे तो उसकी जगह ज्येष्ठाधिकार का कानून अपनाया जाए।[9] बड़ौदा कमेटी का विचार है :

> यह आवश्यक नहीं है कि इसे लागू किया जाए। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि एक निश्चित सीमा के बाद भूमि का उप-विभाजन न होने दिया जाए और अच्छी कृषि के लिए यह सीमा तक की जा सकती है। जोत का उप-विभाजन करने पर तब तक कोई आपत्ति नहीं होगी, जब तक वह उप-विभाजन के लिए निर्धारित न्यूनतम सीमा से कम नहीं जाए। परंतु जब उप-विभाजन के फलस्वरूप वह अलाभकारी होने की सीमा तक पहुंच जाती है, तो परिवार के अन्य सदस्यों को उसका और ज्यादा उप-विभाजन करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। और ज्यादा उप-विभाजन करने की जगह या तो परिवार के सभी सदस्य मिल-जुलकर उस पर खेती करें, या वह पूरी की पूरी जोत परिवार के किसी एक सदस्य को दे दी जाए और वह सदस्य बाकी सदस्यों को मुआवजे के रूप में उनके हिस्से का मूल्य चुका दे।[10]

---

9. उत्तराधिकार की इन दो प्रणालियों के अतिरिक्त एक तीसरी प्रणाली भी है, जिसमें पिता को यह स्वतंत्रता रहती है कि वह अपनी परिसंपत्ति के एक भाग के साथ जो चाहे कर सकता है, बशर्ते कि वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए पर्याप्त छोड़ जाए। इसके अंतर्गत जर्मनी के एक अनुपात (परिमिसिव) कानून बनाया है, जो उत्तराधिकार के फलस्वरूप होने वाली उप-विभाजन की बुराइयों को दूर करना चाहता है। इसके कुछ पहलू ऐसे है, जिनमें बड़ौदा कमेटी के प्रस्तावों का पूर्वानुमान झलकता है और शेष ऐसे हैं, जिनमें माननीय श्री कीटिंग के प्रस्ताव नजर आते हैं। विवरण हेतु देखें, प्रो. एन. जी. पियरसंस द्वारा लिखित प्रिंसिपल आफ इकोनोमिक्स, खंड 2, पृष्ठ 286-90

10. बड़ौदा कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ 26

अचल संपत्तियों का उत्तराधिकारियों में न बांटने का सिद्धांत यह है कि यदि विभाजन का परिणाम बहुत ही छोटे-छोटे हिस्सों में निकले तो उसे हिस्सेदारों में सबसे ऊंची बोली देने वाले हिस्सेदार को दिया जा सकता है। पर यदि उनमें से कोई बोली देने को तैयार न हो तो बाहर वालों को बोली लगाने दी जाए और इस तरह जो धन मिले, उसे सभी हिस्सेदारों में उचित अनुपात में बांट दिया जाए। इसी सिद्धांत को भारतीय बंटवारा अधिनियम, 1893 की सं. 4, धारा 2 में स्वीकार कर लिया गया है, जिसमें कहा गया हैः

> जब कभी बंटवारे के किसी मामले में, जिसमें यदि वह इस अधिनियम के लागू होने से पहले दायर किया गया हो, बंटवारे की डिक्री पास कर दी गई थी, अदालत को यह लगता है कि संपत्ति की प्रवृत्ति ऐसी है या उसके हिस्सेदारों की संख्या ऐसी है या कोई ऐसी विशेष परिस्थितियां हैं कि बंटवारा उचित ढंग से या सुविधापूर्वक नहीं किया जा सकता और यह कि संपत्ति की बिक्री करके सभी हिस्सेदारों को धन के वितरण से अधिक लाभ होगा, जो अदालत यदि चाहे तो किसी भी हिस्सेदार के निजी या सामूहिक अनुरोध पर संपत्ति की बिक्री का और प्राप्त धन के वितरण का निर्देश दे सकती है।

यदि उत्तराधिकार के कानून में इस तरह के परिवर्तन लाना उचित हो तो इसके लिए केवल सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधन की आवश्यकता होगी और अदालतों के लिए यह लाजिमी हो जाएगा कि ऐसी स्थिति में बंटवारे की अनुमति न दें, जब वह पूर्व-निर्धारित आर्थिक सीमाओं से खेत का आकार कम कर दें।

इस समस्या के हल का एक और तरीका बंबई प्रेसिडेंसी के कृषि निदेशक माननीय श्री जी. एफ. कीटिंग ने सुझाया है। अपने प्रारूप विधेयक में नत्थी वक्तव्य के उद्देश्यों और कारणों में उन्होंने कहा है :

4. इस विधेयक का उद्देश्य ऐसे भूमि-मालिकों को, जो अपनी भूमि का और अधिक उप-विभाजन रोकना चाहते हैं, इस योग्य बनाना है कि वह यदि अन्यथा संभव हो तो अपनी जोतों की स्थायी चकबंदी कर सकें और कार्यकारी सरकार को भी इस योग्य बनाना है कि वह गैर-अधिकृत भूमि के संबंध में भी ऐसे ही कदम उठा सकें। इस कानून का उद्देश्य केवल इस योग्य बनाना है और किसी जोत के बारे में यह अमल में तभी आएगा, जब उस जोत में रुचि रखने वाला व्यक्ति स्पष्ट रूप में ऐसी इच्छा व्यक्त करे।

5. इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इस विधेयक में जिस स्कीम की व्यवस्था है, वह संक्षेप में इस प्रकार है : भूमि का एक टुकड़ा लाभकारी इकाई बन सके, इसके लिए नियमों द्वार निर्धारित रजिस्टर में उसकी प्रविष्टि करानी होगी। यदि इस भूमि पर कब्जा किया जाता है, तो उस भूमि में मालिकाना हक रखने वाले व्यक्ति कलेक्टर को एक दरख्वास्त दे सकते हैं कि भूमि को लाभकारी जोत के रूप में रजिस्टर किया जा सकता है। जब कलेक्टर यह न समझे कि दरख्वास्त को रद्द करने के पर्याप्त कारण हैं, तो वह उसकी सावधानीपूर्वक जांच करता है और उसके लिए भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 की प्रक्रिया अपनाता है। यदि कार्यवाही से पता चलता है कि मालिकाना हित रखने वाले

सभी व्यक्ति सहमत हैं, तो भूमि की रजिस्ट्री कर ली जाती है। जो भूमि पूरी तरह सरकार के अधिकार में है, उसकी रजिस्ट्री बिना जांच के हो सकती है। किसी भी दशा में जोत की रजिस्ट्री केवल एक नाम से ही होगी और रजिस्ट्री की इस कार्रवाई के बाद रजिस्टर्ड मालिक के अतिरिक्त और सभी लोगों का हिस्सा भूमि में समाप्त हो जाता है। इसके बाद मालिक उस प्लाट का बंटवारा नहीं कर सकता और जब तक वह इसका मालिक बना रहता है, उसे समसूचा प्लाट अपने पास रखना पड़ेगा। वह केवल समूचे प्लाट को बेच सकता है, उसे गिरवरी रख सकता है या उसका निपआरा कर सकता है, परंतु उसके किसी अंश का निपटारा नहीं कर सकता, न ही कोई ऐसा काम कर सकता है, जिससे जोत का बंटवारा हो। जोत के मालिक की मृत्यु के बाद, यदि उसने उसके बंटवारे में कोई वसीयत नहीं छोड़ी तो वह केवल एक ही उत्तराधिकारी की ही मिलेगी। यदि इस विधेयक के उपबंधों का उल्लंघन होता है (उदाहरण के लिए यदि मालिक जोत का एक भाग गिरवी रख दे अथवा बंधनकर्ता उसे रखने के लिए डिक्री हासिल कर लेता है) तो कलेक्टर को यह अधिकार है कि वह अदालत में एक प्रमाण-पत्र भेजे और अदालत डिक्री या आदेश को रद्द कर देगी। जिस व्यक्ति ने गलत कब्जा किया हुआ है, कलेक्टर उसे भी बेदखल कर सकता है। जब एक प्लाट को लाभकारी जोत बना दिया जाता है, तो बिना कलेक्टर की सहमति के उसके रजिस्ट्रेशन को रद्द नहीं किया जा सकता। जिन कारणों के आधार पर रजिस्ट्रेशन को रद्द किया जा सकता है, वे नियमों में वर्णित होंगे और ऐसा प्रस्ताव है कि वह तभी रद्द किया जाएगा, जब आर्थिक कारणों से ऐसा करना जरूरी हो।

चकबंदी के इन दो प्रश्नों पर हुए विचार-विमर्श को संक्षेप में बताते हुए कहा जा सकता है कि इसके समर्थकों ने समस्या पर कभी समूचे रूप में विचार नहीं किया। केवल बड़ौदा कमेटी ने इस बात की चेष्टा की है कि चकबंदी भी की जाए और उस चकबंदी को बरकरार भी रखा जाए। प्रो. जेवन्स ने चकबंदी के परिणामों को संरक्षित रखने पर कोई ध्यान नहीं दिया। श्री कीटिंग ने चकबंदी के प्रश्न की चर्चा ही नहीं की। उन्होंने केवल इस बात पर ध्यान दिया है कि भूमि के और अधिक विखंडन की रोकथाम की जाए। पर जोत की लाभकारी जोत के रूप में प्रविष्टि होने के बाद भी उसका विखंडन हो सकता है। उनके उपायों से तो जोतें उसी रूप में बनी रहेंगी, जैसे वे रजिस्ट्री के समय थीं, अर्थात् वह उनका आकार कम नहीं होने देंगी। पर साथ ही वे छोटी-छोटी और बिखरी हुई रहेंगी। अपने कानून के बावजूद श्री कीटिंग स्थिति को उसी रूप में रहने देना चाहते हैं, जिस रूप में वह विद्यमान है। वास्तविक चकबंदी का लक्ष्य तो प्रो. जेवन्स और बड़ौदा कमेटी ने अपने सामने रखा है। इसके लिए वे जिन सिद्धांतों की चर्चा करते हैं, वे करीब-करीब एक से हैं। इसी तरह उन्हें लागू करने की प्रक्रियाएं भी एक जैसी हैं।

चकबंदी की गई जोतों के संरक्षण के लिए श्री कीटिंग भी और बड़ौदा कमेटी भी

उत्तराधिकार के लिए एक व्यक्ति का नियम बनाते हैं। बड़ौदा कमेटी इस नियम को तभी अपनाना चाहेगी, जब जमीन के बंटवारे से जोतें अलाभकारी बनें और फिर वह उत्तराधिकारी को इस बात के लिए विवश करें कि वह बेदखल किए गए उत्तराधिकारियों के दावों को भी खरीद ले। श्री कीटिंग बेदखल किए गए उत्तराधिकारियों को कोई मुआवजा नहीं देना चाहते।

चकबंदी की इन योजनाओं के बारे में एक गंभीर आपत्ति यह है कि उन्होंने इस बात का महत्व नहीं समझा कि चकबंदी की गई भूमि का टुकड़ा बड़े आकार का भी होना चाहिए। यदि यह कहा जाता है कि भारत में कृषि छोटी-छोटी और बिखरी हुई जोतों के अभिशाप से ग्रसत है, तो न केवल यह जरूरी है कि उनकी चकबंदी की जाए, बल्कि यह भी जरूरी है कि उनका आकार बड़ा किया जाए। यह बात हमेशा दिमाग में रखनी चाहिए कि चकबंदी से भूमि के बिखरे होने की बुराइयां तो दूर हो जाएंगी, परंतु यह छोटी जोतों की बुराई दूर नहीं कर सकती, जब तक कि जोत आर्थिक दृष्टि से लाभकारी, अर्थात बड़े आकार की न हो। बड़ौदा कमेटी और श्री कीटिंग समस्या के इस पहलू को पूरी तरह अनदेखा कर गए। केवल प्रो. जेवन्स ने ही इस बात को बराबर ध्यान में रखा कि चकबंदी के साथ-साथ जोतों का आकार भी बड़ा किया जाना चाहिए।

4

जोतों का आकार बड़ा करना

यह मानकर चला जा सकता है कि जोतों का आकार बड़ा करना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना उनकी चकबंदी। इसलिए अब हम उसके आधार के नियमन पर विचार करेंगे। हमारी कृषि में रुचि रखने वाले सभी लोगों की यह इच्छा है कि हमारी जोतें आर्थिक दृष्टि से लाभकारी हों। जिन लोगों ने हमें यह परिशुद्ध और वैज्ञानिक शब्दावली प्रदान की है, यदि वे यह भी बता देते कि लाभकारी जोत की परिभाषा क्या है, तो हम उनके अधिक कृतज्ञ होते। दूसरी ओर यह विश्वास किया जाता है कि बड़े आकार की जोत लाभकारी जोत होती है। यह कहा जा सकता है कि प्रो. जेवन्स भी इसी धारणा के शिकार हो गए हैं, क्योंकि जब वह जोत के आकार की बात करते हैं, तो वह प्रायः हठधर्मी के रूप में कहते हैं कि गांव में बहुलक औसत 29 और 30 एकड़ के बीचम में होना चाहिए।[11] परंतु यह औसत 100 या 200 एकड़ क्यों नहीं होना चाहिए। शायद प्रो. जेवन्स इसका यह उत्तर देते कि वह इतने एकड़ की जोत का समर्थन सइलिए करते हैं कि इतनी भूमि से किसान का जीवनस्तर पहले से अधिक ऊंचा हो जाएगा। प्रो. जेवन्स ने अपने पेम्फलेट में भारत में रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करने के तार को पकड़ कर जरूरत से कहीं ज्यादा खींचा है।[12] उनके इस सिद्धांत में जो त्रुटि हैं, उस पर हम बाद में विचार करेंगे।

11. प्रासंगिक उद्धरण, पृष्ठ 38 पर

यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि वह अपने मॉडल फार्म के समर्थन में कोई ठोस आर्थिक कारण नहीं दे पाए।

बड़ौदा कमेटी का हाल तो और भी बुरा है। प्रो. जेवन्स आदर्श लाभकारी जोत की कम से कम एक परिभाषा पर जमे रहते हैं। परंतु बड़ौदा कमेटी की रिपोर्ट में यह दोष है कि उसमें कई परिभाषाएं दी गई हैं। उल्लिखित सारणी में राज्य की जोतों के औसत आकार के बारे में टिप्पणी करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कमेटी चकबंदी तो चाहती थी, किन्तु वह जोत के वर्तमान आकार से संतुष्ट थी, जैसा कि इससे स्पष्ट होता है :

> यदि खातेदार का एक ही सुसंगत खेत उक्त आंकड़ों के आकार का हो तो यह स्थिति आदर्श होगी और उस दिशा में कुछ अधिक करने की जरूरत नहीं रहेगी।[13]

पर कमेटी शायद अन्यमनस्क थी। जिस समस्या की जांच का और जिस पर रिपोर्ट देने का काम कमेटी को सौंपा गया था, उसका गंभीरता से विश्लेषण किए बिना कमेटी ने कह दिया :

> एक आदर्श लाभकारी जोत अच्छी भूमि के एक ही खंड में 30 से 50 बीघे की होगी, जिसमें कम से कम सिंचाई का एक अच्छा कुआं और एक अच्छा घर भी हो।[14]

यदि वर्तमान जोत आदर्श आकार की है तो फिर उसका आकार बड़ा करने की क्या जरूरत है? इस सवाल का कमेटी कोई जवाब नहीं देती। केवल यही नहीं, कमेटी अपनी लाभकारी जोत के आकार की सीमा पर जमी भी नहीं रह पाती। जब वह गांव के बिखरे हुए खेतों को लाभकारी बनाने के लिए उन्हें एकत्र करने की योजना पर विचार करती है, तब वह एक तीसरी आदर्श लाभकारी जोत की बात करती है। इसे प्राप्त करने के लिए वह कहती है :

> इनमें से हर नया प्लाट ऐसे आकार का होना चाहिए कि जो स्थानीय भूमि और काश्तकारी आदि की स्थिति को देखते हुए लाभकारी जोत सिद्ध हो, यानी यह इतनी बड़ी हो, जिसमें एक परिवार पूरी तरह व्यस्त रह सके और अपना पेट पाल सके।[15]

इस तरह बड़ौदा कमेटी बड़े आराम से एक आदर्श लाभकारी जोत के लिए तीन बातें कहती है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कमेटी की रिपोर्ट में उलझे हुए तर्क दिए गए हैं, यद्यपि इसमें विषय के बारे में जानकारी का मूल्याकन भंडार है।

माननीय श्री कीटिंग के अनुसार, एक लाभकारी जोत एक ऐसी जोत है, जो इतनी पैदावार देती है कि एक व्यक्ति खर्चे निकाल कर अपना और अपने परिवार का पेट आराम से पाल सके।[16]

---

12. प्रासंगिक उद्धरण, भूमिका में
13. प्रासंगिक उद्धरण, पृष्ठ 4
14. बड़ौदा कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ 31
15. वही, पृष्ठ 53
16. रूरल इकोनोमी इन द बाम्बे डेक्कन, पृष्ठ 51

हमें आशा है कि आर्थिक जोत की यह परिभाषा बड़ौता कमेटी स्वीकार कर लेगी, क्योंकि यह कमेटी द्वारा की गई तीसरी परिभाषा से मिलती-जुलती है। यदि हम यह मान लें कि सब इस बात पर सहमत हो जाएंगे तो हम यह देखेंगे कि यह परिभाशा कितनी तर्कसंगत या समर्थन योग्य है।

यह बात स्पष्ट है कि प्रो. जेवन्स की परिभाषा सहित ये परिभाषाएं उत्पादन की जगह उपभोग को ध्यान में रखकर दी गई हैं। यही उनकी त्रुटि है, क्योंकि उपभोग वह सही पैमाना नहीं है, जिससे जोत की आर्थिक प्रकृति आंकी जा सके। यह कहना तर्क-विरुद्ध होगा कि एक जोत इसलिए लाभकारी नहीं है कि वह एक परिवार का पेट नहीं पाल सकती, फिर चाहे उनकी पैदावार उस पर किए गए हर निवेश के अनुपात में अधिकतम हो। किसान के परिवार को केवल इस दृष्टि से देखा जा सकता है कि उसके पास कितने लोग काम कर रहे हैं। हो सकता है कि उनके पास काम करने वाले कुछ लोग फालतू (सरप्लस) हों। परंतु सामाजिक दृष्टि से उनका पालन जरूरी होता है, जैसा कि भारत में प्रायः होता है। परंतु यदि सामाजिक रीति-रिवाज किसान को विवश करें कि वह कुछ ऐसे सदस्यों का भी पालन-पोषण करे जो खेती के काम में उसके लिए उपयोगी नही हो सकते, तो इनका दोष हमें जोत पर नहीं डालना चाहिए कि वह किसान के लिए काम करने वालों का और उस पर निर्भर परिवार के सभी सदस्यों का पेट नहीं भर सकती। यदि हम हिसाब-किताब का यह तरीका अपनाएं तो कई उद्यमों को अत्यंत लाभकारी होने पर असफल माना जाएगा। उद्यमी के परिवार और उसके कुल उत्पादन या पैदावार के बीच कोई आर्थिक संबंध नहीं हो सकता। आर्थिक संबंध तो केवल कुल उत्पादन और कुल निवेश के बीच हो सकता है। यदि निवेश के मुकाबले कुल उत्पादन अधिक होता है, तो कोई भी उद्यमी अपना उद्योग इसलिए बंद करने की नहीं सोचेगा कि इससे उसके परिवार के लिए पर्याप्त पैदावार नहीं होगी। यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि उत्पादन उपभोग के लिए होता है, तथापि उन्हीं लोगों के उपभोग को ध्यान में रखा जाता है, तो उत्पादन में सहायता देते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सच्चा आर्थिक संबंध निवेश और कुल उत्पादन के बीच होता है, तो हम केवल ऐसे खेत को आर्थिक दृष्टि से लाभकारी बता सकते हैं, जो उत्पादन की दृष्टि से लाभकारी होता है, न कि उपभोग की दृष्टि से। इसलिए कोई भी परिभाषा जो उपभोग को आधार मानकर बनाई जाती है, वह आर्थिक जोत के बारे में गलत अनुमान लगाती है। वह तो निश्चय ही उद्यम के उत्पादन पर निर्भर करती है। और आगे बढ़ने से पहले हम कुछ प्रारंभिक टिप्पणियां करके कुछ संदेह दूर करना चाहते हैं, ताकि उत्पादन की दृष्टि से आर्थिक जोत को समझने में आसानी हो।

शुरू में ही यह मान लेना चाहिए कि एक प्रतियोगी समाज में सदस्यों के, चाहे वे उपभोक्ता के रूप में हों या उत्पादक के रूप में, सभी सौदों का नियंत्रण बाजार की कीमतों द्वारा होता है। इसके लिए हमें एक कीमत वाली प्रणाली में उत्पादन का अध्ययन करना है। आजकल उद्यमी को उत्पादन की सभी आधुनिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर कैप्टन की तरह काम करना पड़ता है। वह सारी प्रक्रिया का मार्गदर्शन करता है, उसकी देखभाल

करता है और उसकी योजना बनाता है। श्रमिकों और सामान को उत्पादन कार्यों में लगाने वाले उद्यमी ही होते हैं। मुद्रा पर आधारित समाज में उनका सारा हिसाब मूल्य-परिव्यय पर आधारित होता है, न कि मूल्य-उत्पाद पर, चाहे वह अपना उत्पाद बेचे या न बेचे। उद्यमी लाभ के लिए काम करता है और इसलिए अपना परिव्यय विभिन्न निवेशों में लगाता है। ये निवेश उत्पादन के कारण होते हैं, अथवा इन्हें उद्यमी के लिए लागत की संज्ञा दी जा सकती हैं। परंपरा के आधार पर इन्हें वेतन (श्रम), लाभ, किराया (भूमि) और ब्याज (पूंजी) में बांटा जा सकता है। औद्योगिक तथ्य इस वर्गीकरण का समर्थन नहीं करते। वितरण की प्रक्रिया में भाग लेने वाले कई और भी कारक होते हैं, जो कि उत्पादन की प्रक्रिया में नजदीक से या दूर से भाग लेते हैं। परंतु इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कितने कारक हैं और वे एक-दूसरे से किस तरह भिन्न हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि उत्पादन के लिए मिल-जुलकर उनका उपयोग किया जाए।

उत्पादन के विभिन्न कारकों का उपयोग समानुपात के नियम के अनुसार किया जाता है। इस नियम में बताया गया है कि यदि उत्पादन के विभिन्न कारक गलत अनुपात में लगाए गए, तो उससे हानि होना अवश्यंभावी है। यदि इस सिद्धांत का विस्तार किया जाए तो कहा जा सकता है कि एक कारक दूसरे कारक से मिलकर अधिकतम कुशलता से तभी काम कर सकता है, जब वह एक निश्चित मात्रा में लगाया गया हो। कए कारक के मुकाबले दूसरा कारक कम या ज्यादा लगाया जाए, तो उससे सभी कारकों की कार्यकुशलता कम हो जाएगी। विभिन्न कारकों की परस्पर निर्भरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि एक कारक की मात्रा में फेरबदल की जाए, तो उद्यमी को कुशल उत्पादन के लिए उसी अनुपात में अन्य कारकों में भी परिवर्तन करना होगा। दूसरा कोई तरीका नहीं हो सकता, क्योंकि कुशल उत्पादन का मतलब यही होता है कि हर कारक का अधिकतम लाभकारी ढंग से उपयोग किया जाए और यह तभी हो सकता है, जब उस कारक का अन्य कारकों से वांछित मात्रा में सहयोग हो। इस तरह एक आदर्श समानुपात होता है, जो मिलकर काम करने वाले विभिन्न कारकों के बीच में रहना चाहिए, यद्यपि यह आदर्श विभिन्न कारकों के समानुपात में फेरबदल करने पर बदल सकता है।[17]

यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह अनुपात प्रतिस्थापन के सिद्धांत से प्रभावित होता है, क्योंकि विभिन्न कारकों की कीमतों में फेरबदल का इस अनुपात पर प्रभाव पड़ता है। परंतु प्रतिस्थापन के सिद्धांत का सीमित मात्रा में ही प्रभाव पड़ता है और यह अनुपात

---

17. उत्पादन की प्रक्रिया का यह वितरण प्रो. एच. जे. डावेनपोर्ट की विद्वतापूर्ण पुस्तक द इकोनोमिक्स ऑफ इंटरप्राइज, न्यूयार्क मैकमिलन, 1913 से लिया गया है। इस संबंध में प्रो. हेनरी सी. टेलर का प्रबंध टू डाइमेंशन ऑफ प्रोडक्टिविटी पठनीय है, जिसे दिसबर 1916 में अमरीकन इकोनोमिक एसोसिएशन की 29वीं वार्षिक बैठक में पढ़ा गया था। उस पर प्रो. ए. ए. चंग की टिप्पणी भी उल्लेख है। ये दोनों अमरीकन इकोनोमिक रिव्यू के मार्च 1917 के अंक में प्रकाशित हुए थे।

के नियम को गलत सिद्ध नहीं करता जो हमेशा आर्थिक उत्पादन को चलता है और कोई भी उत्पादक हानि उठाए बिना उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।[18]

यदि उत्पादन के बारे में उल्लिखित टिपणियों को हम लाभकारी जोत की परिभाषा पर लागू करें तो हम यह मानकर चल सकते हैं कि यदि कृषि को आर्थिक उद्यम माना जाए, तो छोटी या बड़ी जोत जैसी कोई चीज नहीं हो सकती। एक किसान के लिए कोई जोत छोटी है या बड़ी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि लाभकारी उद्यम के रूप में कृषि को चलाने के लिए उसके पास बाकी कारक कितने हैं। केवल भूमि के आकार का तो कोई आर्थिक महत्व नहीं। इसलिए अर्थशास्त्र के विज्ञान की भाषा में यह नहीं कहा जा सकता कि एक बड़ी जोत लाभकारी है और एक छोटी जोत अलाभकारी। इस तरह एक छोटी जोत भी लाभकारी हो सकती है और एक बड़ी जोत भी, क्योंकि जोत का लाभकारी और अलाभकारी होना उसके आकार पर नहीं, बल्कि भूमि समेत सभी कारकों के उचित अनुपात पर निर्भर करता है।

इस तरह लाभकारी जोत को यदि कोरी धारणा नहीं होना है तो इसमें भूमि, पूंजी और श्रम, आदि का इस अनुपात में मिश्रण होना चाहिए कि दूसरों के साथ मिलकर हर कारक का योगदान अधिकतम हो। दूसरे शब्दों में, लाभकारी जोत बनाने के लिए किसान के लिए केवल यही काफी नहीं है कि वह भूमि की मात्रा बढ़ाता जाए। उसे कुशल खेती के लिए आवश्यक अन्य कारकों की मात्रा भी उचित रूप में बढ़ानी पड़ेगी और सभी कारकों को उचित अनुपात में रखना पड़ेगा, क्योंकि उसके बिना कुशलतापूर्वक पैदावार नहीं होगी। यदि उसके उपकरण कम हो जाते हैं तो उसे जोत का आकार भी कम करना चाहिए। यदि उसके उपकरण बढ़ जाते हैं तो उसकी जोत का आकार भी बड़ा होना चाहिए। असली मुद्दा यह है कि उपकरण और जोत के आकार का अनुपात गड़बड़ नहीं होना चाहिए। उनमें निश्चित अनुपात रहना चाहिए और यदि कुछ कारक कम-ज्यादा रहते हैं, तो उनका अनुपात वही रहना चाहिए।

यहां हमने जिस तर्क-पद्धति का सहारा लिया है, वह व्यवहार में भी आई है। एक अर्थशास्त्री के लिए यह प्रसन्नता की ही बात है कि बंबई प्रेसिडेंसी में सर्वे और बंदोबस्त प्रणाली के जनकों ने इसे स्वीकार भी किया और भारत में अपनाया भी। 1840 की प्रसिद्ध

---

18. कुछ अर्थशास्त्री यह विश्वास करते हैं कि कृषि उत्पादन पर उत्तरोत्तर ह्रास प्रतिकार का नियम लागू होता है। वे यह स्वीकार नहीं करेंगे कि समानुपात का नियम सर्वत्र लागू किया जा सकता है। संक्षेप में उत्तरोत्तर ह्रास के नियम के अनुसार, यदि भूमि के एक टुकड़े में अधिकाधिक पूंजी और श्रम लगाएं जाएंगे, तो उसका प्रतिफल बराबर घटता जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि उत्पादन पर गैर-भूमि व्यय बढ़ाकर दो-गुना कर दिया जाए तो पैदावार दो-गुनी कम होगी। परंतु यदि हम उत्तरोत्तर ह्रास प्रतिफल नियम को सामान्य रूप से लागू करना चाहें तो यह बात केवल कृषि उत्पादन पर लागू नहीं होती। यदि भूमि पर होने वाला खर्च दो-गुना कर दिया जाता है और भूमि-दो गुनी नहीं की जाती, तो अतिरिक्त पैदावार बढ़ाए गए खर्च के समानुपात में नहीं होगी। इसी बात को कहने का यह केवल एक और ढंग है कि यदि उत्पादन बढ़ाना है तो सभी कारक समानुपात में बढ़ाए जाएं। इस तरह कहने पर क्या उत्तरोत्तर ह्रास नियम समानुपात नियम का बिगड़ा रूप नहीं है।

संयुक्त रिपोर्ट में इस समस्या का शानदार विवेचन किया गया है। दक्कन में सर्वे प्रणाली लागू करने वालों के सामने प्रश्न यह था कि जायजा किस तरह लिया जाए। क्या यह केवल खेतों का जायजा हो या गांव की सारी भूमि का जायजा लिया जाए या व्यक्ति या भागीदारों की समूची जोतों का जायजा लिया जाए, चाहे वे भूमि के मालिक हों या इस पर काबिज हों। यह बात तो बहुतों को पता है कि काफी विचार-विमर्श के बाद खेत का जायजा लेने की प्रणाली अपनाई गई। परंतु यह प्रणाली क्यों अपनाई गई, इसका पता कम ही लोगों को है। इस संदर्भ में संयुक्त रिपोर्ट का व्याख्यात्मक भाग रुचिकर भी है और शिक्षाप्रद भी।

> पैरा 6-जायजा लेने के लिए गांव को अत्यंत छोटे-छोटे हिस्सों (सर्वे नंबर के हिसाब से) में बांटने का यह स्पष्ट लाभ यह है कि उससे काश्तकारों को प्रति वर्ष खेत बड़ा करने या छोटा करने का मौका मिलता है, जो उसे उपलब्ध कृषि पूंजी पर निर्भर करता है और यह किसान के लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि समूचे भारत में काश्तकार वर्ग के साधन बहुत सीमित हैं।
>
> पैरा 7- बीमारी या किसी अन्य कारण से यदि कुछ बैलों की मृत्यु हो जाए तो उससे किसान गांव में उपलब्ध अपनी पिछली जमीन पर लाभकारी ढंग से खेती करने में कतई अक्षम हो जाता है और यदि उसे फार्म छोटा करने की सुविधा न मिले तो इसके फलस्वरूप होने वाली हानि से उसकी पूरी तबाही हो जाएगी।[19]

इस निष्कर्ष के संदर्भ में जोतों के आकार के नियमन का प्रस्ताव अविचारित और व्यर्थ लगता है।[20] जैसा कि प्रो. रिचार्ड टी. एली ने बताया है :

> स्पष्ट ही है कि इस प्रश्न का सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता (प्रश्न यह है कि खेत या फार्म का आकार क्या हो)। शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भूमि की क्या कीमत है या उसका लगान कितना है। इसके अतिरिक्त कितने बड़े फार्म पर खेती की जाए और कितनी गहनता से खेती की जाए, यह कई और बातों पर निर्भर करता है, जैसे वह कितनी पूंजी की व्यवस्था कर सकता है, जिस किस्म की खेती में वह अधिक प्रवीण है, उसको किस किस्म के श्रमिक उपलब्ध हो सकेंगे, खेत मंडी के कितना पास है और माल लाने-ले जाने की कितनी सुविधा है।
>
> प्रश्न मुख्यतः यह है कि किसान को कितना फायदा हो। इसका फैसला खुद किसान को ही करना है। परंतु इस काम में विधायक और विज्ञान के विद्यार्थी उसे कृषि लेखा-जोखा, जो कि सबसे कठिन वाणिज्यिक विज्ञान है, विकसित करने में कुछ सहायता कर सकते हैं। कृषि लेखा-जोखा से वे किसान को बता सकते हैं कि

---

19. सर्वे सैटिलमैंट मैन्युअल बंबई प्रेसिडेंसी, 1882, पृष्ठ 3

20. आउटलाइंस आफ इकोनोमिक्स, पृष्ठ 531-32

> कीमतों, वेतन और परिवहन प्रभार में कितने परिवर्तन आ सकते हैं, ताकि फार्म संगठन अपने को इसके लिए तैयार रख सकें।

जो लोग जोत का आकार निर्धारित करने का दुस्साहस करने को तैयार हैं, उन्हें प्रो. एली की सुविचारित राय से समझ में आ जाएगा कि चाहे उनका विचार कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यह धारणा अंततः विपत्ति लाने वाली ही होगी, क्योंकि इसका फैसला केवल किसान ही कर सकता है। उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि समय के साथ-साथ किसान की जोत के आकार में परिवर्तन आ सकता है। उसके उपकरणों में परिवर्तन होने पर उसे उनके अनुरूप आकार की जोत की आवश्यकता पड़ सकती है। एक समय उसे छोटे आकार की जोत उपयुक्त लगेगी, तो दूसरे समय बड़े आकार की। इसलिए यदि कोई अर्थशास्त्री जोत का आकार कानूनी रूप से निर्धारित करने की चेष्टा करता है तो इसका मतलब यह है कि वह बहुत अक्लमंद नहीं है। जोत का आकार तो ऐसा होना चाहिए कि जो लाभकारी ढंग से उत्पादन के आधार पर आवश्यकता पड़ने पर बदल सके। जोत का आकार तय कर देने से यह तो हो सकता है कि जोत बड़े आकार की हो, पर यह नहीं हो सकता कि वह आर्थिक दृष्टि से भी लाभकारी हो। आर्थिक दृष्टि से लाभकारी जोत केवल उसके आकार पर निर्भर नहीं करती। यह तो भूमि के कुशल खेती के लिए आवश्यक अन्य उपकरणों से सामंजस्य पर निर्भर करता है।

5

समस्या के हल के उपायों की विवेचना

आज हमारी कृषि की सभी समस्याओं का हल बताया जाता है कि जोत का आकार बड़ा करना। पर यह बात तभी ठीक हो सकती है जब जोत का आकार तो घट गया हो, परंतु कृषि के उपकरणों, ढोरों, आदि की मात्रा बढ़ गई हो। जोत के आकार के बारे में तो आंकड़े पहले ही दिए जा चुके हैं। देखना यह है कि क्या कृषि का स्टाक बढ़ गया है। श्री के. एल. दत्ता ने अपने एक विशद सर्वेक्षण में कहा है[21] :

> 178. जिन भारतीय साक्ष्यों से हमने पूछताछ की उनमें से अधिकांश का विचार था कि कृषि उत्पादों की पूर्ति में कमी आई है, क्योंकि भूमि की काश्तकारी कुशल ढंग से नहीं हो रही। यह बताया गया कि भूमि पर खेती अब उतनी सावधानीपूर्वक और कुशलतापूर्वक नही की जा रही, जितनी पहले की जाती थी, क्योंकि हल, ढोर और श्रम महंगे भी हो गए हैं और दुलर्भ भी। खेती की लागत में बचत करने के लिए किसान खेतों में उतनी बार हल नहीं चलाते, जितनी बार पहले चलते थे। इसके साथ ही खेतों में खाद भी कम दी जाती है, खरपतरवार कम उखाड़े जाते हैं और

---

21. रिपोर्ट आन द इंक्वायरी इन्टू द राइज आफ प्राइसेस इन इंडिया, 1914, खंड 1, पृष्ठ 66-67

जहां कुओं से सिंचाई की जाती है, वहां सिंचाई भी कम की जाने लगी है।

179. जहां तक हल चलने वाले पशुओं का सवाल है, आंकड़ों से पता चलता है कि दुर्भिक्ष का कितना भीषण प्रभाव पड़ा है। इसका एक अपरिहार्य प्रभाव सदा यह पड़ता है कि पशुओं की संख्या घटा दी जाती है, पर यदि परिस्थितियां अनुकूल हों तो कुछ वर्षों में स्थिति सामान्य हो जाती है। अद्यतन वर्ष (1908-09) में हल चलाने वाले पशुओं की जो संख्या वक्तव्य में दी गई है, वह कुछ क्षेत्रों में शुरू के वर्ष (1893-94) के मुकाबले कम है, अर्थात् आसाम, बुंदेलखंड, आगरा प्रांत - उत्तर और पश्चिम, गुजरात, दक्कन, बरार, मद्रास-उत्तरी और मद्रास-पश्चिमी। यद्यपि इन आंकड़ों पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता, पर इन आंकड़ों से यह तो पता चलता ही है कि हल चलाने वाले पशुओं की कमी है।

पूंजी के बारे में श्री इलियट जेम्स का कथन है :

रैय्यत इस बारे में पैनी नजर रखते हैं कि मॉडल फार्मों पर दिखाई गई अच्छी ढंग से की गई खेती के बढ़िया परिणाम निकलते हैं, परंतु वे इस जानकारी से ज्यादा लाभ नहीं उठा सकते, भले ही वह अच्छी तरह समझते हैं कि बेहतर काश्तकारी और उचित ढंग से खाद देने का मतलब है फसल की ज्यादा पैदावार। उनकी बड़ी जरूरत है पूंजी।[22]

इसी लेखक का कहना हैकि किसान जानता है कि उसके कृषि के औजार अकुशल और पुराने ढंग के हैं, परंतु वह उनकी जगह बेहतर औजारों का इस्तेमाल नहीं कर सकता, क्योंकि 'बढ़िया किस्म के पशुओं और खेती के बेहतर औजारों के लिए जरूरी है कि इतना खर्च किया जाए, जितना कि उसके पास धन नहीं है।'

ऐसे ही तथ्य बड़ौदा राज्य के वाणिज्यि और उद्योग निदेशक श्री एम. बी. नानावती ने एक और संदर्भ में एकत्र किए हैं। श्री नानावती जोतों की चकबंदी वाली समिति के सदस्य थे, परंतु खेद की बात है कि अपनी इस जानकारी का उपयोग उन्होंने इस समिति की रिपोर्ट के निष्कर्षों में नहीं किया। शायद उनका विचार है कि जोत के आकार का उत्पादन के औजारों से कोई संबंध नहीं। वह खेद प्रकट करते हुए लिखते हैं :

किसानों के पास भार-वाहक और ढोर पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। आज (1913 में) उनके पास 8,34,901 बैल आदि हैं, अर्थात् 36 बीघे की खेती के लिए एक जोड़ी बैल। बैलों की एक अच्छी जोड़ी औसतन 25 बीघे में हल चला सकती है। परंतु वर्तमान नस्ल तो बहुत घट गई है और एक जोउत्री बैल अधिक से अधिक 20 बीघे में हल चला सकती है, जब कि वर्तमान वास्तविक औसत 36 बीघे है। इन परिस्थितियों में इस बात की संभावना नहीं है कि हल गहराई में चलाया जा सके। जमीन की ऊपर सतह को केवल खुरच भर दिया जाता है। छोटे किसानों के

22. इंडियन इंडस्ट्रीज, पृष्ठ 6

पास तो हल चलाने वाले पशु होते ही नहीं या एक ही बैल होता है। इसलिए उन किसानों को अपने दोस्तों से बैल लेकर काम चलाना होता है, जिनकी स्थिति उनसे बेहतर नहीं होती। जहां तक खेती के औजारों का प्रश्न है राज्य में 1,54,364 हल हैं, अर्थात् दो खातेदारों के पीछे एक। यहां पर यह समझ लेना चाहिए कि खेतिहर किसानों और काश्तकारों की संख्या तीन लाख से कहीं अधिक है और उनमें से प्रत्येक को पूरे उपकरणों की जरूरत होती है। इसलिए वास्तविक औसत ऊपर दिए गए औसत से भी कम बैठेगा।[23]

वास्तव में 1898 के बाद रियासत में कृषि उत्पादन के उपकरणों की दशा बहुत बिगड़ी है, जैसा कि नीचे दी गई सारणी से स्पष्ट होता है :

वर्ष	हल	गाड़ियां	हल चलाने वाले पशु	अन्य पालतू पशु
1898	1,75,989	--	4,15,089	5,70,517
1910	1,51,664	68,946	3,34,801	5,09,416

इस स्थिति में क्या यह कहना उचित नहीं होगा कि वर्तमान उपकरण न केवल आकार बढ़ाई गई जोतों के लिए अपर्याप्त हैं, बल्कि वर्तमान छोटी-छोटी जोतें भी जमीन के अतिरिक्त, उत्पादन के अन्य साधनों के मुकाबले बहुत बड़ी हैं। हमारे इस सिद्धांत के अनुसार तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्तमान जोतें अलाभकारी हैं, पर इसलिए नहीं कि वे बहुत छोटी हैं, बल्कि इसलिए कि वे बहुत बड़ी हैं। तब क्या हमें यह तर्क देना चाहिए कि वर्तमान जोतों का आकार और कम कर दिया जाए, ताकि वे हमारे विचार के मुताबिक लाभकारी हो सकें। बेखबर पाठक शायद यह सोचने लगें कि यही तर्कसंगत और अपरिहार्य निष्कर्ष निकलता है- एक ऐसा निष्कर्ष जो कि आश्चर्यजनक रूप से देश में जनमत के बिल्कुल विपरीत है। निस्संदेह यह निष्कर्ष बिल्कुल विपरीत है, परन्तु यह अपरिहार्य नहीं। ऊपर हमने जो भूमिका बांधी है, उसके आधार पर हम यह तर्क दे सकते हैं कि कृषि के लिए पशुओं और औजारों की संख्या बढ़ाने की जरूरत है, जिसके फलस्वरूप जोतों का आकार बढ़ाने की आवश्यकता भी पड़ जाएगी।

फलतः हम कह सकते हैं कि भारत में कृषि की खामियों को दूर करने के लिए बुनियादी तौर पर जोतों का आकार बढ़ाने की जरूरत नहीं, बल्कि पूंजी और पूंजीगत सामान बढ़ाने की जरूरत है। यह बात अर्थशास्त्र में आमतौर पर कही जाती है कि पूंजी बचत से प्राप्त होती है और बचत तब संभव है, जब हमारे पास अधिक (सरप्लस) फसल हो।

क्या कृषि से, जो हमारी जनता का मुख्य धंधा है, हमें बेशी (सरप्लस) फसल मिलती है? इसका सर्वसम्मत उत्तर होगा- नहीं, और हम उससे सहमत हैं। हम उन उपायों से

---

23. रिपोर्ट आन एग्रीकल्चरल इन्डेटेडनैस इन द बड़ौदा स्टेट, 1913, पैरा 35

भी सहमत हैं, जिनका एक घाटा-वाली अर्थव्यवस्था को आधिक्य वाली अर्थव्यवस्था में बदलने के लिए समर्थन किया जाता है, अर्थात् जोतों का आकार बड़ा किया जाए और चकबंदी की जाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों के बारे में हमें एतराज है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि भारत में छोटी जोत की समस्या बुनियादी समस्या नहीं है, बल्कि यह एक मूल समस्या से निकली हुई समस्या है, अर्थात् सामाजिक अर्थव्यवस्था में असमांजस्य की समस्या। इसलिए यदि हम समस्या का स्थायी हल ढूंढ़ना चाहते हैं, तो हमें मूल समस्या को हल करने पर ध्यान देना चाहिए।

परंतु इस पर प्रकाश डालने से पहले हम यह जानना चाहेंगे कि हमारी सामाजिक अर्थव्यवस्था में क्या बुराई है। एब बात बार-बार दोहराई जाती है कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, परंतु जिस बात का बहुत कम लोगों को पता है, वह यह है कि इतनी अधिक भूमि में खेती होने के बावजूद उसकी जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम भूमि में खेती होती है।

वर्ष 1895 के बारे में मलहाल में आंकड़े यही दर्शाते हैं :

1895 में प्रति व्यक्ति एकड़ भूमि

ग्रेड ब्रिटेन	आयरलैंड	फ्रांस	जर्मनी	रूस	आस्ट्रिया	इटली	स्पेन और पुर्तगाल	अमरीका	भारत
0.91	3.30	2.30	1.70	5.60	2.05	1.75	2.90	8.90	1.00

1895 के बाद तो स्थिति बदतर हो गई है, जैसा कि नीचे के आंकड़ों में स्पष्ट है :

प्रांत	1881	1891	1901	1911
बंगाल	1.5	0.8	1.12	-
बंबई	1.7	1.6	1.41	1.3
मद्रास	1.3	0.3	0.68	0.79
आसाम	- -	0.5	0.78	0.85
पंजाब	1.2	1.3	1.05	1.11
अवध	0.81	0.7	0.73	0.75
उ.प.सी. प्रांत	- -	0.8		
बर्मा	- -	1.5	1.08	1.09
मध्य प्रांत	1.67	2.4	1.8	1.79
ब्रिटिश भारत	1.04	1.0	0.86	0.88

अब इस असाधारण तथ्य का तात्पर्य क्या है? खेतिहर जनसंख्या बहुत अधिक है और वास्तविक कृषि के अंतर्गत भूमि को देखते हुए प्रति व्यक्ति भूमि का अनुपात बहुत कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि पर आधारित लोगों का बड़ा भाग कृषि में जरूरत से ज्यादा व्यर्थ में लगा हुआ है और निठल्ला है। यह ठीक से पता नहीं है कि भारतीय कृषि में कितने श्रमिक फालतू लगे हुए हैं। इन फालतू श्रमिकों के बारे में पहले सर जेम्स कैर्ड को पता चला और 1884 में उन्होंने अनुमान लगाया :

> इंग्लैंड में जिस एक वर्ग मील क्षेत्र में अच्छी तरह खेती होती है, उसमें 50 व्यक्ति काम करते हैं-25 युवा-वृद्ध पुरुष और 25 स्त्रियां और लड़के। यदि भारत में एक वर्ग मील में इसके चौगुने, अर्थात् 200 लोग भी खेती के काम में लगें तो उसमें भी भारत की केवल एक तिहाई जनसंख्या लगेगी।[24]

1881 में देश की कुल जनसंख्या 25 करोड़ 40 लाख में से लगभग दो तिहाई कृषि पर निर्भर दिखाए गए हैं। उक्त अनुमान के अनुसार, यदि हम एक तिहाई लोग भी खेती के लिए लें तो हम आराम से कह सकते हैं कि उतने ही लोग खाली बैठे रहते हैं, जो कोई उत्पादक कार्य नहीं करते। भारत में बढ़ते हुए ग्रामीणकरण और कृषि के अंतर्गत आने वाली भूमि में उत्तरोत्तर कमी आने के कारण खाली बैठे श्रमिकों की संख्या बेहद बढ़ गई होगी।

इन खाली बैठे श्रमिकों के आर्थिक प्रभाव दो प्रकार के हैं- एक तो इससे कृषि जनसंख्या का जमीन पर भारी दबाव पड़ता है। यह दबाव कितना अधिक है, यह निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट होता है :

1911 में प्रति वर्ग मील जनसंख्या का औसत घनत्व

	अवध और उ.प.सी. प्रांत	बंगाल	मद्रास	पंजाब	बंबई	आसाम	बर्मा और मध्य प्रांत	कुर्ग	ब्रिटिश भारत
कुल क्षेत्रफल के हिसब से	427	551	291	177	145	115	122	111	53
कृषि क्षेत्र के हिसाब से	829	1,162	785	453	444	766	360	792	575

जमीन पर जनसंख्या का इतना अधिक दबाव सारी दुनिया में किसी और देश में नहीं मिलता। इसका प्रभाव तो स्पष्ट ही है।

अन्य लोगों के कथन के बावजूद जनसंख्या का यह भारी दबाव जमीन के उप-विभाजन का मुख्य कारण है। चूंकि जमीन पर इस दबाव का महत्व समझा नहीं जा रहा, इसलिए उत्तराधिकार का कानून इतना कष्टप्रद बन गया है। यह कहना कि उत्तराधिकार के कानून के कारण जमीन का उप-विभाजन होता है, वास्तविक स्थिति को उल्टा

24. इंडिया, द लैंड एंड द पीपल, पृष्ठ 225

करके गलत ढंग से देखने के समान है। केवल इस कानून का होना ही एक शिकायत नहीं बन सकती। शिकायत तो तब बनती है, जब इसे लागू किया जाता है। पर यदि यह हानिकारक है तो इसे लागू क्यों किया जाता है, सिर्फ इसलिए कि यह लाभकारी है। इसमें कुछ भी अजीब नहीं है। जब खेती का ही धंधा करना हो तो न होने से तो जमीन का छोटा टुकड़ा ही बेहतर है। इस तरह शिकायत की बात ये परिस्थितियां हैं, जिनसे जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को भी महत्व मिल जाता है। यह महत्व इसलिए मिलता है कि जनता का बहुत बड़ा भाग अपनी जीविका के लिए केवल कृषि पर निर्भर होता है। स्वाभाविक है कि जब लोगों के पास कृषि के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तो वे जमीन का छोटे से छोटा टुकड़ा हासिल करने के लिए हर संभव प्रयास करेंगे। इस जमीन पर भारी दबाव है, जिसकी वजह से ऐसा होता है। लोग मीन के छोटे टुकड़ों पर इसलिए खेती करते हैं, क्योंकि जैसा कि प्रो. जेवन्स का विचार है,[25] उनके रहन-सहन का स्तर नीचा है, बल्कि आजकल उनके पास यही एकमात्र लाभदायक वस्तु है। यदि उनके पास करने के लिए अन्य कोई लाभकारी काम होता है तो वे छोटे टुकड़ों को भी तरजीह न देते। इसलिए यह समझना आसान हो जाता है कि छोटे खेत जमीन पर भारी दबाव के कारण नजर आते हैं।

हमारी खेतिहर जनता यद्यपि छोटे से खेत पर भी पैदावार के काम में अधिक से अधिक लगना चाहती है, तथापि जेम्स कैर्ड के अनुसार यह बात सच है कि उनमें से बड़ा भाग निश्चित रूप से निठल्ला रहेगा ही। निठल्ले मजदूर ओर ठिल्ली पूंजी में एक बहुत महत्वपूर्ण अंतर होता है। पूंजी होती है, परंतु मजदूर रहता है। अर्थात् जब पूंजी निठल्ली हो तो वह कमाती नहीं, परंतु वह कुछ खाती नहीं। परंतु मजदूर कमाए चाहे न कमाए, पर वह जीवित रहने के लिए खाता अवश्य है। इसलिए निठल्ला मजदूर एक बहुत बड़ी मुसीबत या विपत्ति बन जाता है। यदि वह उत्पादन पर निर्भर नहीं रहता तो

---

25. प्रासंगिक उद्धरण - (पिछली पुस्तक-आमुख)। प्रो. जेवन्स अपने पाठकों पर यह प्रभाव छोड़ते हैं कि कृषि की बुराइयां रहन-सहन के निम्न स्तर के कारण हैं। ऊंचा जीवन-स्तर स्थापित होने पर बड़ी जोतों का होना आवश्यक हो जाएगा, क्योंकि ऊंचे जीवन-स्तर वाले व्यक्ति छोटी जोत स्वीकार करने की जगह बाहर जाना पसंद करेंगे। उनका इस तर्क से कि जोतों और जीवन-स्तर का एक-दूसरे से संबंध है, कई कम विचारशील पाठक भ्रमित हो सकते हैं। इसलिए इस पर टिप्पणी करना आवश्यक है। जीवन-स्तर उपभोग का स्तर होता है, जो हमारी आदत में शामिल होता है। किंतु उपभोग के स्तर की गहराई किस पर निर्भर करती है? निस्संदेह उत्पादन के स्तर पर। हम इस कथन की सच्चाई कर सकते हैं कि जीवन-स्तर ऊंचा होने से उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु यह मानना बेवकूफी होगी कि केवल इच्छा करने से ही काम हो जाएगा। केवल वास्तविक उत्पादन ही जीवन-स्तर ऊंचा उठाने में सहायक होता है, न कि केवल उसकी इच्छा जो कि 'यात्रा या शिक्षा' के कारण पैदा हो जाती है। यदि प्रो. केवन्स का तात्पर्य यह है कि उत्पादन बढ़ाने के अवसर से जीवन-स्तर ऊंचा हो जाएगा और इसलिए लोग छोटी जोतें पसंद नहीं करेंगे तो इसमें हम प्रो. जेवन्स से सहमत हैं, यदि वह जीवन स्तर की बात छोड़कर केवल अधिक उत्पादन की बात करें। किंतु यदि वह जीवन-स्तर का तर्क छोड़कर बात करें तो वह ज्यादा समझ में आएगी। यह बात लोग स्वीकार करेंगे कि उत्पादन बढ़ने से जीवन-स्तर सुधरता है। किंतु इसका ठीक उल्टा नहीं हो सकता, यद्यपि प्रो. जेवन्स ऐसा मानते हैं, क्योंकि उससे या तो उत्पादन होता है या परभक्षण। बिना उत्पादन बढ़ाने की चर्चा किए जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की चर्चा से यदि गड़बड़ नहीं होती तो यह महज एक कामना हो सकती है।

उसका परिश्रमी बनना अनिवार्य हो जाता है। निठल्ला मजदूर एक नासूर की तरह होता है, जो देश की महत्वपूर्ण वस्तुएं चट कर जाता है। वह हमारे राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि करने की जगह जो कुछ थोड़ा-बहुत लाभांश होता भी है, उसे भी नष्ट कर जाता है। इसलिए निठल्ले मजदूर का एक महत्वपूर्ण असर होता है- राष्ट्रीय लाभांश का ह्रास। व्यक्ति की तरह समाज की आय भी किए गये प्रयासों और उपलब्ध माल पर निर्भर करती है। यह बड़े आराम से कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति या समाज की आय तो चालू मजदूरी से मिलती है अथवा पहले से हासिल की गई उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व से। आज समाज के पास जो कुछ होता है, वह या तो आज ही प्राप्त वस्तुओं पर या पिछले उत्पाद पर निर्भर करता है। इस कसौटी के आधार पर हमारे समाज का एक बड़ा भाग वर्तमान में बहुत कम प्रयास करता है और न ही उसके स्वामित्व में बहुत सारी वस्तुएं होती हैं, जिन पर वह निर्भर रह सके। निस्संदेह यह स्पष्ट है कि हमारे आर्थिक संगठन को पूंजी की आवश्यकता है। पूंजी स्पष्ट तथा बेशी या अधिक होती है और यह आधिक्य हमारे प्रयासों की आय पर निर्भर करता है। परंतु जहां प्रयास नहीं होता, वहां न आय होती है, न आधिक्य होता है और न पूंजी।

इस तरह हमने स्पष्ट कर दिया है कि हमारी खराब सामाजिक अर्थव्यवस्था ही हमारी कृषि की बुराइयों की जिम्मेदार है। हमने यह भी सिद्ध कर दिया है कि किस तरह खेती पर पूरी तरह निर्भर रहने के कारण ही जोतें छोटी-छोटी और बिखरी हुई हो गई हैं। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि किस तरह हमारी जनता के बड़े भाग को कृषि उत्पादक रोजगार नहीं दे सकती और इसलिए उन्हें निठल्ला रहना पड़ता है। हमने यह भी दर्शाया है कि इन निठल्ले श्रमिकों के कारण हमारा देश बिना पूंजी का हो गया है। समस्या के हमारे इस विश्लेषण के बाद यह समझना सरल हो गया है कि वर्तमान सामाजिक अर्थव्यवस्था में चकबंदी करने और जोतों का आकार बड़ा करने के प्रयास निश्चित रूप से असफल सिद्ध होंगे।

जो लोग यह समझते हैं कि छोटी जोतें ही मूल बुराई है, स्वभावतः वे जोतों का आकार बड़ा करने का समर्थन करते हैं। परंतु इस प्रकार का अर्थशास्त्र दोषपूर्ण है और जैसा कि थामस आर्नोल्ड ने एक बार कहा था, 'एक त्रुटिपूर्ण राजनीतिक अर्थव्यवस्था अपराध की सफल जननी होती है।' इस बात के अतिरिक्त कि जोत का आकार बड़ा करने से वह लाभकारी नहीं हो जाती, जोतों का आकार कृत्रिम ढंग से बड़ा करने से कई सामाजिक बुराइयां भी पैदा हो जाएंगी। भविष्य में भूमिहीन और जमीन से बेदखल लोगों की सेना न तो व्यक्ति को प्रसन्न रख सकेगी और न ही राष्ट्रीय दृष्टि से इसे सहमति मिल सकेगी। परंतु यदि हम वर्तमान जोतों का आकार बड़ा भी कर दें और उन्हें लाभकारी बनाने के लिए पर्याप्त पूंजी और पूंजीगत सामान भी प्राप्त कर लें, तो भी हम न केवल सही हल नहीं बता रहे होंगे, बलिक निठल्ले श्रमिकों की संख्या बढ़ाकर एक सामाजिक बुराई को बढ़ावा दे रहे होंगे, क्योंकि पूंजी-प्रधान कृषि में उतने व्यक्तियों की जरूरत नहीं पड़ेगी, जितनी वर्तमान तरीकों से खेती करने में पड़ती है।

परंतु यदि आकार बड़ा करना संभव नहीं है तो क्या हम चकबंदी भी नहीं कर सकते? यह दर्शाया जा सकता है कि वर्तमान सामाजिक अर्थव्यवस्था में तो चकबंदी भी संभव नहीं है। चकबंदी वाली जोतों का उप-विभाजन और विखंडन रोकने के लिए अपनाए गए उपाय से वास्तविक राहत नहीं मिल सकती। यह तो केवल कानूनी तौर पर आंखें पोंछने के समान होगा। इस बात को अच्छी तरह समझना तब आसान होगा, जब हम यह समझ लेंगे कि एक व्यक्ति–उत्तराधिकार के नियम के व्यवहार से क्या मतलब निकलता है। उसके लिए हमें सर्वे रिकार्ड में किए जाने वाले परिवर्तनों को नोट करना पड़ेगा। आजकल के बंबई भू-राजस्व संहिता अध्याय 1, अनुभाग 3, खंड 6 के अनुसार : 'सर्वे नंबर का अर्थ जमीन का एक ऐसा भाग है, जिसका क्षेत्रफल और अन्य जानकारी अलग से प्रविष्ट की जाती है और उसे गांव के कस्बे या शहर के सर्वे रिकार्ड में एक अलग नंबर दिया जाता है, जिसमें वह अवस्थित होता है और इसमें सर्वे नंबर का एक एकीकृत हिस्सा होता है।'

इसके अतिरिक्त खंड 7 के अनुसार, 'सर्वे नंबर के स्वीकृत हिस्से ' का अर्थ होता है सर्वे नंबर के उक उप-विभाजन से, जिसका अलग से मूल्यांकन किया गया है और पंजीकृत किया गया है।

एक व्यक्ति - उत्तराधिकार नियम के अपनाए जाने के बाद जमीन के एक टुकड़े को एक सर्वे नंबर दिया जाएगा, जिसका आकार आदर्श लाभकारी जोत के निर्धारित आकार के बराबर होगा। दूसरे, यह जरूरी होगा कि ऐसे सर्वे नंबर के किसी उप-विभाजन का अलग से रजिस्ट्रेशन करने से मना कर दिया जाए, अर्थात् यदि जमीन के किसी टुकड़े का रजिस्ट्रेशन करके उसे अलग से विशिष्ट सर्वे नंबर देना है, तो उसका आकार लाभकारी जोत की सीमा से कम न हो। यह सर्वे नंबर जिसके अंतर्गत इतने बड़े आकार की जोत होगी जिसे लाभकारी कहा जा सके, उसका भी रजिस्ट्रेशन केवल एक व्यक्ति के नाम में होगा। यदि हम बड़ौदा कमेटी की परियोजना को अमल में लाएं, तो बिल्कुल ऐसा होगा। श्री कीटिंग एक बड़े आकार की इकट्ठी जोत को एक सर्वे नंबर देने की जगह एक व्यक्ति के नाम में कई सर्वे नंबर देंगे, जिसमें एक इकाई के अंतर्गत जमीन के छोटे और बिखरे हुए टुकड़े होंगे। श्री कीटिंग की योजना से कोई व्यावहारिक हल नहीं निकलता, इसलिए उसे त्यागना पड़ेगा। तब एक व्यक्ति-उत्तराधिकार नियम एक समेकित जोत पर लागू करने का व्यवहार में अर्थ होता है कि हम उस भूमि के टुकड़े को कानूनन नहीं मानते, जहां वह एक निश्चित आकार से कम की हो। यह दावा किया जाता है कि भूमि के टुकड़े को मानने से अब इंकार करने से चकबंदी वाली जोत का उप-विभाजन रुक जाएगा। भूमि का उप-विभाजन कई कारणों से हो सकता है और इसके लागू करने के मौके को देखते हुए जोत लाभकारी या अलाभकारी हो सकती है। जैसा कि श्री कीटिंग चाहते हैं, यदि किसी भी प्रकार से उप-विभाजन न होने दिया जाए, तो उससे जमीन की कीमत में तेजी से ह्रास

होगा। परंतु यदि स्टॉक कम होने पर भी उप-विभाजन की अनुमति न दी जाए, तो उससे अलाभकारी स्थिति पैदा हो जाएगी, जो वांछित लक्ष्य के परिणाम से बिल्कुल उल्टा होगा। यदि आर्थिक परिस्थितियों के कारण आवश्यक हुआ तो कानूनी दृष्टि से उप-विभाजन रोकने का मतलब यही होगा कि वह वास्तव में भी रुक जाएगा। यह मानते हुए कि जमीन पर जनसंख्या का भारी दबाव है और कृषि उपकरणों की संख्या बहुत कम है तथा इन बुराइयों पर चकबंदी और बड़े आकार के पक्षधर लेखकों ने कोई ध्यान नहीं दिया है, तो हमें जोतों के उप-विभाजन पर ध्यान देना पड़ेगा। यदि इस अपरिहार्य प्रवृत्ति के बावजूद हम कानून बनाएं और अपने सर्वे रिकार्ड पर सर्वे नंबर प्राप्त करने के लिए एक निश्चित सीमित आकार से कम की जोतों का रिकार्ड न करें, तो न केवल हम उस रोग का उपचार नहीं कर पाएंगे, जो इस उपाय से हो भी नहीं सकता, बल्कि उससे एक ऐसा रजिस्टर भी तैयार हो जाएगा जो सच्ची परिस्थितियों की जगह झूठी जानकारी देगा।

उप-विभाजन और विखंडीकरण रोकने के तरीकों की हमारी इस आलोचना के बाद हम चकबंदी परियोजना के बारे में अपने विचार देंगे। चकबंदी और उसका संरक्षण एक-दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि एक के बिना दूसरे के बारे में सोवचा भी नहीं जा सकता। अब यदि हम चकबंदी वाली भूमि के आकार को बचाकर नहीं रख सकते, तो क्या चकबंदी करने का कोई भी फायदा है? जब तक हम अपनी सामाजिक अर्थव्यवस्था में प्रभावकारी परिवर्तन नहीं करेंगे, तब तक हमें यह प्रक्रिया अनगिनत बार दोहरानी पड़ेगी।

चकबंदी और जोतों का आकार बढ़ाने से फालतू और निठल्ले मजदूरों की समस्या और ज्यादा विकट हो जाएगी, जिससे उसकी हानियां उसके लाभों से अधिक होने की संभावना है और इसीलिए प्रो. गिलबर्ट स्लेटर ने इसका अधिक समर्थन नहीं किया।[26]

प्रो. स्लेटर के इस मत के विपरीत हमारा विचार है कि इन बुराइयों को दूर किया जा सकता है और क्योंकि हम उन्हें दूर करने को उत्सुक हैं, इसलिए हम जोतों का आकार बढ़ाने के लिए विभिन्न उपाय सूझाना चाहते हैं। फलतः हम यह कहना चाहते हैं कि हमारे प्रयास निठल्ले श्रमिकों की समस्या को हल करने की दिशा में होने चाहिएं।[27]

---

26. द विलेज इन द मेल्टिंग पाट, जर्नल आफ द इंडियन इकोनोमिक सोसायटी, खंड 1, नंबर 1, पृष्ठ 10

27. प्रो. जेवन्स यह कहते हैं कि फालतू खेतिहर जनता को नगरों में ले जाया जाए। इस लेखक को खुशी है कि प्रो. जेवन्स ने फालतू या सरप्लस मजदूरों की समस्या को स्वीकार किया है, पर जो बात वह नहीं समझा सके, वह यह है कि यह बुराई उन सभी बुराइयों की जड़ में है, जिनसे हमारी कृषि पीड़ित है। जब इस बात पर ध्यान जाता है कि प्रो. जेवन्स भारत के औद्योगीकरण के विरुद्ध अपनी पूरी विद्वता और प्रभाव का उपयोग करते हुए तर्क देने में कभी नहीं चूकते, तब फालतू श्रमिकों को नगरों में भेजने की उनकी बात विचित्र लगती है, क्योंकि नगरों की ओर पलायन भारत के लिए औद्योगीकरण की कड़ी बात को मधुर भाषा में कहना है। दूसरी ओर प्रो. जेवन्स यह भूल जाते हैं कि भारत में भी थोड़े से ही नगर हैं। यदि हम यह मान लें कि जैसा कि प्रो. जेवन्स मानते हैं कि भारत में फालतू लोगों की समस्या है, तो इसका एकमात्र तर्कसंगत और अपरिहार्य निष्कर्ष, भले ही वह कितना ही अरुचिकर क्यों न हो, यह है कि अधिक नगर स्थापित किए जाएं, अर्थात् औद्योगीकरण किया जाए।

यदि हम इन फालतू श्रमिकों को उत्पादन की गैर-कृषि प्रणालियों में लगा सकें तो हम एक बार में ही कृषि पर से दबाव कम कर सकेंगे और भूमि पर जो इतना अधिक महत्व दिया जाता है, वह भी कम हो जाएगा। इसके अतिरिक्त जब ये श्रमिक उत्पादन की गैर-कृषि प्रणालियों में लग जाएंगे, तो आज की तरह से दूसरे के सहारे अपना पेट नहीं भरेंगे और वे न केवल कमाएंगे, बल्कि हमें सरप्लस उत्पादन भी देंगे, तथा अधिक सरप्लस का मतलब अधिक पूंजी होगा। संक्षेप में, चाहे यह विचित्र लगे, भारत की कृषि संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए सबसे जोरदार उपाय उसका औद्योगीकरण है। औद्योगीकरण का संपूर्ण प्रभाव यह पड़ेगा कि जमीन पर दबाव कम होगा और पूंजी तथा पूंजीगत सामान बढ़ने से जोतों का आकार बढ़ाने की आर्थिक आवश्यकता पैदा हो जाएगी। केवल इतना ही नहीं, औद्योगीकरण भूमि का महत्व कम कर देगा और इसलिए उसके उप-विभाजन और विखंडीकरण के कम अवसर मिलेंगे। औद्योगीकरण एक स्वाभाविक और जोरदार उपाय है और उसे ऊपर बताए गए अविचारित उपायों के मुकाबले तरजीह दी जानी चाहिए। कानून बनाकर हम तो दिखावटी लाभकारी जोतें बना सकेंगे, उसमें कई बुराइयां निहित हैं, परन्तु औद्योगीकरण से लाभ की दृष्टि से बड़े आकार की लाभकारी जोत स्वयं सामने आ जाएगी।

जोतों का आकार, बड़ा करने, चकबंदी करने और चकबंदी वाली जोतों का आकार बरकार रखने का हमारा उपाय है—हम औद्योगीकरण की प्रतिवर्त (रिफ्लेक्स इफैक्ट्स) क्रिया के प्रभावों द्वारा कृषि की इस समस्या का उपचार करना चाहते हैं। इसे कोई काल्पनिक या हवाई न समझें, इसके लिए हम अपने विचार के समर्थन में निम्नलिखित तर्क देना चाहते हैं। औद्योगीकरण की प्रतिवर्त क्रिया के प्रभावों से कृषि में किस प्रकार सुधार आता है, इसका 1883 में संयुक्त राज्य अमरीका में अध्ययन किया गया था। लंदन टाइम्स में इसका जो सार छपा था, उसे हम विस्तृत रूप में उद्धृत कर रहे हैं :

> संयुक्त राज्य अमरीका के कृषि विभाग के सांख्यिक ने हाल ही में एक रिपोर्ट में बताया है कि खेती की भूमि का मूल्य ठीक उसी अनुपात में घट जाता है, जितना की कृषि का अनुपात अन्य उद्योगों के मुकाबले बढ़ जाता है। अर्थात् जहां सारे श्रमिक खेती पर निर्भर होते हैं, वहां जमीन का मूल्य कम होता है, अपेक्षाकृत उसके जहां केवल आधे लोग कृषि पर निर्भर होते हैं, और जहां केवल एक चौथाई लोग कृषि पर निर्भर होते हैं तो उनकी पैदावार और उनके खेतों का मूल्य और भी अधिक होता है। वास्तव में, आंकड़ों से यह सिद्ध हो चुका है कि विविध प्रकार के उद्योग सरकार के लिए बहुत मूल्यावान होते हैं, और किसी फार्म के निकट किसी कारखाने के होने से खेत का और उस पर होने वाली फसलों का मूल्य बढ़ जाता है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि सं. राज्य अमरीका को यदि चार भागों

या वर्गों में, कुल जनता में खेतिहर मजदूरों के अनुपात में, बांटा जाए, अर्थात् वे राज्य जहां 30 प्रतिशत से कम खेती और खेतिहर मजदूर रहते हैं, वे पहले वर्ग में आएं, दूसरे वर्ग में 30 प्रतिशत से अधिक और 50 प्रतिशत से कम, तीसरे वर्ग में 50 से 70 प्रतिशत तक और चौथे वर्ग में 70 प्रतिशत से अधिक हों, तो खेतों का मूल्य कृषि जनसंख्या के विलोम अनुपात में होता है। चौथे वर्ग में खेतों का मूल्य केवल 5.28 डालर प्रति एकड़ है, तीसरे वर्ग में 13.03 डालर प्रति एकड़, अगले में 22.21 डालर प्रति एकड़ है और कारखानों वाले जिलों में 40.91 डालर है। इससे पता चलता है कि मिश्रित जिला सबसे अधिक लाभकारी होता है, और न केवल जमीन पर कीमत बढ़ जाती है, बल्कि प्रति एकड़ पैदावार भी ज्यादा होती है और श्रमिकों को मिलने वावा वेतन भी अधिक होता है। इस तरह निर्माण कार्यों और उद्योगों से न केवल निर्माताओं को लाभ होता है, अपितु उससे किसानों को भी उतना ही लाभ होता है।

इससे पता चलता है कि हमारा उपाय परीक्षित है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण से जोतों का आकार बढ़ाने को प्रोत्साहन तो मिलेगा ही, और यह कि उप-विभाजन और विखंडन के विरुद्ध भी यह सबसे बड़ी रुकावट सिद्ध होगा। इस बात से सहमत होने पर यह दोखा जाएगा कि औद्योगीकरण चकबंदी कराने के लिए पर्याप्त उपाय नहीं हैं। हो सकता है कि इसके लिए प्रत्यक्ष उपाय करने पड़ें। पर यह भी सच है कि औद्योगीकरण से अपने आप चकबंदी न हो, परन्तु उससे चकबंदी कराने में मदद मिलेगी। यह भी निर्विवाद सत्य है कि जब तक भूमि को महत्व मिलता है, चकबंदी करना आसान नहीं होगा, भले ही हम कितने भी न्यायोचित सिद्धांतों की बात करें। क्या यह औद्योगीकरण की कम सेवा है कि इसके कारण भूमि का महत्व कम हो जाता है। निश्चय ही नहीं। चकबंदी का एक और पहलू भी इसी निष्कर्ष की ओर इंगित करता है। वह यह है कि चकबंदी से पहले औद्योगीकरण होना चाहिए। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जब तक चकबंदी वाली जोतों के भावी उप-विभाजन और विखंडन पर रोक लगाने के लिए प्रभावकारी रुकावटें नहीं लगाएंगे, तब तक चकबंदी की योजनाएं बनाना बेकार है। यह रुकावट केवल औद्योगीकरण से ही लगाई जा सकती है और तभी भूमि पर वह भारी दबाव कम हो सकता है, जिसके कारण भूमि का उप-विभाजन होता है। इसलिए यदि हमारी कृषि छोटी और बिखरी हुई जोतों की शिकार है, तो उसका हल निस्संदेह औद्योगीकरण करके ही निकल सकता है।

परंतु एक औद्योगिक देश के रूप में भारत का क्या स्थान है?

वर्ष	इंग्लैंड और वेल्स		जर्मनी		सं. रा. अमरीका		फ्रांस		भारत	
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1790	--	--	--	--	87.5	--	--	--	--	--
1840	--	--	--	--	77.5	--	75.6	24.4	--	--
1851	49.92	50.08	--	--	--	--	--	--	--	--
1871	38.20	61.80	--	36	47.6	--	--	--	--	--
1881	32.1	67.9	--	41	44.3	29.5	--	--	--	--
1891	27.95	72.05	--	47	39.2	36.1	--	--	64.4	--
1901	23.00	77.00	--	54	35.7	40.5	--	--	67.5	--
1911	19.9	78.1	--	--	33.3	46.3	57.9	42.1	71.5	--

(विभिन्न देशों के आंकड़े उल्लिखित वर्ष के अनुरूप नहीं हैं, बल्कि तीन वर्षीय अवधि के बीच के हैं)।

सर राबर्ट गिफिन विभिन्न देशों की आर्थिक प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे :

> मनुष्य की आवश्यकताएं उनके साधनों के हिसाब से बढ़ती हैं, जिस अनुपात में लोग, कृषि, खनन और वैसे ही धंधों में लगे हुए होते हैं, वहां उसी अनुपात में वह कम होती जाती हैं। और जिस अनुपात में लोग उद्योग में, अर्थात् निर्माण-कार्यों में लगे रहते हैं, वहां उनकी आवश्यकता बढ़ती जाती है।[28]

परंतु भारत के आंकड़े इस सिद्धांत के विपरीत जाते हैं और एक विशेषज्ञ को इनमें एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति की झलक देते हैं। जहां सं. रा. अमरीका जैसे देश जो प्रारंभ में कृषि-प्रधान देश थे, अब क्रमशः औद्योगिक देश बनते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर भारत में दुर्भाग्यवश लोग शहरों को छोड़ते जा रहे हैं, और आवश्यकता न होने पर भी गांवों की ओर लोग भागे जा रहे हैं। जितनी जल्दी हम इस प्रवृत्ति को रोक दें, उतना ही अच्छा होगा। अपने मतलब के कारण लोग जो कुछ भी कहें,[29] इस संबंध में हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में सर हेनरी काटन के इन शब्दों से अधिक सच और हितकारी चेतावनी और नहीं हो सकती-**भारत में खतरा है, अत्यधिक कृषि का।**

28. ऐसेज इन फाइनेंस, सैकिंड सिरीज, पृष्ठ 240

29. प्रो. जेवन्स ने 'कृषि में पूंजीवादी विकास' संबंधी अपना प्रबंध बंबई में दिसंबर 1915 में भारतीय औद्योगिक सम्मेलन के समक्ष पढ़ते हुए औद्योगीकरण के विरुद्ध तर्क दिए थे। तथापि प्रो. जेवन्स के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण की बदौलत ही पूंजीवादी कृषि संभव हो सकती है। उनके प्रबंध की त्रुटियां दूर करने वाला है सर राबर्ट गिफेन का निबंध, जो उनके ऐसेज इन फाइनेंस, फर्स्ट सिरीज में प्रकाशित हुआ था।

6

श्री रसल की दृष्टि में सामाजिक पुनर्निर्माण

मानननीय श्री बर्टेंड रसल की कृति
प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन
की समीक्षा

प्रकाशित : जर्नल ऑफ द इंडियन इकोनोमिक सोसायटी

खंड 1, 1918

श्री रसल की दृष्टि में सामाजिक पुनर्निर्माण

प्रिंसिपल्स ऑफ शोसल रिकंस्ट्रक्शन[1] नामक पुस्तक की रचना माननीय श्री बर्टेंड रसल ने की है और वह युद्ध के बारे में है। युद्धपरक साहित्य समग्रतः या तो युद्ध का प्रचार करता है या फिर उसका निवारण। श्री रसल की पुस्तक युद्ध-निवारण वर्ग की है। परंतु इस वर्ग की अन्य पुस्तकों से इस पुस्तक की अलग पहचान है और होनी भी चाहिए। युद्ध-निवारक संबंधी पुस्तकों में से कुछ में कहा गया है कि कुछ देशों को उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके 'निरंकुश विजेताओं ने भौगोलिक कांजी हाउसों अथवा बाड़ों में बंदी बना दिया है। यह न तो उचित है और न ही प्रकृतिसम्मत। अन्य पुस्तकों में तथा श्री ऐंजल की कृति ग्रेड इल्यूजन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि युद्ध का अजब गणित है। विजेता जितना पाता है, उससे अधिक गंवाता है। फिर भी, श्री रसल का निदान नितांत भिन्न है। उनका विचार है कि उक्त प्रकार की तर्क-प्रधान अपीलों से युद्ध समाप्त नहीं किए जा सकते। उनका कहना है, 'केवल तर्क के तीरों से युद्ध नहीं रोके जा सकते, अपितु युद्ध तो ऐसे आवेगों तथा संवर्गों के व्यवहार योग्य जीवन द्वारा रोके जा सकते हैं, जो उन मनोवेगों को शांत करें जो युद्ध भड़काते हैं। न केवल चेतन विवेक के स्तर पर, बल्कि संवेगों के स्तर पर भी जीवन में परिवर्तन होना चाहिए।'[2] जैसा अनोखा है उनका निदान, वैसा ही अनोखा है उनका सामाजिक दर्शन। उनके मत के अनुसार, 'युद्ध के द्वारा हमें मुख्यतः यह बात सीखनी है कि युद्ध मानवीय कर्म के उद्देश्यों के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण रहा है, यथा वे उद्देश्य क्या हैं और उनके बारे में हम समुचित रूप से आशा कर सकते हैं कि वे कैसे होंगे। यह दृष्टिकोण यदि सही हो तो लगता है कि वह संकट की घड़ी का सीना तानकर सामना करने के लिए अधिक सशक्त आधार राजनीतिक दर्शन के वास्ते प्रस्तुत कर सकता है, न कि परंपरागत उदारतावाद का दर्शन।'[3]

इस रवैए के अनुरूप ही उन्होंने व्यवहारवादी मनोविज्ञान[4] का दृष्टिकोण अपनाया है। मनोविज्ञान के इस नए विकास का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसमें माननीय कर्म के स्रोतों के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का समावेश है। इसने इस सिद्धांत को उलट दिया है कि मनुष्य की उद्यमशीलता के लिए बाह्य परिस्थितियां उत्तरदायी हैं।

---

1. लंदन : जार्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, 1917
2. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 13
3. वही, पृ. 9
4. अच्छा होगा यदि श्री रसल के पाठक प्रो. ई.एल. थार्नडाइक की पुस्तक एजुकेशनल साइकोलाजी का अवलोकन करें। देखिए खंड 1

आन द ओरिजिनल नेचर ऑफ मैन।

व्यवहारवादी का कहना है कि यदि ऐसा होता है तो वह एक निष्क्रिय जीव का पूर्वानुमान रहता और जैविक दृष्टि से यह सच नहीं है। वह कहता है कि मानव के भीतर ही कर्म के स्रोत होते हैं, क्योंकि उसमें कर्म करने की कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं। बाह्य परिस्थितियां कर्म की प्रेरणा नहीं देतीं। वे तो केवल उसे पुनः दिशा प्रदान करती हैं। व्यवहारवादी आगे कहता है कि कर्म करने की ये प्रवृत्तियां व्यवहार में आते समय सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर रूप बदलती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों में जो परिवर्तन होते हैं, वे सर्वाधिक महत्व के हैं। उन्हीं में शब्द के सर्वाधिक व्यापक अर्थ में शिक्षा (सीख) निहित होती है। किन्तु सभी परिवर्तन समान महत्व के नहीं होते और यह सुधारक का कार्य है कि वह उन परिस्थितियों तथा संस्थाओं का सफाया करे, जो समाज के अहित में प्रवृत्तियों का परिवर्तन करती हैं और उन प्रवृत्तियों की रक्षा तथा स्थापना करे, जो लोकहित में उनका परिवर्तन करती है। जो भी हो, इस बात का भारी सामाजिक महत्व है कि ये प्रवृत्तियां असीम परिवर्तन कर सकती हैं। श्री रसल के अनुसार, यह केवल इसलिए संभव है, 'मानव के आवेग प्रारंभ से ही उनकी मूल प्रवृत्तियों द्वारा निश्चित नहीं किए जाते हैं। एक निश्चित सीमा के भीतर उसकी परिस्थितियां तथा उसकी जीवन-शैली उनमें भारी परिवर्तन करती हैं। इन परिवर्तनों की प्रकृति का अध्ययन किया जाए और जब राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं से होने वाले हित अथवा अहित का अंकन किया जाए तो अध्ययन के परिणामों को ध्यान में रखा जाए।[5]

छह ज्ञानवर्धक अध्यायों में में रसल ने उन परिवर्तनों का अध्ययन किया है, जो राज्य, युद्ध, संपत्ति, शिक्षा, विवाह तथा धर्म के प्रभाव से मानव-प्रकृति में हुए हैं। इनमें से प्रत्येक अध्याय का सारांश प्रस्तुत करके श्री रसल के सामाजिक दर्शन का समुचित दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। अनेक संबद्ध विषयों के साहित्य में उनका सजीव योगदान है। वे सुझावों से संपन्न हैं। वे विचारोत्तेजक हैं। अतः मूल पाठ से ही पढ़ा जाना चाहिए। जहां तक समीक्षा का संबंध है, हो सकता है कि यह परंपरा के विरुद्ध हो, लेकिन इस दृष्टि से यह उचित है कि यह समीक्षा एक आर्थिक पत्रिका के लिए है। उसके लिए केवल इतना आवश्यक है कि हम संपत्ति की संस्था तथा श्री रसल द्वारा बताए गए मानव-प्रकृति के परिवर्तनों का विश्लेषण करें।

लेकिन इससे पूर्व कि हम यह विश्लेषण करें, यह उचित होगा कि हम इस बारे में विचार कर लें कि श्री रसल के अनुसार किस प्रकार युद्ध का दर्शन प्रगति के सिद्धांतों से जुड़ा हुआ है।

---

5. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 19

सर्वप्रथम यह बताना ही पड़ेगा कि चूंकि उनकी पुस्तक में युद्ध का विरोध किया गया है, अतः जो लोग उनकी कृति में निष्क्रियतावादी दर्शन की आशा करते हैं, वे पूर्णतः गलत हैं। उसका कारण है। भले ही श्री रसल युद्ध के उन्मूलन के लिए चिंतातुर हैं, पर वह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, 'युद्ध को जन्म देने वाले आवेगों ने जो तबाही की है, उसके बावजूद इन आवेगों वाले राष्ट्र से अधिक आशा की जा सकती है, बजाए उस राष्ट्र के जिसमें ये आवेग हों ही नहीं। आवेग जीवन का लक्षण है और जहां यह लक्षण होता है, वहां आशा की जा सकती है कि वह मृत्यु की बजाए जीवन की ओर मुड़ेगा। लेकिन आवेग का अभाव मृत्यु है और मृत्यु में से कोई नवजीवन कहां से आएगा।'[6] वह स्वीकार करते हैं, 'जो आवेग आज राष्ट्रों को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं, वे स्वमेव किसी भी सशक्त अथवा प्रगतिशील जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं। जिस समाज में जोखिम के प्रति अनुरक्ति नहीं होती, वह जड़ हो जाता है और उसका "ास होने लगता है। संघर्ष यदि विनाशकारी तथा बर्बरतापूर्ण न हो तो आवश्यक होता है। तभी मानव की गतिविधियों में तेजी आती है और वह मृतप्रायः तथा कोरी परंपरा के चुंगल से निकलने में सफल हो पाता है। अपने ध्येय की पूर्ति की चाह, मानवों की वृहत् संस्थाओं से एकजुट होने की संभावना, ऐसी भावनाएं हैं जिन्हें कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति नष्ट नहीं होने देगा। बुराई केवल उसी बात में है, जिसके कारण मर्मांतक मौत, मारकाट और मनोमालिन्य हो। समस्या यह है कि इन आवेगों को इस प्रकार सहज व समेटकर रखा जाए कि वे उक्त बुराई का साधन न बनें।'[7]

इस सबका सार यह है कि उन्नति के लिए उद्यम अनिवार्य है। यदि आगे बढ़ना है तो हाथ-पैर हिलाने ही पड़ेंगे। इस बात पर बल देना होगा कि श्री रसल युद्ध का तो विरोध करते हैं, पर वह निष्क्रियतावाद के भी पक्षधर नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार पुरुषार्थ प्रगति की ओर ले जाता है और निष्क्रियता मृत्यु की ओर। प्रोफेसर डेवी के शब्दों में वह केवल हिंसा के रूप में बल प्रयोग का विरोध करते हैं, पर ऊर्जा के रूप में बल प्रयोग का वह पूर्ण समर्थन करते हैं। जो लोग बल प्रयोग का विरोध करते हैं, उन्हें यह याद रखना ही पड़ेगा कि बल प्रयोग के बिना सभी आर्दश उसी प्रकार कोरे आदर्श रह जाएंगे, जिस प्रकार किसी सचेत अथवा अचेत आदर्श अथवा प्रयोजन के बिना संपूर्ण पुरुषार्थ केवल वज्रमूर्खता ही होगी। अतः साध्य तथा साधन (संचालन-शक्ति) काया और छाया की भांति एक-दूसरे से जुड़े हैं। साध्य साधन का औचित्य सिद्ध करता है, इस लोकोक्ति में एक ऐसा अति गहन सत्य निहित है, जिसे केवल इसलिए विकृत किया जाता है कि उसे गलत समझा जाता है। यदि साध्य साधन का औचित्य सिद्ध नहीं करेगा तो और कौन करेगा? कठिनाई यह है कि किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए एक बार जिन साधनों का हम प्रयोग करते हैं, उनके संचालन पर हम पर्याप्त नियंत्रण नहीं रख पाते। कारण यह है कि एक बार जब हम किन्हीं

---

6. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 21

7. वही, पृ. 93

साधनों का प्रयोग करते हैं तो वे उनके साध्यों का प्रस्फुटन करते हैं। केवल हमारे मनचाहे साध्य का प्रस्फुटन नहीं होता। इस तथ्य को हम कभी-कभार ही स्वीकार करते हैं। किंतु साध्य सिद्धि के अपने उन्माद में हम अपने मनचाहे साध्य को ही रेखांकित करते हैं और इन अन्य साध्यों की ओर ध्यान नहीं देते, जो उसके साथ-साथ प्रस्फुटित होते हैं। निश्चय ही व्यवहार-प्रधान जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं के लिए किसी एक साध्य को सर्वोपरि महत्व देना ही होगा, पर ऐसा करते समय हमें यह सावधानी बरतनी पड़ेगी कि अन्य साध्यों की बलि न चढ़ाई जाए। अतः समस्या यह है कि किसी चीज की प्राप्ति के लिए यदि हमें बल प्रयोग करना ही हो, तो हमें देखना होगा कि किसी साध्य के लिए प्रयास करते-करते हम उन अन्य साध्यों को नष्ट कर दें, जिन्हें बनाए रखना उतना ही आवश्यक है। वर्तमान युद्ध पर इसे लागू करते समय मेरा विचार है कि बल प्रयोग का औचित्य सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल विनाशकारी हिंसा का औचित्य सिद्ध करने की है। औचित्य ऐसा होना ही चाहिए कि संसार संतुष्ट हो जाए कि किसी एक अथवा दूसरे पक्ष ने जिन साध्यों को प्रमखता प्रदान की है, वे हिंसा के अलावा किसी अन्य साधन से प्राप्त नहीं किए जा सकते थे। अर्थात् संसार की स्थिरता के लिए उतने ही आवश्यक अन्य साधनों की बलि नहीं दी गई है। काफी हद तक यह सच है कि सदा-सर्वदा हिंसा को नहीं टाला जा सकता और अप्रतिरोध को तभी अपनाया जा सकता, है जब वह प्रतिरोध का कोई बेहतर तरीका हो। लेकिन बल प्रयोग पर बुद्धिमत्तापूर्ण अंकुश रखने का दायित्व हम सभी पर है। संक्षेप में, बात यह है कि किसी चीज की प्राप्ति के लिए हमें बल प्रयोग करना ही पड़ेगा। केवल देखना यह होगा कि हम ऊर्जा के रूप में उसका रचनात्मक उपयोग करें, न कि हिंसा के रूप में विनाशकारी दुरुपयोग।

जिस रूप में प्रगति के सिद्धांत युद्ध के दर्शन से जुड़े हैं, उस रूप में उसकी चर्चा के विस्तार के औचित्य को, यदि जरूरी हो तो, प्रतीमान दोष को कम करने वाली एक से अधिक परिस्थितियों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। वर्तमान यूरोपीय युद्ध के कारण बल प्रयोग के दर्शन की काफी तथा अनर्गल निंदा हुई है। उसके फलस्वरूप निष्क्रियतावाद (शांतिवाद) तथा अप्रतिरोध सिद्धांत उभरकर सामने आया है। यह एक तथ्य है कि श्री रसल की पुस्तक में युद्ध का विरोध किया गया है और उसके लेखक को छह माह की जेल की सजा भुगतनी पड़ी थी। उसका कारण यह नहीं था कि उसने समीक्षाधीन पुस्तक की रचना की थी, बल्कि यह था कि उसे शांतिवादी सनकी ठहराया गया था। इस तथ्य का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह युद्ध की विभीषिका की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में अनेक लोगों के मन में उपजी तथा प्रच्छन्न रूप से बैठी निष्क्रियता की इच्छा को बल प्रदान करती है। अतः यह जरूरी है कि यह जाना जाए कि बल प्रयोग की निंदा में श्री रसल की कितनी भागीदारी है। औचित्य सिद्ध करने वाली एक अन्य परिस्थिति यह है कि रसल के प्रति भारतीय पाठकों के मानस में पूर्वग्रह है। यह अनुभव करना होगा कि बल

प्रयोग के दर्शन के स्थान पर जिस दर्शन को बिठाए जाने की दलील दी जाती है, वह सारतः एवं अनिवार्यतः पूरब का दर्शन है, या स्पष्टतः कहा जाए तो भारतीय दर्शन है।

अतः यह और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि भारत के पाठकों के सम्मुख श्री रसल की छवि उनके दृष्टिकोण की सही व्याख्या के साथ प्रस्तुत की जाए। इन पाठकों के मन में शांतिमय जीवन की स्वजनति इच्छा है। अप्रतिरोध के सिद्धांत के प्रति उनका दार्शनिक झुकाव है। मेरा विचार है कि यदि उन्हें सचेत न किया गया तो वे जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण के औचित्य को श्री रसल की रचनाओं में खोजने लगेंगे।

जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण क्या व्यवहार योग्य दृष्टिकोण है? ईसाईयत के बारे में नीत्शे ने अपनी सनक में कहा है कि केवल एक ही ईसाई था और उसे क्रास पर टांग दिया गया था। उसका आशय यह है कि जीवन के प्रति मसीही दृष्टिकोण व्यावहारिक नहीं है। यह टिप्पणी यदि ईसाईयत के बारे में खरी है तो वह जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के बारे में बहुत कुछ खरी होनी चाहिए। भले ही प्रदेश की दृष्टि से 'ईसाईयत' पश्चिम की है, पर जहां तक उसके उद्‌गम तथा सारतत्व का संबंध है, वह सारतः पूरब की है। भले ही इतना कटु न हो, पर उपरोक्त जैसा ही निंदात्मक दृष्टिकोण श्री रसल का निष्क्रियतावाद के दर्शन के बारे में है। लेकिन खेद का विषय है कि भारतीय इस दृष्टिकोण से चिपके हुए हैं। उन्होंने कभी सोचा व समझा ही नहीं कि सिद्धांत रूप में वह संभव नहीं है। न ही उन्होंने देश में हुए अनेक उतार-चढ़ावों की ओर ध्यान दिया। इसके विपरीत आजकल भारतीय राष्ट्रवाद का बोलबाला है। अति खेद का विषय है कि वह इस प्रकार से सब भारतीय वस्तु का औचित्य सिद्ध करता है। हो सकता है कि ऐसे वातावरण में इसा दृष्टिकोण को मान्यता दी जाए और वह चलता रहे। ध्यान दें कि पूर्व तथा पश्चिम के बीच घोर विरोधाभास हैं, भले ही युद्ध के कारण वे कुछ मंद हो गए हों, फिर भी पूरब सदा ही आतुर रहता है कि वह अपनी आवश्यकता के तुष्टिकरण में इस विरोधाभास को प्रमुखता दे कि वह युद्ध और विनाश को जन्म देने वाले पश्चिम के अति भौतिकतावाद से मुक्त है। लेकिन पश्चिम पर ऐसे क्रूर विरोधाभास के आरोपण का कोई औचित्य नहीं है। पूरब बड़े मजे से यह भूल जाता है कि भौतिकवादी तो हम सभी हैं। स्वयं पूरब की इसका अपवाद नहीं है। जहां तक युद्ध का संबंध है, संभवतः पश्चिम को दोषी ठहराया जा सकता है। लेकिन पश्चिम भी पलटकर गुर्राकर कह सकता है, 'अकर्मण्य तो मृत जैसा होता है। कर्मठता जीवन है। युद्ध जैसी उग्रता के साथ कर्म करना कहीं बेहतर है, बजाए इसके कि निठल्लों की भांति हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाएं; जब हम कर्म करेंगे, केवल तभी हम सुचारु रूप से कर्म करने की आशा कर सकते हैं।' इस प्रकार भले ही अचरज की बात लगे, शांतिवादी श्री रसल युद्ध को भी कर्मठता का लक्षण और उसे व्यक्ति की प्रगति का साधन मानते हैं, पर केवल इस कारण उसकी निंदा करते हैं कि वह मौत और तबाही का साधन बनता है। वह युद्ध के सौम्य रूपों का स्वागत करना चाहेंगे, क्योंकि उनके अनुसार, 'हां, व्यक्ति किसी न किसी प्रकार की होड़

करना चाहता है, प्रतिरोध पर विजय की कोई भावना उसमें होती है, ताकि वह अनुभव कर सके कि वह अपने गुणों का उपयोग कर रहा है।'[8] या यूं कहिए कि वह अनुभव करना चाहता है कि वह प्रगति कर रहा है।

जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के पक्ष में जो अनेक तर्क किए जाते हैं, उनमें से एक यह है कि मुख्यतः यह उसके ही प्रभाव का प्रताप है कि सभी प्राचीनतम देशों में से केवल भारत का ही अस्तित्व आज तक बना व बचा रहा है। यह कथन प्रायः ऐसे लोगों के श्रीमुख से भी सुना जाता है, जिनके मत को सहजता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस कथन की प्रमाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के पचड़े में मैं नहीं पड़ना चाहता। अस्तित्व में बने रहने की बात को मानते हुए मैं एक और महत्वपूर्ण बात कहना चाहता हूं। वह यह है कि अस्तित्व में बने रहने के अनेक तरीके हैं और उन सभी की समान रूप से प्रशंसा नहीं की जा सकती। यथा, अवसर को देखते हुए रणक्षेत्र में पीछे हटने से संभव है कि कमजोर श्रेणी के लोगों को जीवित रहने का मौका मिल जाए। हो सकता है कि नत होने या घुटने टेकने की क्षमता भी स्थिति का डटकर मुकाबला करने की भांति ही किन्हीं लोगों के जीवित रहने का शर्त बन जाए। अतः सामान्य धारणा की भांति यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यदि युग-युग से किन्हीं लोगों का अस्तित्व चला आ रहा है, तो वे युग-युग से फल-फूल और सुधर रहे हैं। महत्व अस्तित्व में बने रहने का नहीं है, बल्कि अस्तित्व की गुणवत्ता और उसके स्तर का है। यदि श्री रसल की रचनाओं के भारतीय पाठक अपने अस्तित्व के स्तर पर दृष्टि डालें और केवल अस्तित्व में ही बने रहने से संतुष्ट न हो जाएं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि उन्हें निश्चित रूप से अपने जीवन मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता दीख पड़ेगी।

यह तो हुई युद्ध के दर्शन के बारे में श्री रसल के दृष्टिकोण की चर्चा। आइए अब हम संपत्ति के प्रभावों के बारे में उनके विश्लेषण पर विचार करें। श्री रसल अपनी समीक्षा के दौरान समाज के विभिन्न वर्तमान आर्थिक संगठनों, उनसे प्रस्तुत सामाजिक बुराइयों और उन्हें दूर करने के उपायों का उल्लेख करते हैं। प्रस्तुत है, उन्हीं के शब्दों में उनकी आलोचना का सार :

> वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों की जड़ उपभोक्ता, उत्पादक तथा पूंजीपति के अनेक हितों के बीच का अलगाव है। इन तीनों में से प्रत्येक का न तो समुदाय के रूप में अथवा किसी एक का अन्य दो के साथ कोई समान हित है। सहकारी व्यवस्था उपभोक्ता और पूंजीपति के हितों का समन्वय करती है; संघाधिपत्यवाद (सिंडीकैलिज्म) उत्पादक तथा पूंजीपति के हितों का समन्वय करेगा। कोई भी तीनों के हितों का समन्वय नहीं करता अथवा उद्योग-संचालकों के हितों का तादात्मय समुदाय के हितों के साथ नहीं करता। अतः उनमें से कोई भी औद्योगिक संघर्ष का पूर्ण निवारण नहीं कर सकता अथवा मध्यस्थ के रूप में राज्य की आवश्यकता

8. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 96

को नहीं टाल सकता। लेकिन उनमें से कोई भी वर्तमान व्यवस्था से बेहतर होगा और संभवतः दोनों का मिश्रण वर्तमान उद्योगवाद की अधिकांश बुराइयों को दूर कर सकेगा। कैसी अचरज की बात है। जहां पुरुष एवं महिलाओं ने राजनीतिक लोकतंत्र प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया है, पर उद्योग में लोकतंत्र लाने के लिए कुछ भी नहीं किया है। मेरे विचार में औद्योगिक लोकतंत्र के अपार लाभ हो सकते हैं, यदि या तो सहकारी आदर्श को अपना लिया जाए अथवा प्रशासन के प्रयोजन के लिए किसी व्यापार अथवा उद्योग को इकाई के रूप में मान्यता दे दी जाए और किसी प्रकार का वैसा 'स्वशासन' प्रदान किया जाए, जैसा कि संघाधिपत्यवाद (सिंडीकैलिज्म) प्राप्त करना चाहता है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि सभी 'प्रशासनिक' इकाइयां भौगोलिक इकाइयां हों। यह व्यवस्था पहले जरूरी नहीं है। यदि ऐसी कोई व्यवस्था हो जाए तो अनेक लोग अपने धंधों पर पुनः गर्व करने लगेंगे और एक बार फिर उस सृजनात्मक आवेग के लिए मार्ग खुल जाएगा, जो आज चंद सौभाग्यशाली लोगों को छोड़कर शेष सभी के लिए बंद है। ऐसी व्यवस्था की अपेक्षा है कि भूस्वामी समाप्त हों और पूंजीपति पर अंकुश लगे, लेकिन वह अर्जन की समानता नहीं चाहती। और 'समाजवाद' की भांति वह कोई जड़ अथवा अंतिम व्यवस्था नहीं है। वह तो एक प्रकार से शक्ति तथा पहलकदमी के लिए ढांचा मात्र है। मेरा विचार है कि किसी ऐसे ही उपाय से व्यक्ति की अबाध प्रगति का तालमेल उन विशाल तकनीकी संगठनों से किया जा सकता है, जिन्हें उद्योगवाद ने आवश्यक बना दिया है।[9]

औद्योगिक व्यवस्था के बारे में प्रायः यह आलोचना की जाती है कि वह खंडों में बंटे नैतिक आचरण को बढ़ावा देती है, वह व्यक्तित्व को बौना तथा श्रमिकों को दास बनाती है। ऐसा कोई अंजाम न निकले, इसके लिए श्री रसल आर्थिक संस्थाओं के सामाजिक प्रभावों के बारे में सतर्कता की भावना, दृष्टिकोण की व्यापकता तथा दार्शनिक पकड़ प्रस्तुत करते हैं। मेरी इच्छा है कि काश! संपत्ति के मानसिक प्रभावों के उनके विश्लेषण के बारे में भी वैसा ही कहा जा सकता। लेकिन संपत्ति के इस पक्ष से संबंधित उनकी चर्चा में कतिपय प्रत्यक्ष मिथ्या धारणाएं पाई जाती हैं। उन्हें उजागर करना जरूरी है।

पहली मिथ्या धारणा 'धन-लोलुपता' संबंधी कथन के दामन में लिपटी हुई है। इसमें कहा गया है, 'उसके जाल में फंसकर मानव सफलता संबंधी मिथ्या धारणा गढ़ लेता है और अपने उद्योगों का गुणगान करने लगता है, जो मानव-कल्याण में रत्तीभर भी सहयोग नहीं देते। वह स्वभाव तथा प्रयोजन की एक निष्प्राण एकरूपता को बढ़ावा देती है। वह जीवन के उल्लास का ्रास करती है। वह ऐसा तनाव व दबाव पैदा करती है कि पूरा का पूरा समाज शिथिल, हतोत्साहित तथा भ्रमित हो जाता है।[10]

---

9. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन पृ. 141-42
10. वही, पृ. 113

इस मनोभाव से पुरातनता की बू आती है और इसे कभी संभवतः औचित्य के साथ जीवन के मूल दर्शन की घुट्टी के रूप में पिलाया जाता था।[11]

जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है, उससे कहीं अधिक घनिष्ठता के साथ किसी समाज के आर्थिक जीवन और दार्शनिक दृष्टिकोण आपस में जुड़े हैं और यदि उसके ऊपर से उसकी अतिशयोक्तियों का छिलका उतार दिया जाए तो इतिहास की आर्थिक व्याख्या सत्य सिद्ध होगी। 'धन-लोलुपता' के विरुद्ध नैतिकतावादियों की यह चिर-प्रचलित शिकायत सांसारिक वस्तुओं के विरुद्ध उनकी आम शिकायत का ही एक हिस्सा है। वह इस विश्वास विशेष को पुष्ट करने वाली आर्थिक परिस्थितियों में अपना औचित्य खोजती है। यदि इसे ध्यान में रखा जाए तो आसानी से समझ में आ जाएगा कि किस कारण से 'विपन्नों' का खट्टे अंगूरों का दर्शन सभी विश्वासों में से अति उदार लगता है और किस कारण से वह उन चीजों के हमारे मूल्यों के ऊपर अधिकांशतः मंडराता रहता है, जिन्हें हम अपने भरपूर प्रयास के बावजूद प्राप्त कर पाते हैं अथवा प्राप्त नहीं कर सकते। जब हम किसी चीज को प्राप्त नहीं कर सकते तो तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वह प्राप्त करने योग्य नहीं है। अतः सांसारिक वस्तुओं के प्रति 'संपन्नों' तथा 'विपन्नों' के दृष्टिकोणों के बीच वैसा ही खरा अंतर है, जैसा कि निराश तथा सफल लोगों की आस्थाओं के बीच है। प्रत्येक अपनी गहन तथा सनातन नैतिकता के प्रति निष्ठा के अनुसार अपनी हर करनी के लिए उसमें औचित्य खोजता है और अपने दृष्टिकोण को आदर्श से विभूषित करता है। एक समय था, जब समूचा संसार 'पीड़ादायी अर्थव्यवस्था' की चक्की में पिस रहा था और अति प्राचीन-काल में ऐसा ही होता था, जब मानव-श्रम की उत्पादकता अति अल्प थी और कोई भी प्रयास उसके प्रतिफल में वृद्धि नहीं कर सकता था। संक्षेप में, जब समूचा संसार गरीबी के साए में जी रहा था, तब नैतिकतावादी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह गरीबी का उपदेश झाड़े तथा सांसारिक वस्तुओं के त्याग का राग केवल इस कारण अलापे कि उन्हें प्राप्त नहीं किया जाता था। 'पीड़ादायी अर्थव्यवस्था' वाले समाज का विचार यह होता है कि जिस चीज को प्राप्त नहीं किया जा सकता वह बुरी ही होगी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आडंबरपूर्ण दिखावटी उपयोग का आदी आनंददायी अर्थव्यवस्था' वाला समाज सोचता है कि जो चीज सस्ती होगी, वह घटिया ही होगी। श्री रसल द्वारा धन-लोलुपता की बुराइयों की पुनरावृत्ति उसके ऐतिहासिक मूल्य को कोई दार्शनिक महत्व भी प्रदान नहीं करती है। यह मिथ्या धारणा इस कारण उपजी है कि वह धन-लोलुपता की आलोचना तो करते हैं, पर उसके प्रयोजन की छानबीन नहीं करते। मेरा आग्रह है कि स्वस्थ मानस में अमूर्त रूप में धन-लोलुपता जैसी कोई चीज होती ही नहीं। धन-लोलुपता सदैव 'किसी चीज' के लिए होती है और 'उस चीज' में निहित प्रयोजन ही उसे यश अथवा

---

11. देखिए, जेम्स बोनार की पुस्तक फिलासुी इन इट्स रिलेशन टू पोलिटिकल इकोनोमी, विशेषतः एचिलेलोरिया की पुस्तक इकोनोमिक फाउंडेशन्स ऑफ सोसायटी।

अपयश का भागी बनाता है। यदि इसे ध्यान में रखा जाए तो व्यक्तियों के बीच 'स्वभाव की कोई निष्प्राण एकरूपता' नहीं हो सकती, क्योंकि भले ही वे धन-लोलुपता से प्रेरित हों, पर विभिन्न अवसरों पर उनके प्रयोजन भी भिन्न हो सकते हैं। अतः धन-लोलुपता का ध्येय भी विभिन्न रूप धारण कर सकता है।

यदि हमारे जीवन के उत्पादन-पक्ष की दृष्टि से श्री रसल का विनिबंध ढुलमुल है, तो उपयोग पक्ष की दृष्टि से तो वह एकदम धराशायी हो जाता है। यदि वास्तव में यह सिद्ध करना है कि किसी एक व्यक्ति की भूख को शांत करने से मानव-स्वभाव स्वयं को ही विकृत कर लेता है, तो हमें अपने समर्थन का आधार जीवन के उपयोग पक्ष में खोजना होगा, न कि उत्पादन पक्ष में। उपभोग के नियमों[12] को कौन नहीं जानता? क्या उनमें ऐसी विकृति की कोई संभावना है? हम देखेंगे कि उत्तर 'ना' में होगा।

ध्यान दें कि उपभोग के नियम केवल वे कतिपय निष्कर्ष हैं, जो मूल्य के उपयोगिता सिद्धांत के आर्थिक पक्ष से निकाले गए हैं। कुर्नोट, गौसेन, वालरेस मेंगर तथा जेवन्स के शास्त्रीय सिद्धांत की प्रतिक्रिया में निर्धारित यह सिद्धांत अब उपयोगिता को लक्षित वस्तु या स्थिति में निहित गुणवत्ता नहीं मानता, अपितु कहता है कि उसका आधार तो वह क्षमता है, जो मानव की इच्छाओं को तृप्त करती है। यदि ऐसा है तो किसी वस्तु की उपयोगिता तृप्ति की चाह रखने वाली इन्द्रियों की बदलती हुई स्थिति के अनुसार बदलती रहती है। यथा, भोजन हमारी सर्वाधिक प्रिय वस्तु है। वह भी हमारे लिए रुचि अथवा अरुचि का विषय हो सकती है। यदि हम भूखे होंगे तो रुचि होगी, यदि पेट जरूरत से ज्यादा भरा हो तो अरुचि होगी। अतः जैसे-जैसे तृप्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उपयोगिता घटती जाती है। या यूं कहिए कि तृप्ति से किसी इन्द्रिय विशेष या उनके समूह को आनंद अथवा रस मिलता है। अतः इन्द्रिय को तृप्ति प्रदान करने वाली वस्तु से इन्द्रिय के नाते को जताने वाली रेखा इन्द्रिय की दशा के अनुसार विपरीत दिशा में बदलने लगती है।

यदि इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के निहित अर्थों पर श्री रसल से सावधानी से विचार किया होता, तो वह निश्चय ही विचाराधीन मिथ्या धारणा के शिकार न होते। मनौवैज्ञानिक विश्लेषण वास्तव में है क्या? किस कारण किसी वस्तु की उपयोगिता शून्य अथवा नकारात्मक होने लगती है? ऐसा तब होता है, जब या तो (1) तृप्ति की प्रक्रिया में किसी बिन्दु पर इन्द्रिय विशेष अपनी मनचाही वस्तु को खाते-खाते अघाकर खीज उठती है और उससे किसी प्रकार की तृप्ति लेना बंद कर देती है, अथवा (2) एक अलग प्रकार की तृप्ति की चाह रखने वाली अन्य इन्द्रियां इस बात का हड़ताल का खड़ताल बजाने लगती हैं। कि किसी इन्द्रिय विशेष ने उनके पेट पर लात मारकर गुलछर्रे उड़ाए हैं। दूसरे दृष्टिकोण को उचित ठहराते हुए प्रो. गिडिंग्ज कहते हैं, 'यदि किसी इन्द्रिय विशेष या इन्द्रिय समूह के चावों को पर्याप्त तृप्ति के साथ दिल खोलकर पूरा किया जाता है, तो उपेक्षित इन्द्रियां हड़ताल कर देती हैं, और

12. उनकी बढ़िया चर्चा के लिए देखिए, प्रो. एस. एन. पैटन की पुस्तक ए थ्योरी ऑफ कंजम्पशन।

प्रायः वह आग्रह इतना हठपूर्ण होता है कि हम विवश होकर उनकी तुष्टि के लिए प्रयास करने लगते हैं। हमारे प्रकृति की उपेक्षित इन्द्रियों की यह भूख सामान्यतः हमारी चेतना पर छा जाती है और हमारे ध्यान तथा प्रयासों को उस अवयव से विमुख कर देती है, जो अपने भोग के उचित अंश से अधिक को प्राप्त कर रही है।'[13] जो दो वैकल्पिक स्पष्टीकरण दिए गए हैं, उनमें से संभवतः श्री गिडिंग्ज का स्पष्टीकरण अधिक सही है।

व्यवहारवादियों की परिकल्पना है कि समूचा इन्द्रिय तंत्र एक चेतन इकाई है। उसे ध्यान में रखते हुए मान लेना उचित है कि समूचे इन्द्रिय तंत्र की यह भूख होती है कि वह अपनी प्रत्येक इन्द्रिय के लिए समुचित और विविध प्रकार की तृप्ति चाहता है और वह उक्त प्रकार के प्रतिशोध को जन्म देगी। यही वह प्रतिरोध है, जो उपभोग की विविधता नामक नियम को मानने के लिए हमें विवश करता है। यदि यह एक तथ्य है तो फिर यह समझ पाना सरल नहीं है कि कैसे कोई एक इन्द्रिय शाश्वत चौधराहट से समूचे इन्द्रिय तंत्र को विकृत कर सकती है। इसका दूसरा पक्ष भी है। भले ही एक बार में एक ही इच्छा की पूर्ति हो, पर बारी-बारी से सभी इच्छाओं की पूर्ति होगी। अतः सौभाग्य से मानव प्रकृति का ताना-बाना ही ऐसा है कि वह एकांगी विकास का विरोध करती है और उसके इस वायदे के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता है कि वह अनुकूल पर्यावरण में सर्वांगीण विकास करेगी। वह विविध प्रकार की अपनी मनचाही भोजन-सामग्री को, चाहे बौद्धिक हो या आध्यात्मिक, प्राप्त कर सकेगी या नहीं, यह एक ऐसा मामला है जिस पर उसका कोई वश नहीं। यदि भोजन की विविधता के प्रभाव में वह विकृति हो जाती है तो वह समाज की भूल होगी, उसकी अपनी नहीं।

श्री रसल का एक अन्य आरोप है कि संपत्ति परिग्रह वृत्ति का साकार रूप है और वह युद्ध को जन्म देती है। हम श्री रसल से सहमत हो सकते हैं, पर यह भी कह सकते हैं कि संपत्ति के प्रभावों को फ्रेड्रिक नीत्शे ने श्री रसल की अपेक्षा कहीं बेहतर ढंग से निरखा-परखा था। इस प्रभाव का स्तर एक कथा में आ जाता है। थूसीडाइडस ने कहीं इसका जिक्र किया है। कथा इस प्रकार हैः एक किसान था। फसल काटने के बाद वह उस ढेर के पास बैठकर सोच रहा था कि वह उसे मंडी में बेचेगा तो उसे कितना लाभ होगा। वह अपने कल्पना-लोक में डूबा हुआ था कि अचानक एक डाकू वहां आ धमका। उसका स्वप्न भंग हो गया और रंचमात्र भी प्रतिशोध न करते हुए वह तुरंत अपने ढेर के बंटवारे के लिए राजी हो गया। वह कहने लगा, प्रभु, तेरी बड़ी कृपा है, तूने मुझे बचा लिया, केवल आधे भाग का ही नुकसान हुआ। उक्त बात चाहे केवल कथ्य हो या पूरा तथ्य, इसमें सत्य का ऐसा सार है जो सदा ही अनुभव नहीं किया जाता। काल के प्रवाह में मानव की उग्र प्रकृति, उसके लाभार्जन उसे किस हद तक नियंत्रित करते हैं, उसे माप व नापा नहीं जा सकता। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि नियंत्रण होता है। नीत्शे को इसका पूर्ण ज्ञान था। अतः वह नहीं चाहते थे कि उनके 'प्रतिमानव' (सुपरमैन) के पास कोई संपत्ति

---

13. डेमोक्रेसी एंड एंपायर, पृ. 19

हो। उन्हें आशंका थी कि कहीं ऐसा न हो कि सौदेबाजी में अपने लाभार्जन को गंवाने के डर से हव (प्रतिमानव) उस विध्वंस का तांडव न करे, जो नीत्शे उससे कराना चाहते थे। अतः हम कह सकते हैं कि दोष संपत्ति का नहीं है, बल्कि विषय-वितरण का है। यथा, जिनके पास संपत्ति है ही नहीं, वे उसे पाने के लिए उन लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक विध्वंश करने के लिए तत्पर रहेंगे, जिनके पास संपत्ति है। आधुनिक युग का औद्योगिक विवाद इसका एक और उदाहरण है। उक्त टिप्पणियों को ध्यान में रखकर ही यह समझा जा सकता है कि हड़ताल के दौरान मालिकों की अपेक्षा मजदूर कहीं अधिक हिंसक हो जाते हैं। जहां जोखिम होगी, वहां ध्येय की धार कुंठित हो जाएगी और जहां जोखिम नहीं होगी, वहां उसकी धार पैनी हो जाएगी। अतः हो सकता है कि संपत्ति अनर्थकारी हो। फिर भी, ऐसा नहीं है कि उसमें भरपाई के गुण न हों।

यह उचित नहीं होगा कि हम चुपचाप एक सर्वाधिक बुनियादी धारणा की अनदेखी कर दें। यह धारणा श्री रसल के समूचे दृष्टिकोण में व्याप्त है। वह कहते हैं कि मानव के आवेगों तथा इच्छाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा सृजनात्मक वृत्ति वाली तथा परिग्रह वृत्ति वाली। हमारी कतिपय गतिविधियों का उद्देश्य होता है कि वे उस वस्तु का सृजन करें, जो अन्यथा विद्यमान नहीं है। अन्य का उद्देश्य होता है कि उस वस्तु का अर्जन करें या उसे बटोरें, जो पहले से विद्यमान है। सर्वोत्तम जीवन वह होता है, जिसमें सृजनात्मक आवेग अधिकतम तथा परिग्रही आवेग न्यूनतम भूमिका अदा करते हैं।[14] क्या आवेगों का विभाजन संभव है? क्या आवेग के उपयोग जैसी कोई बात होती है? इस चर्चा के दायरे में इस बड़े सवाल पर विचार नहीं किया जा सकता। मैं तो केवल एक प्रश्न करना चाहता हूं, क्योंकि मेरा विचार है कि किसी आवेग पर विशिष्टता का ठप्पा लगाकर श्री रसल अपनी स्थिति को निरापद नहीं बनाते। यदि कोई रोक न लगाई जाए तो हर आवेग कोई न कोई सृजनात्मक कार्य करेगा। सृजित वस्तु का कोई उपयोग होगा या नहीं, यह एक नितांत भिन्न बात है। आवेग या संवेग के कर्म से उसका क्या वास्ता! मेरा निवेदन है कि वह तो उत्पादन अथवा सृजन के तरीके पर निर्भर करेगा, उत्पादन चाहे व्यक्ति करे या समुदाय। वह तो उसके उपयोग के तरीके पर निर्भर करेगा, उपयोग चाहे व्यक्ति करे या समुदाय। जिस वस्तु को सामूहिक प्रयासों से तैयार किया जाता है, उसके उपयोग पर कोई भी व्यक्ति अधिकार नहीं बना सकता। पहली स्थिति के पक्ष में हम आदिवासियों के सामुदायिक या सामूहिक शिकार का उदाहरण दे सकते हैं। दूसरी स्थिति के पक्ष में पारविारिक स्थिति का उदाहरण संगत तथा सुखद होगा। बिना किसी भय अथवा चुनौती के कहा जा सकता है कि मेज पर परोसी गई चीजों अथवा घर की सजावट की चीजों पर निजी उपभोग का दावा कोई भी सदस्य कदापि नहीं करेगा। क्या सार्वजनिक स्मारकों पर एकाधिकार का दावा कोई भी व्यक्ति कभी करर सकेगा? वे चीजें

14. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रक्शन, पृ. 234

समूचे घर की होती हैं। लेकिन जहां तक किसी परिवार के सदस्य के कपड़ों का संबंध है हर सदस्य निश्चय ही उन पर अपने उपभोग का एकाधिकार जता सकता है। वे 'व्यक्ति' के होते हैं। अतः जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तो सवाल केवल उत्पादन और उपभोग का होता है, आवेग का नहीं। अतः सृजनात्मक वृत्ति तथा परिग्रह वृत्ति का स्तर अलग-अलग होता है। निश्चय ही सृजनात्मक वृत्ति के संवर्धन और परिग्रह वृत्ति के अल्पीकरण के तरीके भी अलग-अलग होंगे। एक का संवर्धन दूसरे का न्यूनीकरण करेगा ही, ऐसी कोई बात नहीं है।

इसके साथ ही हम श्री रसल की पुस्तक की समीक्षा को यहीं समाप्त करते हैं। इसमें ऐसी प्रचुर समाग्री है, जिसके आधार पर समाज के भावी पुनर्निर्माण की नींव रखी जा सकती है। श्री रसल ने सामाजिक जीवन के मनोवौज्ञानिक आधार पर विशेष बल दिया है। उसके लिए मेरी ओर से उन्हें शत-शत बधाइयां। सामाजिक पुनर्निर्माण तभी होगा, जब व्यक्ति और समाज के आपसी संबंध की सही जानकारी होगी। यह एक ऐसी समस्या है, जो अनेक समाजशास्त्रियों की पकड़ में नहीं आ सकती है। इस संबंध में श्री रसल की संकल्पना है कि जैसे व्यक्ति समाज से जुड़ा है, वैसे ही आवेग संस्था से जुड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि इससे सच्ची संकल्पना और कोई हो नहीं सकती। फिर भी, पुस्तक में जिन अन्य समस्याओं का विवेचन किया गया है, उन्हें समझने के लिए मैं साग्रह सिफारिश करूंगा कि पाठक मूल को अवश्य पढ़ें। मैंने तो केवल श्री रसल की सही स्थिति पर वहां प्रकाश डालने का प्रयास किया है, जहां मेरा विचार है कि उन्हें गलत समझा जा सकता है। मैंने तो केवल उन पाठकों को सचेत किया है, जो आलोचक नहीं हैं और ध्यान न देने के कारण वे कतिपय मिथ्या धारणाओं के शिकार हो सकते हैं। दोनों ही दशाओं में मैंने श्री रसल तथा उनके पाठकों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है।

अनुक्रमणिका

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
DR. AMBEDKAR FOUNDATION

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
MINISTRY OF SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA

☎ 23320571
23320589
23320576
FAX : 23320582

निदेशक
DIRECTOR

15, जनपथ,
15, JANPATH
नई दिल्ली - 110001
NEW DELHI-110001

दिनांक – 31.10.2019

रियायत नीति (Discount Policy)

सक्षम प्राधिकारी द्वारा यह निर्णय लिया गया है कि पहले के नियमों के अनुसार CWBA वॉल्यूम के संबंध में रियायत नीति (Discount Policy) जारी रखें। तदनुसार, CWBA इंग्लिश वॉल्यूम (डिलक्स संस्करण–हार्ड बाउंड) के एक पूर्ण सेट की कीमत और CWBA हिंदी वॉल्यूम (लोकप्रिय संस्करण–पेपर बाउंड) के एक पूरे सेट की कीमत निम्नानुसार होगी :

क्र.सं.	सीडब्ल्यूबीए सेट	रियायती मूल्य प्रति सेट
	अंग्रेजी सेट (डिलक्स संस्करण) (वॉल्यूम 1 से वॉल्यूम 17)– 20 पुस्तकें।	रू 2,250/–
	हिंदी सेट (लोकप्रिय संस्करण) (खंड 1 से खंड 40 तक)– 40 पुस्तकें।	रू 1073/–

2. एक से अधिक सेट के खरीदारों को सेट की मूल लागत (Original Rates) यानी रू 3,000/–(अंग्रेजी के लिए) और रू 1,430/–(हिंदी के लिए) पर छूट मिलेगी जो कि निम्नानुसार है।

क्र.सं.	विशेष	मूल लागत पर छूट का प्रतिशत
	रू 1000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	10%
	रू 1001–10,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	25%
	रू 10,001–50,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	33.3%
	रू 50,001–2,00,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	40%
	रू 2,00,000/– से ऊपर की पुस्तकों की खरीद पर	45%

3. इच्छुक खरीदार प्रतिष्ठान की वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in पर विवरण के लिए जा सकते हैं। संबंधित CWBA अधिकारी / पीआरओ को स्पष्टीकरण के लिए दूरभाष नंबर 011–23320588, पर कार्य दिवसों में पूर्वाह्न 11:30 बजे से शाम 5:30 बजे तक संपर्क किया जा सकता है।

(देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

ISBN (सेट) : 978-93-5109-149-3

रियायत नीति के अनुसार

सामान्य (पेपरबैक) खंड 01-40

के 1 सेट का मूल्य : ₹ 1073/-

ISBN 978-93-5109-151-6

9 789351 091516

प्रकाशक :

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय

भारत सरकार

15, जनपथ, नई दिल्ली – 110 001

फोन : 011–23320571

जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588

वेबसाइट : http://drambedkarwritings.gov.in

ईमेल : cwbadaf17@gmail.com